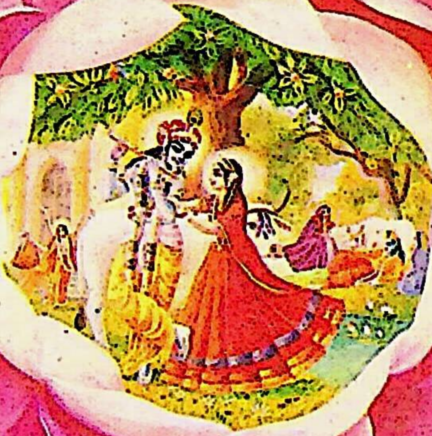
भक्तिरसामृतसिन्धु

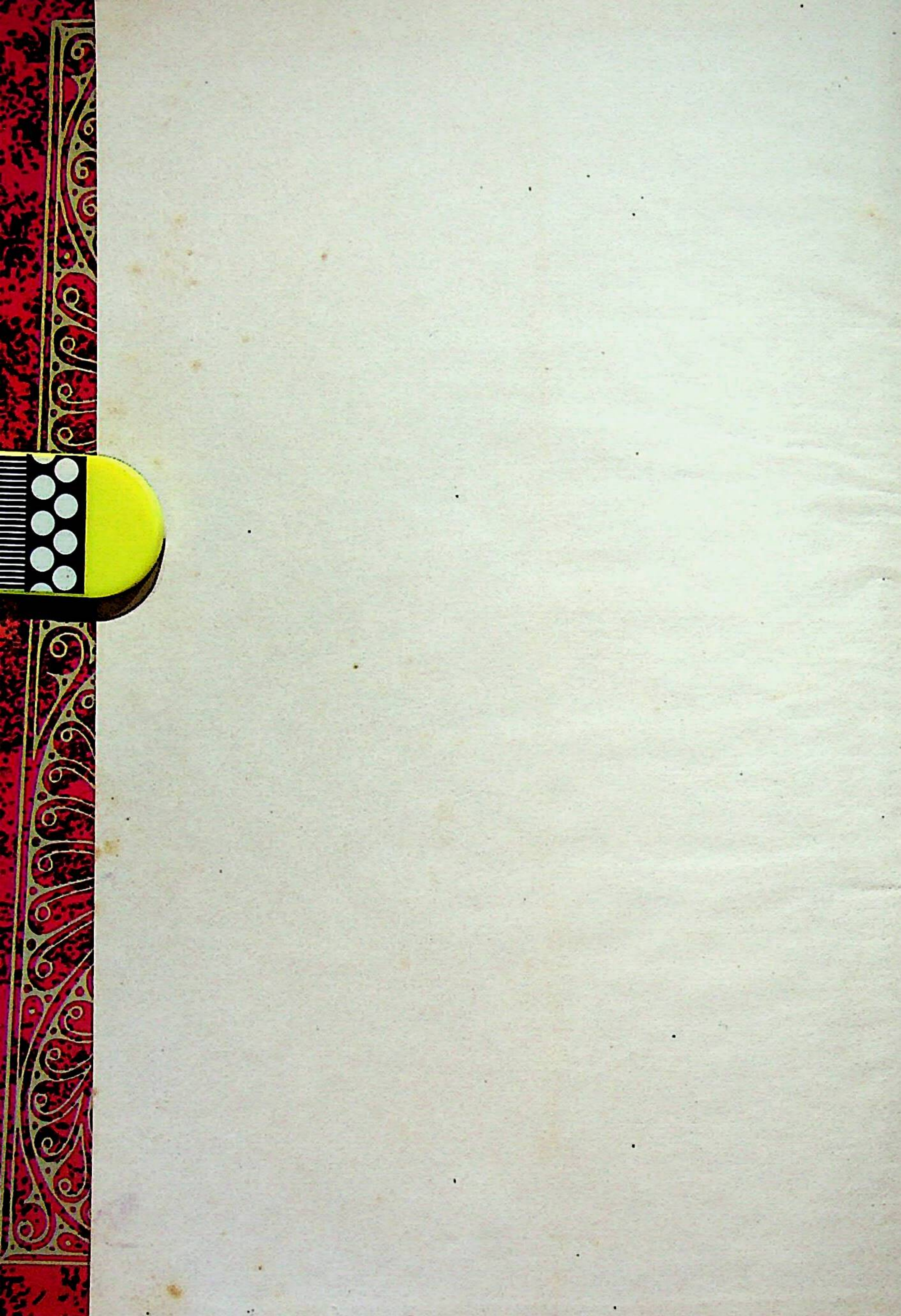


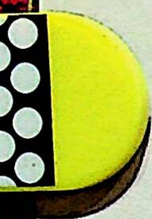
कृष्णकृपाश्रीमूर्ति

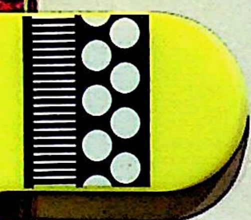
श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

संस्थापकाचार्य अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ









भक्तिरसामृतसिन्धु

कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्रीमद् भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद द्वारा विरचित वैदिक-ग्रन्थ-रत्न—

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता यथारूप
श्रीमद्‌भागवत स्कन्ध १-१० (५०-खण्ड)
श्रीचैतन्य चरितामृत (१७-खण्ड)
श्रीचैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत
भक्तिरसामृतसिन्धु
उपदेशामृत
श्री ईशोपनिषद्
अन्य लोकों की सुगम यात्रा
कृष्णभावना : परमयोग
भगवान् श्रीकृष्ण का लीलामृत (३-खण्ड)
पारमार्थिक प्रश्नोत्तर
वैदिक आलोक में पाश्चात्य दर्शन (२-खण्ड)
देवहूतिनन्दन भगवान् कपिल का शिक्षामृत
प्रह्लाद महाराज की भागवत-शिक्षा
रसराज श्रीकृष्ण
जीवन का स्रोत चेतन है
योग की पूर्णता
जन्म-मृत्यु से परे
श्रीकृष्ण की ओर
कृष्णभावना : अनुपम भेंट
गीतार गान (बंगाली)
राजविद्या
कृष्णभावना की प्राप्ति
भगवत्-दर्शन पत्रिका (संस्थापक)

अधिक जानकारी तथा सूचीपत्र के लिए लिखें :
अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ
हरे कृष्ण लैण्ड, गांधी ग्राम रोड, जुहू, बम्बई -४०० ०४९

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयत:

भक्तिरसामृतसिन्धु

श्रीरूप गोस्वामी द्वारा विरचित भक्तियोग का संपूर्ण विज्ञान

कलियुगपावन स्वभजन-विभजन प्रयोजनावतार
श्रीभगवत्कृष्णचैतन्यमहाप्रभोः परंपरायां दशम्
विश्वव्यापी श्रीहरेकृष्ण महामन्त्र प्रचारक प्रवर
कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्रीरूपानुगवर जगद्गुरु
ॐ विष्णुपाद परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य अष्टोत्तरशत
श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद
संस्थापकाचार्य
अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट
न्यूयार्क-लास एन्जीलीस-लण्डन-बम्बई

कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्रीमद् भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद द्वारा विरचित वैदिक-ग्रन्थ-रत्न —

श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप
श्रीमद्भागवत स्कन्ध १-१० (५०-खण्ड)
श्रीचैतन्य चरितामृत (१७-खण्ड)
श्रीचैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत
भक्तिरसामृतसिन्धु
उपदेशामृत
श्री ईशोपनिषद्
अन्य लोकों की सुगम यात्रा
कृष्णभावना : परमयोग
भगवान् श्रीकृष्ण का लीलामृत (३-खण्ड)
पारमार्थिक प्रश्नोत्तर
वैदिक आलोक में पाश्चात्य दर्शन (२-खण्ड)
देवहूतिनन्दन भगवान् कपिल का शिक्षामृत
प्रह्लाद महाराज की भागवत-शिक्षा
रसराज श्रीकृष्ण
जीवन का स्रोत चेतन है
योग की पूर्णता
जन्म-मृत्यु से परे
श्रीकृष्ण की ओर
कृष्णभावना : अनुपम भेंट
गीतार गान (बंगाली)
राजविद्या
कृष्णभावना की प्राप्ति
भगवत्-दर्शन पत्रिका (संस्थापक)

अधिक जानकारी तथा सूचीपत्र के लिए लिखे :

अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ

हरे कृष्ण लैण्ड, गांधी ग्राम रोड, जुहू, बम्बई –४०० ०४९

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भक्तिरसामृतसिन्धु

श्रीरूप गोस्वामी द्वारा विरचित भक्तियोग का संपूर्ण विज्ञान

कलियुगपावन स्वभजन-विभजन प्रयोजनावतार
श्रीभगवत्कृष्णचैतन्यमहाप्रभोः परंपरायां दशम्
विश्वव्यापी श्रीहरेकृष्ण महामन्त्र प्रचारक प्रवर
कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्रीरूपानुगवर जगद्गुरु
ॐ विष्णुपाद परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य अष्टोत्तरशत
श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद
संस्थापकाचार्य
अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

न्यूयार्क-लास एन्जीलीस-लण्डन-बम्बई

इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु में रुचिवान् पाठकों को अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ अपने निम्नलिखित भारतीय केन्द्रों से सम्पर्क तथा पत्र-व्यवहार करने के लिए आमन्त्रित करता है:

अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ

१. हरे कृष्ण लैण्ड, जुहू, बम्बई—४०० ४९
२. २१/ए, फिरोज गाँधी रोड, नई दिल्ली—११००२४
३. श्रीकृष्ण बलराम-मन्दिर, भक्तिवेदान्त स्वामी मार्ग, रमणरेती वृन्दावन, (मथुरा उ. प्र.) दूरभाष: १७८
४. हरे कृष्ण लैण्ड, नमपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद—५०००१। (आ. प्र.)
५. इस्कॉन, हरे कृष्ण लैण्ड, दक्षिण मार्ग, मं. ५६६ सेक्टर, ३६-बी चण्डीगढ़ (पंजाब)
६. ७. कैलाश सोसाइटी, आश्रम रोड, अहमदाबाद (गुजरात)
७. ३, एल्बर्ट रोड, कलकत्ता—७०००१७ (पं बंगाल)
८. श्रीमायापुर चन्द्रोदय मन्दिर, पो. श्रीमायापुर धाम (नदिया, पं. बंगाल)

पहली आवृत्ती - आगस्ट १९७९ / प्रतियाँ १०,०००
दूसरी आवृत्ती - जून १९८० / प्रतियाँ १०,०००
तीसरी आवृत्ति - जानेवारी १९८१ / २५,००० प्रती

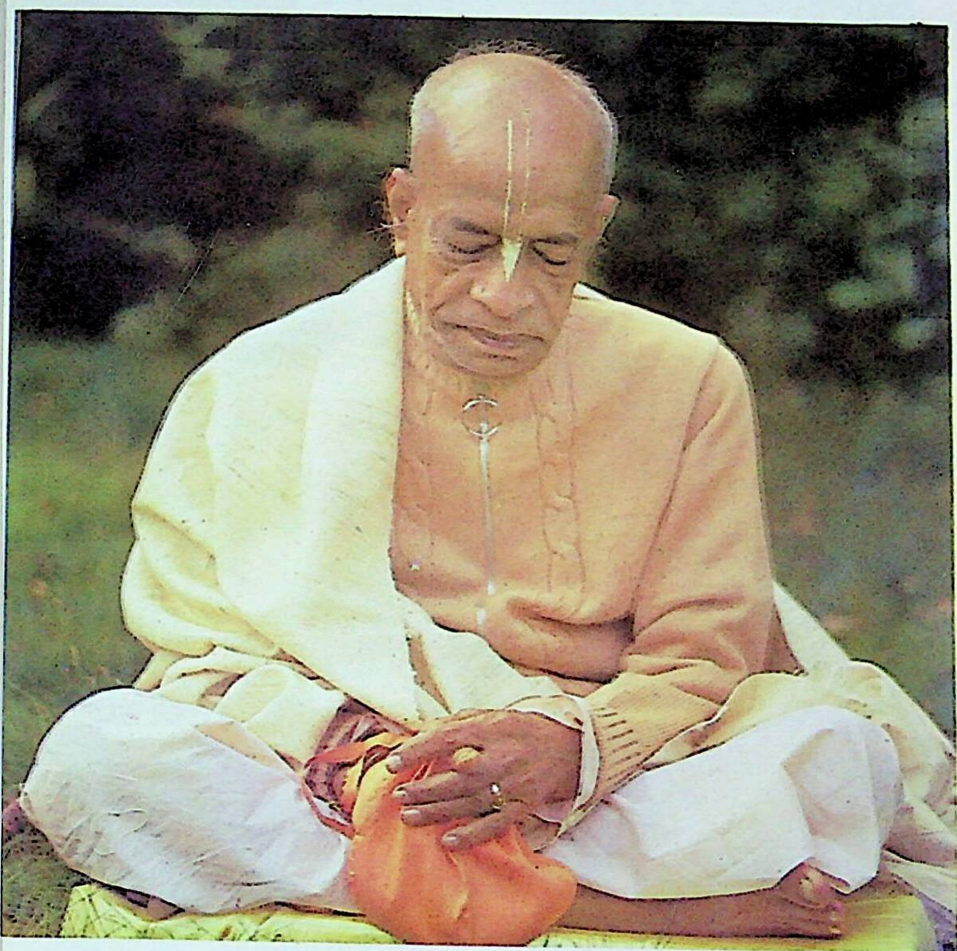
प्रकाशक : श्री गोपालकृष्णदास, अध्यक्ष,
मुद्रक : ओरीयन आफसेट प्रिंटर्स,
धनराज इंडस्ट्रीअल इस्टेट
लोअर परेल, बम्बई-४०००१३.

श्रीधाम वृन्दावन के छः गोस्वामियों को

नानाशास्त्र विचारणैक निपुणौ सद्धर्मसंस्थापकौ
लोकानां हितकारिणौ त्रिभुवने मान्यौ शरण्याकरौ।
राधाकृष्ण पदारविन्द भजनानन्देन मत्तालिकौ
वन्दे रूप सनातकौ रघुयुगौ श्रीजीव गोपालको।

"मैं श्रीसनातन, श्रीरूप, श्रीरघुनाथ भट्ट, श्रीरघुनाथ दास, श्रीगोपाल भट्ट तथा श्रील जीव—इन छः गोस्वामियों को सादर प्रणाम करता हूँ। ये सभी सनातन धर्म की स्थापना करके जगत् का रंजन करने के लिए शास्त्र-विचार में निपुण हैं। इसलिए भी ये त्रिलोकी में मान्य हैं तथा सब प्रकार से शरण लेने योग्य हैं, क्योंकि गोपीभाव में निमग्न होकर श्रीराधाकृष्ण की दिव्य सेवा में निरत हैं।"

अनुक्रमणिका



कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामीप्रभुपाद
संस्थापकाचार्य अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ
विश्व में कृष्णभक्ति के अद्वितीय दाता



श्रील रूप गोस्वामी प्रभुपाद
भक्तिरसामृतसिन्धु के रचयिता



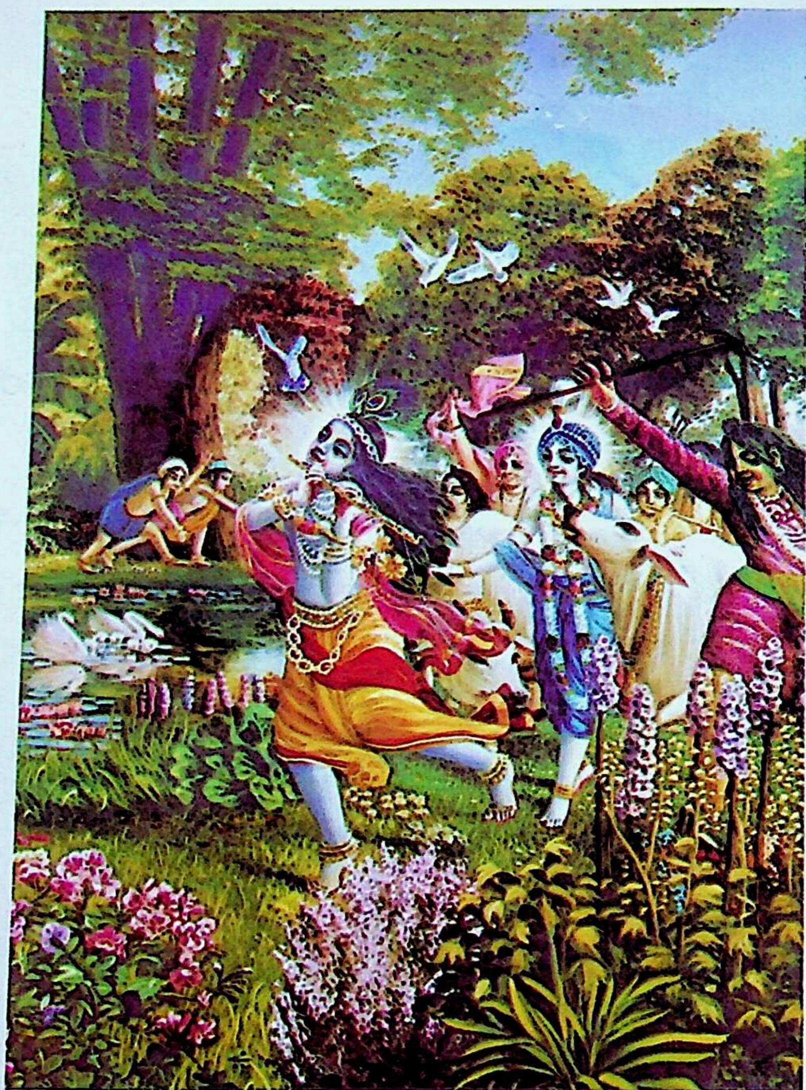
संकीर्तनयज्ञ के पिता प्रेमावतारी श्री चैतन्य महाप्रभु



श्रीमूर्ति का दर्शन बड़े ही श्रद्धा-प्रेम से करना चाहिए (पृ. ५०-५१)



श्रीकृष्ण के श्यामसुन्दर नामक स्वयंरूप की ओर तो निर्विशेषवादी भी आकृष्ट हो जाते हैं (पृ. १६



श्रीकृष्ण के सहचर, सखा, माता-पिता आदि यह कभी नहीं चाहते कि श्रीकृष्ण अपने ऐश्वर्य को प्रकट करें। वे शुद्ध प्रेम में मग्न हुए इतना भी नहीं जानते कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। यह कृष्णप्रेमरस का स्वभाव है। यहाँ ग्वाल-बाल श्रीकृष्ण अपने समान समझकर उनसे क्रीड़ा कर रहे हैं (पृ. २७८)



हे यशोदारानी! कृष्ण कितने सुन्दर हैं और कैसे मेरे दिव्य आह्लाद को निरन्तर बढ़ा रहे हैं! (पृ. ३००)



श्रीराधाकृष्ण का प्रेमानन्दमय विहार (पृ. ३११)

भूमिका

प्रस्तुत ग्रन्थ में श्रील रूपगोस्वामी प्रभुपाद की संस्कृत रचना 'भक्तिरसामृतसिन्धु' का सार संकलन है। श्रील रूप गोस्वामी उन छः गोस्वामियों में प्रधान हैं, जो भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु के सीधे शिष्य हैं। जब वे श्रीचैतन्यदेव से पहली बार मिले, उस समय श्रील रूप गोस्वामी प्रभुपाद बंगाल की मुस्लिम सरकार में मंत्री थे। वे और उनके भाई सनातन नवाब हुसैन शाह के साकरमलिक और दवीरखास नाम से प्रसिद्ध वरिष्ठ मंत्री थे। उस समय, आज से पाँच सौ वर्ष पहले, हिन्दू समाज बड़ा रूढ़िवादी था। यदि कोई ब्राह्मण जाति का व्यक्ति मुस्लिम शासक में सेवा कार्य स्वीकार कर लेता तो उसे ब्राह्मण समाज से निष्कासित कर दिया जाता। दवीरखास और साकरमलिक की ऐसी ही स्थिति थी। यद्यपि उनका जन्म उच्च सारस्वत ब्राह्मण जाति में हुआ था; पर वहाँ की सरकार में मंत्रीपद ग्रहण कर लेने से उन्हें समाज ने निष्कासित कर दिया था। भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कृपा करके दोनों महापुरुषों को अपना शिष्य बना लिया और उस गोस्वामी पद पर आरूढ़ कर दिया जो ब्राह्मण संस्कृति की सर्वोच्च अवस्था है। इसी प्रकार भगवान् चैतन्य ने जन्म से मुस्लिम होने पर भी हरिदास ठाकुर को अपना शिष्य स्वीकार किया और बाद में **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** महामन्त्र के कीर्तन का आचार्यपद प्रदान किया।

भगवान् चैतन्य देव का सिद्धान्त सार्वभौम है। जो कोई श्रीकृष्ण के तत्त्व को जानता हो और उनकी सेवा के परायण हो, उसे ब्राह्मण वंश में जन्मे व्यक्ति से श्रेष्ठ समझा जाता है। सम्पूर्ण वैदिक शास्त्रों, विशेषतः भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत का मूल सिद्धान्त यही है। भगवान् चैतन्य-महाप्रभु के आन्दोलन के इसी सिद्धान्त को 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में दिखाया गया है। इसके द्वारा कोई भी व्यक्ति गोस्वामी पद पर आरूढ़ हो सकता है।

भगवान् चैतन्य महाप्रभु की दवीरखास और साकरमलिक नामक इन दोनों भाइयों से भेंट मालदा जिले के रामकेलि ग्राम में हुई थी। उस

भेंट के बाद दोनों ने सरकारी सेवा को त्याग कर भगवान् चैतन्यदेव के शरणागत हो जाने का निश्चय किया। यही दबीरखास परवर्ती काल में रूपगोस्वामी कहलाये। उन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया और सेवाकाल में जितना धन संचित किया था उसे लेकर चल पड़े। चैतन्य-चरितामृत में वर्णन है कि स्वर्ण मुद्राओं के रूप में उनका संचित धन करोड़ों रुपयों तक का था और उससे एक बड़ी नाव भर गई। उन्होंने अपने इस धन का बड़े ही आदर्श रूप से विभाजन किया, जिसका भक्तों को विशेष रूप से और मानवता को सामान्य रूप से पालन करना चाहिये। संचित सम्पत्ति का आधा भाग कृष्णभावनाभावित पुरुषों अर्थात् ब्राह्मणों और वैष्णवों को दिया गया। पच्चीस प्रतिशत बन्धुबान्धवों में वितरित हुआ और शेष पच्चीस प्रतिशत आपत्काल और निजी कठिनाइयों के लिये रख छोडा। बाद में जब साकरमलिक ने भी त्यागपत्र देना चाहा तो नवाब बहुत उद्विग्न हुआ और उन्हें जेल में डाल दिया। साकरमलिक ने जो परवर्तीकाल में श्रील सनातन गोस्वामी नाम से ख्यात हुए अपने भाई के निजी धन का लाभ उठाया जो गाँव के एक धनी के यहाँ जमा था और उसके द्वारा वे शहनशाह के कारागार से भाग निकले। इस प्रकार वे दोनों भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ सम्मिलित हो गये।

श्रील रूप गोस्वामी सर्वप्रथम भगवान् चैतन्य से प्रयागराज में मिले और उस पावन नगरी के दशाश्वमेध घाट पर भगवान् ने उन्हें निरन्तर दस दिन तक सदुपदेश दिया। भगवान् चैतन्यदेव ने उन्हें विशेष रूप से कृष्णभावना-विज्ञान की शिक्षा दी। भगवान् चैतन्यदेव द्वारा श्रील रूप गोस्वामी प्रभुपाद को दी गई इस शिक्षा का वर्णन हमारे 'श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षामृत' नामक ग्रन्थ में है।

बाद में, श्रील रूपगोस्वामी ने भगवान् चैतन्यदेव की शिक्षा का विविध वैदिक शास्त्रों के ज्ञान और प्रमाण के आधार पर विस्तृत रूप से प्रतिपादन किया। छः गोस्वामियों के चरणों में श्रील श्रीनिवासाचार्य की प्रार्थना में उल्लेख है कि वे सब महापंडित थे। उन्हें केवल संस्कृत का ही ज्ञान नहीं था, वरन् वे फारसी और अरबी आदि विदेशी भाषाओं में भी पारंगत थे। श्रीचैतन्य महाप्रभु के मत को प्रामाणिक वैदिक ज्ञान के आधार पर स्थापित करने के लिये उन्होंने सम्पूर्ण वैदिक शास्त्रों का गम्भीर विचारपूर्वक अध्ययन किया था। वर्तमान कृष्णभावनामृत आन्दोलन भी श्रील रूप गोस्वामी प्रभुपाद की प्रामाणिकता पर आधारित है। अतएव हमें प्रायः रूपानुग अर्थात् श्रील रूपगोस्वामी प्रभुपाद के चरणचिह्नों

का अनुगामी कहा जाता है। हमारे मार्गदर्शन के लिये ही श्रील रूप-गोस्वामी ने इस 'भक्तिरसामृतसिन्धु' नामक ग्रन्थ की रचना की। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत आन्दोलन में संलग्न हैं वे इस महान् ग्रन्थ का लाभ उठायें और बड़ी दृढ़ता के साथ कृष्णभावना में स्थिर हो जायें।

भक्ति का अर्थ है सेवा करना। किसी भी सेवा में कुछ न कुछ आकर्षण रहता है, जिससे सेवक उसमें निरन्तर लगा रहता है। इस जगत् में हम निरन्तर किसी न किसी प्रकार की सेवा में लगे रहते हैं और इस सेवा का उद्दीपन है वह आनन्द, जो हमें उससे मिलता है। पत्नी और सन्तान के स्नेहवश गृहस्थ दिन-रात अथक परिश्रम करता है। परोपकारी भी इसी प्रकार प्रेमवश वृहद परिवार के लिये कार्य करता है और जो राष्ट्रवादी है वह अपने देश और देशवासियों के लिये प्राणपण से प्रयास करता है। वह शक्ति जो परोपकारी, गृहस्थ और राष्ट्रवादी को अपने-अपने कार्य में लगाये रखती है, उसका नाम रस है जो अति मधुर है। भक्तिरस लौकिक कर्मियों के साधारण रस से भिन्न है: लौकिक कर्मी दिन-रात एक ऐसे रस को भोगने के लिये परिश्रम करते हैं जो वास्तव में इन्द्रियतृप्ति है। ऐसे रस का स्वाद अधिक देर नहीं रहता और इसीलिये लौकिक कर्मियों में अपने भोगने की अवस्था को निरन्तर बदलते रहने की प्रवृत्ति रहती है। व्यापारी पूरे सप्ताह कार्य करने में सन्तुष्ट नहीं होता। अतएव सप्ताहांत होने पर वह कुछ परिवर्तन चाहता है और इसलिये ऐसे स्थान पर चला जाता है जहाँ कम से कम एक दिन के लिये तो वह अपनी सारी व्यापार-क्रियाओं को भूल सके। सप्ताह का अन्त विस्मृति में खोकर वह फिर अपनी स्थिति को बदलकर व्यापार-क्रिया में संलग्न हो जाता है। किसी परिस्थिति अथवा स्थिति-विशेष को स्वीकार कर लेना और फिर कुछ समय बाद त्याग देना—लौकिक कार्यकलाप का यही स्वरूप है। इसी को भोग-त्याग कहते हैं। जीवात्मा निरन्तर न तो इन्द्रियतृप्ति में रह सकता है और न त्याग में। निरन्तर परिवर्तन चलता रहता है; हमें इनमें से किसी भी अवस्था में सुख नहीं मिलता क्योंकि हमारा शाश्वत् स्वरूप इन दोनों से भिन्न है। इन्द्रियतृप्ति अधिक समय तक नहीं रहती; अतएव उसे चपल सुख कहते हैं। उदाहरण के लिये—एक साधारण मनुष्य दिन-रात अथक परिश्रम करके अपने परिवार वालों को सुख देने में सफल होता है और इससे उसे एक प्रकार के रस की अनुभूति है। परन्तु जैसे ही उसका जीवन समाप्त हो जाता है, शरीर के साथ ही प्राकृत सुख में की हुई सब उन्नति भी समाप्त हो

जाती है। अतएव नास्तिकों के लिये मृत्यु को भगवान् का रूप माना जाता है। भक्त भक्तियोग के द्वारा भगवान् के सान्निध्य का अनुभव करते हैं और नास्तिक उनका साक्षात्कार मृत्यु के रूप में करते हैं। मृत्यु होने पर सब कुछ समाप्त हो जाता है। एक नई अवस्था में जो पिछली अवस्था से श्रेष्ठ अथवा अधम हो सकती है, जीवन का एक नया अध्याय शुरू करना होता है। राजनीतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय —किसी भी क्रियाक्षेत्र में सारे कर्मों का फल जीवन के साथ ही समाप्त हो जायगा। यह बिलकुल निश्चित है।

परन्तु भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा में अनुभव में आने वाला भक्तिरस जीवन के अन्त के साथ समाप्त नहीं होता। वह निरन्तर बना रहता है और इसीलिये उसे अमृत कहते हैं। सम्पूर्ण वैदिक शास्त्रों में इसका प्रमाण है। भगवद्गीता कहती है—'भक्तिरस में थोड़ी भी उन्नति भक्त को परम भय से अर्थात् मानव-जीवन के अवसर को खो देने से होने वाले भय से बचा सकती है। सामाजिक जीवन, पारिवारिक जीवन अथवा परोपकार, मानवतावाद, राष्ट्रवाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि बृहद् पारिवारिक जीवनों के भावों से होने वाले रस इस बात की गारण्टी नहीं दे सकते कि हमारा अगला जन्म भी मनुष्य के रूप में ही होगा। इस जीवन में अपनी वास्तविक क्रियाओं के द्वारा हम अपने अगले जीवन की रचना कर रहे हैं। जीवात्मा अपनी देह में जो काम करता है उसी के फलस्वरूप उसे अगले जन्म में देह की प्राप्ति होती है। इन सब क्रियाओं का लेखा-जोखा दैव के हाथ में है। भगवद्गीता में इस दैव को सबका प्रधान कारण बतलाया गया है। श्रीमद्भागवत में भी उल्लेख है कि पुनर्जन्म में नई देह की प्राप्ति 'दैवनेत्रेण' अर्थात् भगवान् के निर्देशानुसार होती है। साधारण अर्थ में दैव भाग्य को कहते हैं। दैव का विधान हमें चौरासी लाख योनियों में से उपयुक्त देह देता है। इसका चयन हमारी इच्छा के अनुसार नहीं, हमारे भाग्य के अनुसार होता है। यदि हमारी वर्तमान देह कृष्णभावनाभावित क्रियाओं में लगी हुई है तो इस बात की गारण्टी है कि अगले जन्म में हमें कम से कम मनुष्य की योनि तो अवश्य ही मिलेगी। यदि कोई कृष्णभावनाभावित क्रियाओं के परायण है तो यह निश्चित है कि भक्तियोग को पूर्ण न कर पाने की अवस्था में उसे मानव-समाज में उच्च वर्गों में जन्म की प्राप्ति होगी जिससे वह स्वतः कृष्ण-भावना में आगे उन्नति कर सके। अतएव कृष्णभावनाभावित सभी प्रामाणिक क्रियाएँ अमृत हैं। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' का यही विषय है।

'भक्तिरसामृतसिन्धु' के गम्भीर अध्ययन से भक्तिरस की इस शाश्वत् क्रिया को समझा जा सकता है। भक्तिरस अथवा कृष्णभावना को अंगीकार करना सब उपाधियों से मुक्त ऐसा सर्वमंगलमय दिव्य जीवन प्रदान करता है जिससे मुक्ति भी तुच्छ हो जाती है। भक्तिरस स्वयं मुक्ति देने में समर्थ है, क्योंकि यह साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण को भी आकृष्ट करने वाला है। सामान्यत: कनिष्ठ भक्त भगवान् अथवा श्रीकृष्ण को देखने को उत्कंठित रहते हैं; परन्तु वास्तव में हम उन्हें अपनी वर्तमान प्राकृत विकारमय कुण्ठित इन्द्रियों से नहीं देख सकते। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में वर्णित भक्तियोग की पद्धति साधक को शनै-शनै: देहात्मबुद्धि से मुक्त कर पराप्रकृति में स्थित कर देगी। इस अवस्था में भक्त सब उपाधियों से मुक्त हो जाता है। तब सब दोषों से मुक्त हुई इन्द्रियाँ निरन्तर भक्तिरस के संयोग से निर्दोष हो जाती हैं। जब शुद्ध इन्द्रियों के द्वारा भगवान् की सेवा की जाती है तो भक्तिरसमय जीवन में स्थिति हो जाती है। इस दिव्य जीवन में श्रीकृष्ण की सन्तुष्टि के लिये किये कार्यों का नित्य निरन्तर आस्वादन हो सकता है। भक्तियोग में नियोजित होने पर सब प्रकार के रस शाश्वत् हो जाते हैं। प्रारम्भ में आचार्य के आश्रय में विधिभक्ति में शिक्षा दी जाती है। शनै:-शनै: साधक के उन्नति करने पर उसकी भक्ति श्रीकृष्ण में रागानुगा हो उठती है। जैसा इस ग्रंथ में वर्णन किया जायगा—रस बारह प्रकार के हैं। इनमें से पाँच प्रधान रसों में श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध को फिर से स्थापित करके हम सच्चिदानन्दमय जीवन को प्राप्त हो सकते हैं।

जीवनदशा का यह प्रधान सिद्धान्त है कि हममें किसी न किसी से प्यार करने की सामान्य प्रवृत्ति रहती है। कोई भी किसी दूसरे को प्यार किये बिना जीवित नहीं रह सकता। यह प्रवृत्ति जीवमात्र में विद्यमान है। बाघ जैसे पशु में भी यह प्रेम करने की प्रवृत्ति अवश्य है, चाहे सुप्त अवस्था में ही क्यों न हो; मनुष्यों में तो यह है ही। परन्तु खोयी कड़ी यह है कि अपने प्रेम को हम कहाँ लगायें जिससे सब सुखी हो सकें। आजकल मानव-समाज अपने देश, परिवार अथवा स्वयं अपने से प्रेम करने की शिक्षा देता है; परन्तु इसकी जानकारी किसी को नहीं है कि इस प्रेम की प्रवृत्ति को कहाँ समर्पित किया जाये जिससे सबको सुख मिले। वह केन्द्र कृष्ण हैं और 'भक्तिरसामृतसिन्धु' अपने स्वरूपभूत कृष्णप्रेम को जगा कर उस अवस्था को प्राप्त हो जाने की शिक्षा देती है जिसमें शाश्वत् जीवन का आस्वादन किया जा सकता है।

प्रारम्भ में जन्म होने पर एक बालक केवल अपने माता-पिता से प्यार करना जानता है; फिर भाई-बहन इत्यादि उसके प्रेम के पात्र बनते हैं और इस प्रकार दिन-प्रतिदिन जैसे-जैसे वह बढ़ता जाता है वैसे-वैसे ही अपने परिवार, समाज, जाति, राष्ट्र, यहाँ तक कि पूरे मानव-समाज से भी प्रेम करने लगता है। परन्तु सारी मानव-जाति को प्रेम करने से भी जीव की प्रेमप्रवृत्ति सन्तुष्ट नहीं होती। वह प्रेम की प्रवृत्ति तब तक अपूर्ण ही रहेगी जब तक हम यह न जान लें कि प्रेम का परम पात्र कौन है। हमारा प्रेम तभी पूर्ण रूप से सन्तुष्ट हो सकता है जब उसका समर्पण श्रीकृष्ण के चरणों में हो जाये। यह भाव 'भक्तिरसामृतसिन्धु' का सारसर्वस्व है। इसीलिये इस ग्रन्थ में पाँच दिव्य रसों, अर्थात् सम्बन्धों में श्रीकृष्ण से प्रेम करने की शिक्षा दी गई।

हमारी प्रेम करने की प्रवृत्ति प्रकाश की किरण अथवा हवा के झकोरे के समान ही नित्य फैलती रहती है; परन्तु इसके अन्त को हम नहीं जानते। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' उस विज्ञान का नाम है जो हमें यह सिखाता है कि श्रीकृष्ण को प्रेम करने की सुगम विधि से जीवमात्र से पूर्ण रूप में प्रेम किया जा सकता है। संयुक्त राष्ट्र जैसे महान् प्रयत्नों के द्वारा भी हम मानव-समाज में शान्ति और सद्भावना उत्पन्न करने में असफल रहे हैं क्योंकि हमें ठीक विधि का ज्ञान नहीं है। विधि बड़ी सरल है; परन्तु इसे ठण्डे मस्तिष्क से समझने की आवश्यकता है। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' सब मनुष्यों को भगवान् श्रीकृष्ण से प्रेम करने की सुगम और स्वाभाविक विधि की शिक्षा देती है। यदि हम कृष्ण से प्रेम करना सीख लें तो फिर इसके साथ ही विना किसी कठिनाई के तुरन्त जीवमात्र से भी प्रेम करने लगेंगे। यह पेड़ की जड़ को जल से सींचने अथवा उदर में भोजन पहुँचाने जैसा है। पेड़ की जड़ में जल डालना अथवा उदर को भोजन पहुँचाना सार्वभौम रूप से युक्तिसंगत और व्यावहारिक है। ऐसा हम सबका अनुभव है। हम भली प्रकार जानते हैं कि जब हम कुछ खाते हैं अथवा जब हम कोई पदार्थ उदर को देते हैं तो इस क्रिया से उत्पन्न शक्ति तुरन्त सम्पूर्ण देह में वितरित हो जाती है। उसी प्रकार जड़ में जल देने से बड़े से बड़े वृक्ष के अंग-प्रत्यंग को लाभ पहुँचता है। यदि हम चाहें कि वृक्ष के एक-एक अंग को जल दें तो यह सम्भव न होगा और न ही देह के अलग-अलग अंग भोजन कर ही सकते हैं। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थ उस एक दीपक को जलाने की शिक्षा देगा जिससे तुरन्त सब ओर सब

कुछ प्रकाशित हो जाता है। जो इस विधि को नहीं जानता वह जीवन के सार से वंचित है।

जहाँ तक लौकिक पदार्थों का सम्बन्ध है, मानव सभ्यता सुखमय जीवन की ओर बहुत अधिक प्रगति कर चुकी है। परन्तु फिर भी हम सुखी नहीं हैं, क्योंकि हम सारतत्त्व को भुला बैठे हैं। यह प्राकृत आराम हमें सुखी करने को पर्याप्त नहीं है। इसका उज्ज्वल उदाहरण है—अमरीका। विश्व का सबसे धनी देश, जो सब प्रकार की प्राकृत सुविधाओं के होते हुए भी मनुष्यों के एक ऐसे वर्ग को जन्म दे रहा है जो जीवन के प्रति बिलकुल भ्रमित और निराश है। मैं इन शब्दों से उन सब भ्रमित मनुष्यों का आह्वान करता हूँ कि वे 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में निर्दिष्ट भक्तियोग की विद्या को सीखें। मुझे विश्वास है कि ऐसा करने पर उनके हृदयों में लगी हुई संसार-अग्नि तुरन्त बुझ जायगी। विषयपरायण जीवन की विधि में महान् उन्नति कर लेने पर भी हमारी सुप्त प्रेम प्रवृत्ति पूर्ण नहीं हो पाई है। यही हमारे असन्तोष का मूल कारण है। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थ हमें ऐसे आचरणीय अथवा व्यावहारिक निर्देश देगा जिनके द्वारा इस प्राकृत-जगत् में भक्तिपरायण जीवन व्यतीत कर हम इस जन्म में और अगले में भी अपनी सम्पूर्ण अभिलाषाओं को प्राप्त कर सकते हैं। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' का उद्देश्य संसार की किसी विधि को धिक्कारना नहीं है; अपितु, इस प्रयास का उद्देश्य धार्मिकों, दार्शनिकों और सामान्य लोगों को श्रीकृष्ण से प्रेम करना सिखाना है। लौकिक असुविधाओं से बचना बुरा नहीं है; परन्तु साथ ही श्रीकृष्ण से प्रेम करने की कला सीख लेनी चाहिये। इस समय हम अपनी प्रेम करने की प्रवृत्ति को कितने ही प्रकार से इधर-उधर लगाने का प्रयास कर रहे हैं; परन्तु वास्तव में देखें तो पायेंगे कि यथार्थ सार अर्थात् श्रीकृष्ण हमसे दूर हैं। पेड़ की जड़ को छोड़कर हम उसके तनों और पत्तों पर जल दे रहे हैं। अपनी देह को नाना प्रकार से सुख देने के प्रयास कर रहे हैं; परन्तु उदर में भोजन पहुँचाना भूल गये हैं। जो श्रीकृष्ण को भुला बैठा है उसको अपने स्वरूप की भी विस्मृति है। असली स्वरूप का साक्षात्कार और श्रीकृष्ण का साक्षात्कार एक साथ हैं। प्रातः काल अपने को देखने का अर्थ यह है कि सूर्योदय को भी देख लिया है। सूर्य के प्रकाश के बिना कोई अपने को नहीं देख सकता। इसी प्रकार श्रीकृष्ण के साक्षात्कार के बिना स्वरूप-साक्षात्कार नहीं हो सकता।

'भक्तिरसामृतसिन्धु' विशेष रूप से उनके लिये है जो कृष्णभावनामृत

आन्दोलन में संलग्न हैं। मैं अपने सब मित्रों और शिष्यों को सविनय धन्यवाद देता हूँ जो सम्पूर्ण जगत् में कृष्णभावनामृत आन्दोलन को फैलाने में मुझसे सहयोग कर रहे हैं। मेरे प्रिय शिष्य श्रीमद् जयानन्द ब्रह्मचारी को साधुवाद है। उनके उदार अनुदान से इस ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ है। अन्त में इस महान् ग्रन्थ का ध्यानपूर्वक प्रकाशन करने के लिये हरेकृष्ण प्रेस के निर्देशक धन्यवाद के पात्र हैं। हरे कृष्ण !

ए० सी० भक्तिवेदान्त स्वामी

१३ अप्रैल, १९७०

प्रस्तावना

मंगलाचरण : भगवान् श्रीकृष्ण आदिपुरुष, सम्पूर्ण कारणों के परम कारण तथा अखिलरसामृतमूर्ति रसराज—शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य, हास्य, कारुण्य, भयानक, वीर, रौद्र, अद्‌भुत और वीभत्स रस रूपी सम्बन्धों के परम आश्रय हैं। वे परम आकर्षक श्रीविग्रह हैं और अपनी त्रिभुवन-विमोहिनी दिव्य रूप, गुण, लीला आदि की माधुरी से उन्होंने तारका, पालिका, श्यामा, ललिता और साक्षात् राधारानी को भी वशीभूत कर लिया है। वे प्रभु कृपा करें, जिससे कृष्णकृपाविग्रह श्रीमद्‌भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद द्वारा प्रेरित 'भक्तिरसामृतसिन्धु' के लेखन का कार्य निर्विघ्न रूप से संपन्न हो।

सर्वप्रथम श्रील रूप गोस्वामी प्रभुपाद और श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद के चरणारविन्दों में सविनय प्रणाम करता हूँ, जिनकी प्रेरणा से मैं 'भक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थ के सार-संकलन के कार्य में प्रवृत्त हुआ हूँ। इस 'भक्तियोग के दिव्य विज्ञान का प्रतिपादन भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु ने किया है। भगवान् चैतन्य का आविर्भाव बंगाल में आज से पांच सौ वर्ष पूर्व कृष्णभावना आंदोलन का प्रवर्तन् करने के लिए हुआ था।

श्रील रूप गोस्वामिचरण इस महान् ग्रन्थ का आरम्भ करते हुए अपने अग्रज और गुरुदेव श्रील सनातन गोस्वामी की सादर वन्दना करते हैं। उनकी प्रार्थना है कि 'भक्तिरसामृतसिन्धु' उन्हें प्रिय हो, भक्तिरसरूप अमृत के सागर में निवास करते हुए श्रीसनातन गोस्वामी श्रीश्रीराधाकृष्ण की सेवा में सदा दिव्य आनन्द का आस्वादन किया करें।

भक्तिरसरूप अमृत के सागर में विहरण करने वाले उन सभी महाभागवत और आचार्यरूप मकरों की हम सादर वन्दना करते हैं, जिन्होंने नाना प्रकार की मुक्तिरूप-नदियों का तिरस्कार कर दिया है। निर्विशेष-वादियों को परतत्त्व में लीन होना बड़ा रुचिकर होता है, जैसे नदियां सागर में आकर समा जाती हैं। सागर मानो मुक्ति है और उसमें मिलने वाली नदियाँ नाना मुक्तिपथ जैसी हैं। निर्विशेषवादियों का निवास नदीजल में है, जो अन्त में सागर में मिल कर लीन हो जाता है। परन्तु वे यह नहीं

जानते कि नदी के समान ही, सागर में भी असंख्य जलचर प्राणी हैं। सागर के निवासी मकर उन नदियों की अपेक्षा नहीं रखते, जो सागर में गिरती रहती हैं। ऐसे ही, जिनका निरन्तर भक्तियोगरूप सागर में निवास है, वे भक्त मुक्तिरूप नदियों की उपेक्षा कर देते हैं। भाव यह है कि जो शुद्धभक्त हैं, वे सदा भगवद्भक्तियोग के सागर में स्थित रहते हैं। अन्य पद्धतियाँ उन नदियों जैसी हैं, जो शनैः शनैः ही सागर तक पहुँचती हैं; शुद्धभक्त को इनसे कोई प्रयोजन नहीं होता।

श्रील रूप गोस्वामी अपने गुरुदेव सनातन गोस्वामी से प्रार्थना करते हैं कि वे उन मीमाँसकों के तर्कों से भक्तिरसामृतसिन्धु की रक्षा करें, जो भगवद्भक्ति में व्यर्थ हस्तक्षेप करते हैं। उनके अनुसार तर्क-वितर्क सागर में होने वाले बड़बालन जैसे हैं। सागर के मध्य में बड़वाग्नि से कुछ भी हानि नहीं होती। इसी प्रकार, भगवद्भक्ति के विरोधी अपने ब्रह्मानुभूति-विषयक नाना प्रकार के दार्शनिक तर्कों से इस महान् भक्तिसागर में उत्पात नहीं कर सकते।

'भक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थ के प्रणेता श्रील रूप गोस्वामी की दैन्योक्ति है कि सर्वथा दीन-हीन होते हुए भी सम्पूर्ण विश्व में कृष्णभावना का प्रसार करने के लिए वे इस प्रयास में प्रवृत हो रहे हैं। श्रील रूप गोस्वामी के चरणत्रिन्हों का अनुसरण करते हुए कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सभी प्रचारकों को इस भाव से भावित रहना चाहिए। हम अपने को कभी महान् उपदेशक न समझें। सदा यही माने कि वह तो केवल पूर्ववर्ती आचार्यों के कार्य का निमित्तमात्र है और उन्हीं के चरणचिन्हों का अनुसरण करने से दुःखी मानवता का कुछ मंगल कर सकता है।

भक्तिरसामृतसिन्धु के पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण—ये चार भाग हैं। इनमें से प्रत्येक भाग में चार लहरी हैं। जैसे सागर में पूर्वादि चारों दिशाओं में भिन्न-भिन्न लहरें उठती हैं, वैसे ही 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में नाना लहरें कल्लोलित हो रही हैं। प्रथम विभाग की चार लहरों में से पहली लहरी में सामान्य भक्ति का निरूपण है। द्वितीय लहरी में भक्तियोग के साधन का अंकन है तथा तीसरी भावाश्रिता है। चौथी लहरी में भगवत्प्रेम का वर्णन है, जो जीवन का परम लक्ष्य है। इन सब का अपने-अपने विशेष लक्षणों सहित विस्तार से वर्णन किया जाएगा।

श्रील रूप गोस्वामी ने पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुगमन करते हुए भक्ति का प्रामाणिक विवरण इस प्रकार समाहृत किया है—"अनुकूल भाव से श्रीकृष्ण का सेवन करते हुए पूर्ण रूप से कृष्णभावना में तत्पर हो जाना

उत्तम भक्ति का स्वरूप है।" भाव यह है कि कृष्णभावनाभावित प्रतिकूल-भाव से भी हुआ जा सकता है; परन्तु यह शुद्ध भक्तियोग नहीं कहला सकता। शुद्धभक्तियोग के लिए इन्द्रियतृप्ति की प्राकृत अभिलाषा से मुक्त होना आवश्यक है, क्योंकि ऐसी इच्छाओं के उठने में सकामकर्म और मनोधर्ममय ज्ञान ही कारण होते हैं। सामान्यतः लोग किसी न किसी प्राकृतलाभ की इच्छा से नाना क्रियाओं में प्रवृत्त रहते हैं, जबकि अधिकांश दार्शनिक वाग्चातुर्य और मनोधर्म के आधार से ब्रह्मानुभूति का प्रस्थापन करना चाहते हैं। शुद्ध भक्तियोग ऐसे सब कर्म-ज्ञान से मुक्त होता है। उस कृष्णभावना अथवा शुद्धभक्ति की शिक्षा रागानुगा सेवा के द्वारा आचार्यों से ग्रहण करनी चाहिए।

यह भक्ति एक प्रकार का अनुशीलन, अर्थात् सेवन है। यह निष्क्रियता नहीं है, जो आलसी मनुष्यों अथवा चुपचाप ध्यान में समय बिताने वालों को प्रिय होती है। इस स्वभाव के मनुष्यों के लिए अन्य बहुत से मार्ग हैं; परन्तु कृष्णभावना का अनुशीलन इन सब से भिन्न है। इस संदर्भ में श्रील रूप गोस्वामी ने 'अनुशीलन' शब्द का प्रयोग किया है। इसका अर्थ पूर्ववर्ती आचार्यों के चरणचिन्हों का अनुगमन करते हुए सेवन करना है। जब हम 'अनुशीलन' शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारा अभिप्राय क्रिया से होता है। क्रिया के बिना केवल भावना (चेतना) से लाभ नहीं हो सकता। सब प्रकार की क्रियाओं के दो वर्ग किये जा सकते हैं। एक वे जिनका कुछ निश्चित लक्ष्य है और दूसरी वे जो किसी प्रतिकूलता के निवारण के लिए की जाती हैं। इन्हें क्रमशः 'प्रवृत्ति' और 'निवृत्ति' कहा जाता हैं। द्वितीय श्रेणी की क्रियाओं के अनेक उदाहरण हैं। जैसे रोगी को सावधान रहकर कुछ औषधि का सेवन करना होता हैं, जिससे रोगरूपी प्रतिकूलता दूर हो जाय।

जो परमार्थ के सेवन और भक्तियोग के आचरण में संलग्न हैं, वे सदा क्रियाशील रहते हैं। ऐसी क्रिया शरीर से अथवा मन से की जा सकती है। विचार, संवेदन और संकल्प—ये सब मन की क्रियायें हैं। संकल्प होने पर ही स्थूल शारीरिक अंगों से क्रिया प्रत्यक्ष बनती है। अतएव पूर्ववर्ती आचार्यों और गुरुदेव का अनुगमन करते हुए मन को नित्य-निरन्तर श्रीकृष्ण के चिन्तन और उनकी प्रसन्नता के साधन की चेष्टा में लगाए रखना चाहिए। मन के अतिरिक्त देह, इन्द्रियों और वाणी की अपनी-अपनी क्रियायें हैं। कृष्णभावनाभावित पुरुष वाणी को भगवत्-कीर्ति प्रचार में नियुक्त रखता है। इसी का नाम 'कीर्तन' है। मन के द्वारा वह सदा

भगवान् की लीला के चिन्तन में डूबा रहता है—किस प्रकार वे कुरुक्षेत्र में गीता का गान कर रहे हैं अथवा भक्तों सहित वृन्दावन धाम में लीलामग्न हैं। इस विधि से सदा-सर्वदा भगवान् की लीला का स्मरण किया जा सकता है। यह कृष्णभावना की मानस-सेवा है। इसी प्रकार, शारीरिक क्रियाओं से भी अनेक प्रकार से सेवा की जा सकती है। परन्तु ऐसा सम्पूर्ण सेवा-कार्य श्रीकृष्ण से सम्बन्धित होना चाहिए। श्रीकृष्ण के परम्परागत साक्षात प्रतिनिधि—गुरुदेव के चरणारविन्द का आश्रय लेने से यह सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। अतः शरीर द्वारा कृष्णभावनाभावित क्रियाओं का आचरण गुरुदेव की आज्ञा के अनुसार श्रद्धापूर्वक करना कर्तव्य है। गुरु-पादाश्रय का नाम दीक्षा है। गुरुदीक्षा के दिन से श्रीकृष्ण और कृष्ण-भावना के सेवक में एक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। सद्गुरु से दीक्षित हुए बिना कृष्णभावना से यथार्थ सम्बन्ध होता ही नहीं।

कृष्णभावना का यह सेवन प्राकृत नहीं है। सामान्यतः श्री भगवान् की तीन शक्तियाँ हैं—बहिरंगा, अन्तरंगा और तटस्था। जीव तटस्था शक्ति कहलाते हैं, जबकि प्राकृत सृष्टि बहिरंगा शक्ति अथवा अपरा प्रकृति का कार्य है। फिर, एक वैकुण्ठ-जगत् है, जो अन्तरंगा शक्ति का प्रकाश है। जीव तटस्था शक्ति इसलिए कहलाते हैं, क्योंकि अपरा बहिरंगा शक्ति के अधीन कार्य करते समय वे प्राकृत कर्म करते हैं और जब अन्तरंगा परा शक्ति के अन्तर्गत क्रियाशील रहते हैं, तो उनके कर्म कृष्णभावनाभावित हो जाते हैं। भाव यह है कि महात्मा महाभागवत पुरुषों का कार्य माया के आधीन नहीं होता; वे परा प्रकृति के आश्रय में कर्म करते हैं। भक्तियोग अथवा कृष्णभावना में जो कुछ किया जाता है, वह सब प्रत्यक्ष रूप से परा प्रकृति के नियन्त्रण में है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृति एक प्रकार की शक्ति है जिसे योग्यगुरु और श्रीकृष्ण दोनों की कृपा से दिव्य बनाया जा सकता है।

कृष्णदास कविराज द्वारा विरचित 'चैतन्यचरितामृत' में श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं कि किसी दुर्लभ भाग्यवान् पुरुष को ही श्रीकृष्ण की कृपा से सद्गुरु का संग प्राप्त होता है। परमार्थ के यथार्थ जिज्ञासु को श्रीकृष्ण ऐसा बुद्धियोग देते हैं, जिससे वह सद्गुरु की शरण में चला जाता है और फिर, गुरुकृपा से कृष्णभावना में उन्नति करता है। इस प्रकार कृष्णभावना का सम्पूर्ण परिमण्डल साक्षात् परा प्रकृति—गुरु और श्रीकृष्ण के आधीन है। प्राकृत-जगत् से इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। 'कृष्ण' नाम अंशों सहित साक्षात् श्रीभगवान् का वाचक है। श्रीकृष्ण के असंख्य स्वांश,

भिन्न-अंश और भिन्न-भिन्न शक्ति-प्रकाश हैं। दूसरे शब्दों में, 'कृष्ण' सब कुछ है; 'कृष्ण' में सम्पूर्ण तत्त्व का समावेश है। परन्तु सामान्यतः हमें कृष्णनाम से श्रीकृष्ण और उनके अंशों को ही समझना चाहिए। श्रीकृष्ण बलदेव, संकर्षण, वासुदेव, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, राम, नृसिंह, वराह, आदि अंशों और विष्णुमूर्तियों में प्रकाशित हैं। श्रीमद्भागवत के अनुसार, ये सब अंश और अवतार सागर की लहरों के समान ही असंख्य हैं। अस्तु, श्रीकृष्ण के तत्त्व में इन सभी अंशों और शुद्धभक्तों का समावेश है। ब्रह्मसंहिता के अनुसार श्रीकृष्ण के अंश पूर्ण आनन्दमय, चिन्मय और नित्य हैं।

भक्तियोग का तात्पर्य उन कृष्णभावनाभावित क्रियाओं का आचरण करना है, जो भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य आनन्द के अनुकूल हों, उसका वर्धन करें। इसके विपरीत, जो क्रिया श्रीभगवान् के दिव्य आनन्द के प्रतिकूल है, वह भक्ति नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ, रावण, कंस, हिरण्यकशिपु जैसे महादानव निरन्तर श्रीकृष्ण का स्मरण किया करते थे; परन्तु वे ऐसा उन्हें अपना शत्रु समझ कर करते थे। इसप्रकार के चिन्तन को भक्तियोग अथवा कृष्णभावना नहीं कहा जा सकता।

निर्विशेषवादी कभी-कभी भक्तियोग को ऐसे भ्रान्त रूप में समझते हैं कि श्रीकृष्ण को उनके लीलापरिकर और उपकरणों से अलग कर बैठते हैं। जैसे, सब जानते हैं कि श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता का प्रवचन कुरुक्षेत्र में किया। परन्तु निर्विशेषवादियों का कहना है कि श्रीकृष्ण का महत्त्व तो है, पर कुरुक्षेत्र का नहीं है। भक्त भलीभाँति समझते हैं कि श्रीकृष्ण से सम्बन्ध के बिना कुरुक्षेत्र से उनका कोई प्रयोजन नहीं होता। इसके अतिरिक्त, कृष्णनाम का अभिप्राय केवल श्रीकृष्ण तक सीमित नहीं है। श्रीकृष्ण सदा अपनी लीला के परिकरों और उपकरणों से युक्त रहते हैं। जैसे कोई कहे, "शस्त्रधारी को भोजन कराओ।" भोजन शस्त्रधारी मनुष्य ही करता है, शस्त्र नहीं; शस्त्र उसकी पहचान का साधन अवश्य है। ऐसे ही, कृष्णभावना में कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि आदि उन सभी उपकरणों और स्थलों में भक्त की रुचि रहती है, जिनका श्रीकृष्ण से कुछ भी सम्बन्ध हो। वे किसी साधारण युद्धभूमि में रुचि नहीं लेते। उनकी रुचि श्रीकृष्ण में, उनकी वाणी में, उनके उपदेश आदि में है। श्रीकृष्ण वहाँ हैं, इसीलिए कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि का इतना महत्त्व है।

कृष्णभावना क्या है—उपरोक्त वर्णन में यह सार रूप में निभृत है। इस बोध के बिना यह समझने में अवश्य भूल होगी कि भक्त कुरुक्षेत्र

की युद्धभूमि में क्यों रुचि रखते हैं। जिसकी श्रीकृष्ण में रुचि है, वह उनकी विविध लीलाओं और क्रियाओं में भी रुचि लेता है।

'भक्तिरसामृतसिन्धु' में श्रील रूप गोस्वामी द्वारा वर्णित लक्षणों के अनुसार शुद्धभक्त के स्वरूप का संक्षिप्त निरूपण इस प्रकार है : वह सदा अनुकूल भाव से श्रीकृष्ण की सेवा के परायण रहता है। ऐसी कृष्ण-भावनाभावित क्रियाओं की शुद्धता को बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि वह सब प्रकार की प्राकृत इच्छाओं और मनोधर्म से मुक्त हो। भगवत्-सेवा करने की इच्छा के अतिरिक्त अन्य सभी इच्छायें प्राकृत हैं। साथ ही, उस मनोधर्मी का भी निषेध है, जिससे अन्त में शून्यवाद अथवा निर्विशेषवाद का निष्कर्ष निकले। कृष्णभावनाभावित पुरुष के लिए ऐसा निष्कर्ष निरर्थक है। यह बड़ा दुर्लभ है कि कोई दार्शनिक मनोधर्म के द्वारा वासुदेव (भगवान् श्रीकृष्ण) की आराधना के निष्कर्ष पर पहुँच जाय। स्वयं भगवद्-गीता इस कथन की पुष्टि है। अस्तु, दार्शनिक मनोधर्म का अन्तिम लक्ष्य भी यह जान लेना है कि श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं; वे सर्वव्यापक और सब कारणों के परम कारण हैं, इसलिए उन्हीं के शरणागत हो जाना चाहिए। यदि यह अन्तिम लक्ष्य उपलब्ध हो जाय, तो दार्शनिक उन्नति अनुकूल है; परन्तु यदि उससे शून्यवाद अथवा निर्विशेषवाद सिद्ध होता है, तो उसे भक्ति नहीं कहा जा सकता।

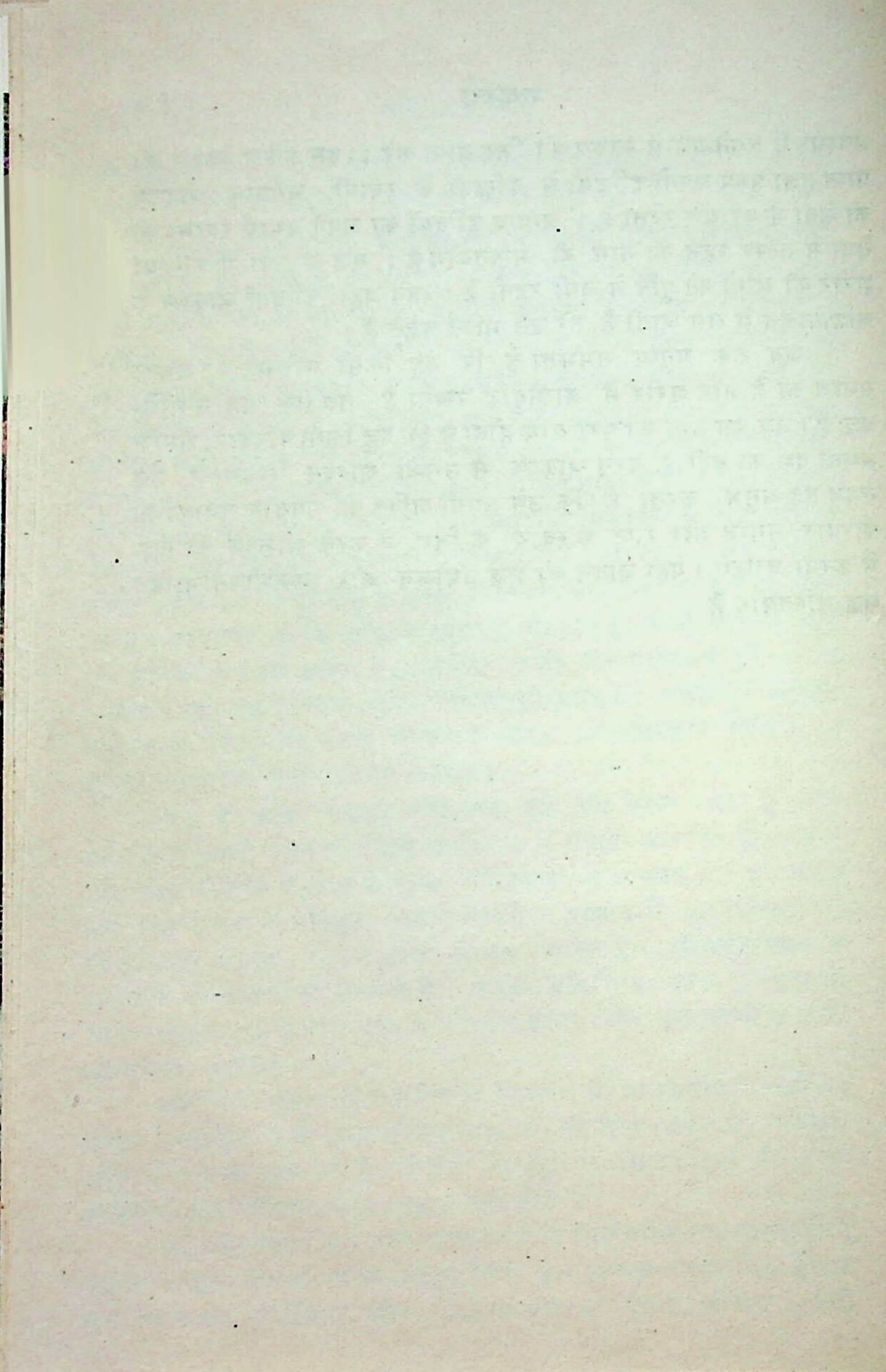
कर्म से प्राय: सकाम कर्मकाण्ड का अथ किया जाता है। ऐसे बहुत से मनुष्य हैं, जिनकी वैदिक कर्मकाण्ड में प्रगाढ आसक्ति है। परन्तु यदि कोई श्रीकृष्ण के बोध के बिना कर्मकाण्ड में आसक्त हो, तो उसके कर्म कृष्णभावना के प्रतिकूल समझे जायेंगे। वास्तव में कृष्णभावना के लिए श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि साधन पर्याप्त हैं। श्रीमद्भागवत में भक्ति के नौ साधनों का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त अन्य जो कुछ भी किया जायगा, वह कृष्णभावना के प्रतिकूल होगा। अत: इन पतनों से अपने को बचाना चाहिए।

श्रील रूप गोस्वामी ने भक्ति के निरूपण में 'ज्ञानकर्मादि' शब्द का प्रयोग किया है। 'कर्म' शब्द से उन क्रियाओं की ओर संकेत है, जो शुद्ध भक्तियोग के अनुकूल नहीं हैं। वैराग्य के बहुत से मिथ्या रूप भी कृष्ण-भावनाभावित भक्तियोग के अनुकूल नहीं होते।

भक्ति के लक्षणों का प्रतिपादन करने के लिए श्रील रूप गोस्वामी ने 'नारदपंचरात्र' से एक श्लोक उद्धृत किया है—'कृष्णभावनाभावित होकर सब प्रकार की उपाधियों और दोषों से मुक्त हो जाना चाहिए। ऐसी

अवस्था में अपने यथार्थ स्वरूप को फिर प्राप्त करे। इस प्रकार स्वरूप को प्राप्त हुआ पुरुष अपनी इन्द्रियों से इन्द्रियों के स्वामी, भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा के परायण रहता है।' अतएव इन्द्रियों का अपने यथार्थ स्वामी की सेवा में तत्पर रहने का नाम ही भक्तियोग है। बद्ध अवस्था में इन्द्रियाँ शरीर की माँगों की पूर्ति में लगी रहती हैं। जब वही इन्द्रियाँ श्रीकृष्ण के आज्ञापालन में लग जाती हैं, तो उसे भक्ति कहते हैं।

जब तक मनुष्य समझता है कि वह किसी परिवार का अथवा समाज का है और शरीर में आत्मबुद्धि रखता है, तब तक वह उपाधि-बद्ध है। जब इस बात का पूरा बोध होता है कि वह किसी परिवार, समाज अथवा देश का नहीं है, वरन् श्रीकृष्ण से उसका शाश्वत् सम्बन्ध है, उस समय वह अनुभव करता है कि उसे अपनी शक्ति का उपयोग तथाकथित परिवार, समाज और राष्ट्र क स्वार्थ के लिए न करके श्रीकृष्ण की सेवा में करना चाहिए। यही जीवन का शुद्ध प्रयोजन और कृष्णभावनाभावित शुद्ध भक्तियोग है।



अथ पूर्व विभागः

रसोप्योगीस्थायिभाव

अध्याय १

शुद्ध भक्तियोग के लक्षण

श्रीमद्भागवत (३.२९.१२-१३) में माता देवहूति को उपदेश करते हुए भगवान् कपिल ने शुद्ध भक्तियोग के ये लक्षण बताए हैं, "हे जननि! जो मेरे शुद्धभक्त हैं, जिन्हें सकाम कर्म अथवा ज्ञान से कोई प्रयोजन नहीं, उनका चित्त मेरी सेवा में इतना तन्मय रहता है कि वे मुझसे उस सेवा के अतिरिक्त कभी और कुछ अभिलाषा नहीं करते। यहाँ तक कि मेरे धाम में रहने की इच्छा भी वे नहीं करते।"

मुक्ति के पाँच भेद हैं: सायुज्य (भगवान् से एक हो जाना); सालोक्य (भगवान् के लोक में वास); सारूप्य (भगवान् के समान रूप की प्राप्ति); सार्ष्टि (भगवान् के समान ऐश्वर्य की प्राप्ति); और सामीप्य (भगवान् के संग में रहना)। प्राकृत इन्द्रियतृप्ति की तो बात ही क्या, भक्त तो किसी प्रकार मुक्ति भी नहीं चाहता। वह तो बस प्रेममयी भगवत्सेवा में ही संतुष्ट रहता है। यह शुद्ध भक्तियोग का लक्षण है।

श्रीमद्भागवत से उद्धृत कपिलदेव के उपरोक्त वाक्य में शुद्धभक्त की यथार्थ स्थिति के साथ ही भक्तियोग के सामान्य लक्षणों का भी विवेचन है। श्रील रूप गोस्वामी ने शास्त्र-प्रमाण के आधार पर भक्ति के लक्षणों का आगे वर्णन किया है। वे कहते हैं कि शुद्ध भक्तियोग के छः लक्षण हैं:

१. शुद्धभक्ति क्लेशघ्नी है, अर्थात् सब प्रकार के प्राकृत क्लेशों को तत्काल शान्त कर देती है।
२. शुद्धभक्ति शुभदा है, अर्थात् सब प्रकार से कल्याण करने वाली है।
३. शुद्धभक्ति अपने-आप अपरिमेय दिव्य आनन्द में स्थित कर देती है।
४. शुद्धभक्ति परम दुर्लभ है।
५. शुद्धभक्ति मोक्ष को भी तुच्छ बना देने वाली है।

६. शुद्धभक्ति श्रीकृष्णाकर्षिणो है, अर्थात् श्रीकृष्ण को आकर्षित करने का एकमात्र साधन है।

श्रीकृष्ण सर्वाकर्षक हैं, परन्तु शुद्धभक्ति उन्हें भी अपनी ओर आकृष्ट करने वाली है। भाव यह है कि शुद्धभक्ति श्रीकृष्ण से भी अधिक दिव्य बलवती है; कारण, वह श्रीकृष्ण की अंतरंगा शक्ति है।

क्लेशघ्नो (भक्ति से क्लेशों की शान्ति)

भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं कि अन्य सब कर्तव्य त्याग कर जीव को उनके शरणागत हो जाना चाहिए। शरणागत जीवों की सम्पूर्ण पापों से रक्षा करने का उनका वचन है। श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं कि इस जन्म के पाप और पूर्वकृत पाप—दोनों क्लेश के कारण हैं। सामान्यतः पापकर्म अविद्या के कारण घटते हैं। परन्तु अविद्या के नाम पर पापफल से बचा नहीं जा सकता। पाप के फल दो प्रकार के होते हैं: प्रारब्ध और अप्रारब्ध। जिन पापकर्मों को हम वर्तमान में भोग रहे हैं, वे प्रारब्ध हैं। जो अभी फलोन्मुख नहीं हुए हैं, वे संचित पापकर्म अप्रारब्ध कहलाते हैं। उदाहरण के लिए, जैसे कोई मनुष्य बहुत अपराध करने पर भी अभी पकड़ा न गया हो। परन्तु जब उसका पता लगेगा, तुरन्त ही वह बंदी बना लिया जायगा। इसी प्रकार, अपने अप्रारब्ध पापों का फल हमें भविष्य में प्राप्त होगा, जबकि प्रारब्ध पापकर्मों का फल अभी भोगना पड़ रहा है।

इस प्रकार पापकर्मों और उनके परिणाम में होने वाले क्लेशों की एक श्रृंखला सी चलती रहती है। इस प्रकार बँधा हुआ जीव जन्म-जन्मान्तर में इन पापों के कारण दुःख भोग रहा है। वर्तमान में पूर्वपापों का फल भोगते हुए भी भावी जीवन के लिए दुःखों के नए बीज बोता रहता है। भीषण रोग, अभियोग, अधम जाति में जन्म, विद्या और रूप का अभाव—ये सब प्रारब्ध पापकर्म के लक्षण हैं।

पूर्व पापों के बहुत से फलों को हम वर्तमान में भोग रहे हैं और क्रियमाण पापकर्मों का क्लेश आगे भोगना पड़ेगा। परन्तु यदि हम कृष्ण-भावनाभावित हो जायें, तो ये सब पापकर्मफल अविलम्ब शान्त हो सकते हैं। इसके प्रमाण में रूप गोस्वामी ने श्रीमद्भागवत, ग्यारहवें स्कन्ध के चौदहवें अध्याय से उन्नीसवें श्लोक को उद्धृत किया है। उद्धव को उपदेश करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, "हे उद्धव ! मेरी भक्ति प्रज्ज्वलित अग्नि के समान है, जो इंधनरूपी अपार पापराशि को भस्म कर सकती है।" तात्पर्य यह है कि जैसे प्रचण्ड अग्नि इंधन के बड़े से बड़े

अम्बार को भस्मसात् कर सकती है, वैसे ही कृष्णभावनाभावित भगवद्-भक्ति सम्पूर्ण पापराशि को समूल नष्ट कर देती है। इसका उदाहरण गीता में है। अर्जुन सोच रहा था कि युद्ध करना पाप है; परन्तु श्रीकृष्ण ने स्वयं आज्ञा देकर उसे युद्ध में लगाया, जिससे लड़ना भी भक्तियोग बन गया। यही कारण है कि अर्जुन को पापकर्म का फलरूपी कुछ भी दोष नहीं हुआ।

श्रील रूप गोस्वामी श्रीमद्भागवत से एक और प्रमाण (३.३३.६) देते हैं, जिसमें देवहूति अपने पुत्र भगवान् कपिल से कहती हैं, "प्रभो ! भक्तियोग के श्रवण, कीर्तन, आदि नौ साधन हैं। जो कोई भी आपकी लीला का श्रवण करता है, आपकी पावन कीर्ति का गान करता है, आपकी वंदना करता है अथवा स्मरण आदि भक्ति का एक भी साधन अंगीकार कर लेता है, वह चाहे परम अधम चाण्डाल-कुल में ही क्यों न जन्मा हो, परन्तु भक्तियोग के प्रताप से तत्काल पवित्र होकर यज्ञ करने के योग्य हो जाता है।" अस्तु, जो पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होकर यथार्थ में भक्तियोग में तत्पर है, यह कैसे हो सकता है कि वह पवित्र न हो गया हो? ऐसा नहीं हो सकता। कृष्णभावना और भक्तियोग के परायण पुरुष निश्चित रूप से प्राकृत पापकर्मों के सम्पूर्ण दोषों से मुक्त हो चुका है। अतएव भक्तियोग में वस्तुतः सब पापों को भस्मभूत करने की शक्ति है। फिर भी भक्त निरन्तर ध्यान रखता है कि उससे कोई पाप न बन जाय; यह भक्त की विशेषता है। इस प्रकार श्रीमद्भागवत का निर्णय है कि भक्तियोग में तत्पर होने पर चाण्डाल-कुल में उत्पन्न मनुष्य भी वैदिक यज्ञ करने का अधिकारी बन जाता है। इस वाक्य में संकेत है कि चाण्डाल-कुल का मनुष्य सामान्य रूप से यज्ञ करने के योग्य नहीं होता। वैदिक यज्ञों का अधिकार ब्राह्मणों को है; अतः ब्राह्मण बने बिना कोई भी ये कर्म नहीं कर सकता।

पूर्व कर्मों के अनुसार हो मनुष्य का जन्म ब्राह्मण अथवा चाण्डाल-कुल में होता है। जिसका जन्म चाण्डाल-कुल में हुआ है, उसने अवश्य पूर्वजन्म में पाप ही पाप किए होंगे। परन्तु यदि वह भक्ति-पथ को अंगीकार करके '**हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे**'—यह कीर्तन करे, तो वह तत्काल यज्ञ, आदि कर्मों के योग्य हो जाय। भाव यह है कि उसका पापकर्मफल तुरन्त दूर हो जाता है।

पद्मपुराण के अनुसार, पापकर्मों के चार प्रकार के फल होते हैं:

१. अप्रारब्ध, २. बीज, ३. प्रारब्ध, और ४. कूट। यह भी उल्लेख कि जो पुरुष भगवान् विष्णु शरणागत होकर पूर्णरूप से कृष्णभावनाभावित भक्तियोग में तत्पर हों, उनके ये चारों प्रकार के पापफल तत्काल विलीन हो जाते हैं।

'प्रारब्ध' फल उन्हें कहते हैं, जो वर्तमान में भोगे जा रहे हैं। 'बीजफल' हृदय में बीजरूप में रहते हैं। 'कूट' फल वे हैं, जो प्रकट होना ही चाहते हैं। 'अप्रारब्ध' उन कर्मों का द्योतक है, जिनके फल अभी अंकुरित नहीं हुए। पद्मपुराण के इस वाक्य से ज्ञात होता है कि प्राकृत कर्मों का बन्धन बड़ा दुर्बोध है। उसका आदि, फलन, परिणाम तथा दुःखरूप में भोग—यह सब एक बड़ी शृंखला है। कोई रोग हो जाने पर यह कहना बड़ा कठिन है कि वह किस कारण से हुआ, कहाँ से आरम्भ हुआ, कैसे बढ़ रहा है, इत्यादि। परन्तु रोग का क्लेश अकस्मात् प्रकट नहीं होता। उसे समय लगता है। जैसे चिकित्सा के क्षेत्र में पूर्वोपाय के रूप में डाक्टर रोग के संक्रमण को रोकने के लिए टीका लगाते हैं, वैसे ही सब प्रकार के पापकर्मों को फलित होने से रोकने के लिए पूर्णतया कृष्णभावनाभावित कर्मों के परायण हो जाना आवश्यक है।

इस संदर्भ में, श्रीमद्भागवत (६.२.१७) में शुकदेव गोस्वामी ने अजामिल की कथा का उल्लेख किया है। उसने अपना जीवन एक कुशल और कर्तव्य-परायण ब्राह्मण के रूप में प्रारम्भ किया था; परन्तु यौवन में वेश्या-संग से बिल्कुल भ्रष्ट हो गया। फिर भी, अपने पापमय जीवन के अंत में नारायण नाम पुकारने के फलस्वरूप उसका सब पापों से उद्धार हो गया। शुकदेव गोस्वामी ने कहा है कि तप, दान, व्रत आदि से पापों का नाश तो हो जाता है; परन्तु हृदय से पाप-बीज का नाश नहीं होता, जैसा यौवन में अजामिल के साथ हुआ। इस पाप-बीज का नाश एकमात्र कृष्णभावनाभावित होने पर ही हो सकता है। श्रीचैतन्य महाप्रभु का सन्देश है कि कृष्णभावना की प्राप्ति हरेकृष्ण महामन्त्र का जप-कीर्तन करने से बड़ी सुगमतापूर्वक हो जाती है, अर्थात् भक्तिपथ को अंगीकार किए बिना पापों से पूर्ण शुद्धि नहीं हो सकती।

वैदिक कर्म, दान, तप आदि के द्वारा कुछ काल के लिए पापफल से मुक्ति हो सकती है, परन्तु अगले ही क्षण वह फिर पाप में प्रवृत्त हो जाता है। उदाहरणार्थ, मैथुन की अधिकता के कारण रोगग्रस्त हुए व्यक्ति को चिकित्सा में भीषण कष्ट होता है; तब भी वह तात्कालिक रूप में ही ठीक हो पाता है। परन्तु हृदय से मैथुन की इच्छा को निर्मूल न कर पाने

से फिर विषयों में प्रवृत्त होता है और वही रोग एकबार फिर हो जाता है। अतः चिकित्सा के उपचार से यौन-रोग के कष्ट से तात्कालिक छुटकारा तो हो सकता है; परन्तु जब तक अभ्यास से यह समझ में नहीं आ जाता कि मैथुन तुच्छ (निन्दनीय) है, तब तक बारम्बार होने वाले ऐसे कष्ट से बचा नहीं जा सकता। इसी प्रकार वैदिक कर्म, दान, तप आदि से क्षणिक रूप में पापकर्मों का परिहार हो सकता है, पर जब तक हृदय शुद्ध नहीं हो जाता, तब तक बराबर पापकर्म बनते ही रहेंगे।

श्रीमद्भागवत में एक दूसरा दृष्टान्त कुंजर-स्नान का दिया गया है। हाथी सरोवर में अच्छी प्रकार से स्नान करता है। फिर बाहर तट पर निकलते ही सारी देह पर धूलि डाल लेता है। इस उदाहरण से बताया गया है कि जिसे कृष्णभावना की शिक्षा नहीं मिली है, वह पापकर्म की वासना से पूर्ण मुक्त नहीं हो सकता। यह न योग से, न मनोधर्म से और न कर्म से ही सम्भव है। केवल भक्तियोग के परायण होने पर पाप-वासना से बचा जा सकता है।

श्रीमद्भागवत (४.२२.३९) में एक अन्य प्रमाण भी है। सनकादि कहते हैं, "हे राजन्! मनुष्य का मिथ्या अहंकार इतना प्रबल है कि उसे भवबन्धन की रस्सी में जकड़े रहता है। कृष्णभावना के परायण होकर केवल भक्तजन ही इस दृढ बन्धन का सुगमता से छेदन कर सकते हैं। दूसरे, जो कृष्णभावनाभावित नहीं हैं, परन्तु बड़े योगी अथवा कर्मी बनने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं, वे भक्तों की भाँति कर्म-बन्धन का मोचन नहीं कर सकते। अतः सबको चाहिए कि मिथ्या अहंकार और प्राकृत कर्मों की दृढ ग्रन्थी से छूटने के लिए कृष्णभावनाभावित क्रियाओं के परायण हो जायें।"

मिथ्या अहंकार की यह दृढ ग्रन्थी अविद्या के कारण है। जीव जब तक अपने स्वरूप को नहीं जान जाता, तब तक अवश्य अनुचित कर्म करेगा और प्राकृत-बन्धन में फँसता जायगा। यह तत्त्वज्ञान का अभाव भी कृष्ण-भावना से दूर हो सकता है, जैसा पद्मपुराण से प्रमाणित है: "कृष्ण-भावनाभावित शुद्धभक्ति वह परमोच्च आलोक है, जो वासनारूप अमंगलकारी सर्पों के लिए दावानल जैसा है। वन में आग लगने पर वहाँ रहने वाले सब सर्प देखते-देखते समाप्त हो जाते हैं। अन्य पशु तो भाग कर प्राणरक्षा कर लेते हैं, परन्तु सर्प तत्काल भस्म हो जाते हैं। इसी प्रकार, कृष्णभावना रूपी प्रज्ज्वलित अग्नि इतनी प्रबल है कि उसके आगे अविद्या रूप सर्प तुरन्त मर जाते हैं।

कृष्णभावना सर्व शुभदा है

श्रील रूप गोस्वामिपाद ने कृष्णभावना के शुभदत्व का विवेचन किया है। वे कहते हैं कि यथार्थ शुभ सम्पूर्ण जगत का कल्याण-कार्य करने में है। आज नाना जनसमूह समाज, जाति और राष्ट्र आदि के कल्याण-कार्य में तत्पर हैं। संयुक्त राष्ट्र के रूप में विश्व-हितक्रिया की दिशा में भी प्रवर्तन चल रहा है। परन्तु संकीर्ण राष्ट्रीयता के दोषों के कारण सम्पूर्ण विश्व समाज के लिए कल्याण कार्य का व्यापक आयोजन व्यावहारिक रूप से सम्भव नहीं है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन इतना सर्वांग सुन्दर है कि यह सम्पूर्ण मानवसमाज का परम उपकार (कल्याण) कर सकता है। सभी इस आन्दोलन के प्रति आकृष्ट हो सकते हैं और इसके परिणाम का अनुभव कर सकते हैं। अतएव श्रील रूप गोस्वामिपाद और अन्य सब विद्वान् इस विषय में एकमत हैं कि कृष्णभावना आन्दोलन के द्वारा सम्पूर्ण जगत् में भक्तियोग का व्यापक स्तर पर प्रचार-प्रसार करना मानव-जाति का सर्वोत्तम परोपकार कार्य है।

कृष्णभावना आन्दोलन सम्पूर्ण विश्व को अपनी ओर आकृष्ट कर सकता है और मनुष्यमात्र इस कृष्णभावना का आस्वादन कर सकता है, ये दोनों पद्मपुराण के इस वाक्य से सिद्ध हो जाते हैं: "जो पुरुष पूर्ण रूप से कृष्णभावनाभावित होकर भक्तियोग में तत्पर है, वह सम्पूर्ण जगत् की सर्वोत्तम सेवा करते हुए जगत् के सब प्राणियों को तृप्त कर लेता है। इतना ही नहीं, स्थावर-जंगम जन्तुओं तक का उसमें अनुराग हो जाता है, वे भी कृष्णभावना आन्दोलन की ओर आकृष्ट हो उठते हैं।" मध्यभारत के झारिखण्ड नामक अंचल में संकीर्तन-प्रचार के लिए ज़ाते हुए श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेव ने इसका प्रत्यक्ष उदाहरण उपस्थित किया है। उन्हें देखकर शेर, हाथी, मृग आदि पशु भी अपनी रीति से हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करते हुए झूमझूम कर नाचने लगे थे।

इसके अतिरिक्त, भक्तियोग में तत्पर कृष्णभावनाभावित पुरुष में देवताओं के सारे गुण विकसित हो जाते हैं। श्रीमद्भागवत (५.१८.१२) में शुकदेव गोस्वामी ने कहा है, "हे राजन्! श्रीकृष्ण के निष्किंचन निश्छल भक्त में सब दैवी गुण पाये जाते हैं। भक्त की विकसित कृष्णभावना के कारण देवता भी उसके संग में निवास करना चाहते हैं, अतः उसके देह में सभी दैवी गुणों का विकास रहता है।"

दूसरी ओर, जो कृष्णभावनाभावित नहीं है, उसमें कोई सद्गुण नहीं होता। संसार की दृष्टि से वह बड़ा विद्वान् हो सकता है, परन्तु अपनी

वास्तविक क्रियाओं में तो वह पशुओं से भी अधम दिखता है। यदि कोई विद्वान् कहलानेवाला मानसिक स्तर से ऊपर नहीं उठ सकता, तो यह निश्चित है कि उससे केवल प्राकृत कर्म ही बनेंगे; इस प्रकार वह सदा अशुद्ध रहेगा। आधुनिक जगत् में ऐसे अनेक व्यक्ति हैं, जिन्होंने जड विद्या के विश्वविद्यालयों में गम्भीर अध्ययन किया है; पर फिर भी वे कृष्ण-भावना आन्दोलन को अंगीकार नहीं कर सकते। इसलिए उनमें सद्‌गुणों का विकास नहीं हो सकता।

विश्वविद्यालय की दृष्टि के अनुसार सुशिक्षित न होने पर भी कृष्ण-भावनाभावित बालक परस्त्रीगमन, द्युत, मांसाहार और मद्यपान, आदि कुकर्मों को तत्काल त्याग सकता है। दूसरी ओर, जो कृष्णभावनाभावित नहीं हैं, वे उच्च शिक्षा-प्राप्त होने पर भी प्रायः मद्यप, मांसाहारी, लम्पट और द्युत-परायण पाये जाते हैं। यह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि एक कृष्णभावनाभावित पुरुष में सद्‌गुणों का बहुत अधिक विकास हो जाता है, जबकि कृष्णभावनाविहीन ऐसा नहीं कर सकता। हमारा अनुभव है कि कृष्णभावनाभावित नवयुवक भी चलचित्र, नाईट क्लब, नग्न नृत्य, होटल, मद्यशाला आदि में रुचि नहीं रखता। वह इन सभी अनर्थों से मुक्त हो जाता है और इस प्रकार अपने अमूल्य समय को धूम्रपान, मद्य-पान, थेटर, नृत्य आदि में अपव्यय होने से बचाता है।

जो कृष्णभावना में नहीं है, वह आधे घण्टे भी एकाग्र होकर चुप-चाप नहीं बैठ सकता। आजकल प्रचलित योग-पद्धति सिखाती है कि चुप बैठे रहने से साधक को यह अनुभूति हो जायगी कि वह ईश्वर है। यह पद्धति विषयी व्यक्तियों की समझ से उपयुक्त हो सकती है, परन्तु यह भी सोचना चाहिए कि कितने समय तक वे चुप रह सकेंगे ? कोई कृत्रिम रूप से मिथ्या ध्यान के लिए बैठ भी जाय, पर यौगिक अभ्यास के तत्काल बाद फिर परस्त्रीगमन, मद्यपान, द्युत, मांसाहार, आदि अनर्थों में प्रवृत्त हो जायगा। कृष्णभावनाभावित पुरुष इस कपट-ध्यान के लिए आयास किए बिना ही शनैः-शनैः आत्मोन्नति करता जाता है। कृष्णभावना-परायण होने के कारण वह अनायास इन सब अनर्थों को त्याग कर सच्चरित्र का विकास कर लेता है। सच्चरित्र का विकास श्रीकृष्ण का शुद्धभक्त बनने पर ही होता है। निष्कर्ष यह है कि जिसमें कृष्णभावना का अभाव है, उसमें कोई भी यथार्थ सद्‌गुण नहीं हो सकता।

कृष्णभावना का सुख

श्रील रूप गोस्वामी ने सुख को तीन कोटियों में बाँटा है। उनके

अनुसार सुख के तीन भेद ये हैं : १. विषयों का सुख २. परब्रह्म से अपने को एक मानने का सुख तथा ३. कृष्णभावना से प्राप्त होने वाला सुख।

'तन्त्रशास्त्र' में शिवजी सती से कहते हैं, "हे साध्वि ! जिसने भगवान् गोविन्द के चरणों में शरणागत होकर शुद्ध कृष्णभावना का विकास कर लिया है, वह बड़ी सुगमता से निर्विशेषवादियों द्वारा अभिलाषित सभी सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है; इसके अतिरिक्त, वह शुद्धभक्तों को मिलने वाले परमानन्द का आस्वादन कर सकता है।"

शुद्ध भक्तियोग का सुख परमोच्च है, क्योंकि वह शाश्वत् है। प्राकृत सिद्धियों अथवा ब्रह्मैक्य से होने वाला सुख क्षणभंगुर होने के कारण तुच्छ है। प्राकृत सुख से पतन का कोई प्रतिबन्ध नहीं है, यहाँ तक कि निर्विशेष ब्रह्म के सायुज्य से प्राप्त अप्राकृत सुख तक से गिरने की पूरी सम्भावना रहती है।

देखा जाता है कि परम विद्वान् और लगभग तत्त्व-साक्षात्कार के स्तर पर पहुँचे हुए मायावादी संन्यासी भी कभी-कभी राजनीतिक अथवा सामाजिक परोपकार-कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि निर्विशेष के ज्ञान में उन्हें कोई आत्यन्तिक सुख नहीं मिलता; इसीलिए वे बाध्य होकर प्राकृत स्तर पर उतर आते हैं और एक बार फिर प्रापंचिक कार्यों में फँस जाते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण हैं। परन्तु पूर्णतया कृष्ण-भावनाभावित पुरुष किसी भी प्रकार के प्राकृत स्तर पर फिर कभी नहीं उतरता। वे चाहे कितने भी मोहक और आकर्षक क्यों न हों, वह भली भाँति जानता है कि कोई प्राकृत परोपकार कार्य कृष्णभावना के दिव्य कर्मों की तुलना नहीं कर सकता।

यथार्थ में सफल हुए योगियों को आठ प्रकार की सिद्धियाँ होती हैं। पहली 'अणिमा' सिद्धि के द्वारा इतना सूक्ष्म बना जा सकता है कि पत्थर तक में प्रवेश किया जा सके। आधुनिक विज्ञान ने भी इस सिद्धि को प्राप्त किया है—उसके द्वारा भू-खनन किया जाता है। इसी प्रकार अन्य सभी सिद्धियाँ भी वस्तुतः प्राकृत कलायें हैं। उदाहरणार्थ, एक योगसिद्धि से मनुष्य इतना हल्का हो जाता है कि जल-वायु में तैर सकता है। आधुनिक वैज्ञानिकों को इसमें भी सफलता मिली है। वे वायुमण्डल में उड्डयन करते हैं, जल पर तैरते हैं और जल के नीचे यात्रा करते हैं।

इन सब योगसिद्धियों की प्राकृत उपलब्धियों से तुलना करने पर

स्पष्ट है कि वास्तव में प्राकृत वैज्ञानिक भी इन्हीं सिद्धियों के लिए यत्नशील हैं। अतः प्राकृत-सिद्धि और योगसिद्धि में वस्तुत कोई अन्तर नहीं है। एक जर्मन मनीषी ने एक बार कहा था कि तथाकथित योगसिद्धियों को आधुनिक वैज्ञानिकों ने पहले ही प्राप्त कर लिया है, इसलिए उसकी उसमें कोई रुचि नहीं है। वह बुद्धिमानी से भारत आया और भक्तियोग के द्वारा भगवान् से अपने नित्य सम्बन्ध को जाना।

निस्सन्देह, योगसिद्धि की श्रेणी में कुछ ऐसी पद्धतियाँ भी हैं, जिन्हें आधुनिक वैज्ञानिक अभी तक विकसित नहीं कर सके हैं। जैसे, योगी सूर्य-किरणों के द्वारा सूर्य में प्रविष्ट हो सकता है। इस सिद्धि को 'लघिमा' कहते हैं। ऐसे ही, योगी अपने हाथ से चन्द्रमा आदि नक्षत्रों को छू सकता है। आधुनिक अन्तरिक्षयात्रियों को चन्द्रमा तक जाने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जबकि सिद्ध योगी केवल हाथ आगे बढ़ाकर अंगुली से चन्द्रमा का स्पर्श कर सकता है। यह 'प्राप्ति' सिद्धि है। इस शक्ति से युक्त योगी कहीं भी हाथ बढ़ाकर किसी भी अभिलाषित वस्तु को प्राप्त कर सकता है। किसी स्थान से चाहे वह हजारों मील दूर बैठा हो, परन्तु यदि चाहे तो वहाँ पर स्थित उद्यान् के फल खा सकता है। इसी का नाम 'प्राप्ति' है।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने परमाणु अस्त्रों का निर्माण कर लिया है, जो इस लोक के एक नगण्य भाग को नष्ट कर सकते हैं; परन्तु 'ईशिता' नाम योग-सिद्धि द्वारा संकल्प मात्र से किसी भी लोक का सृजनसंहार किया जा सकता है। एक अन्य 'वशिता' सिद्धि है, जिससे किसी को भी अपने वश में कर सकते हैं। यह एक दुर्धर वशीकरण सी है। कभी-कभी देखा जाता है कि इस वशिता शक्ति की आंशिक सिद्धि वाला योगी जन-साधारण में आकर सब प्रकार का अनर्गल बोलता है, जनता के मन को वश में करके धन अपहरण करता है और फिर भाग जाता है।

एक 'प्राकाम्य' नामक सिद्धि भी होती है। इसके द्वारा मन की कोई भी कामना पूरी की जा सकती है। जैसे, नेत्र में जल को प्रवेश कराकर फिर वापस निकालना योगी संकल्पमात्र से ऐसे-ऐसे अद्भुत कार्य कर सकता है।

योगशक्ति की सर्वोच्च सिद्धि 'कामावसायिता' कहलाती है। प्राकाम्य शक्ति से जहाँ प्रकृति के अन्तर्गत ही अद्भुत कार्य हो सकते हैं; इस शक्ति से प्रकृति-विरुद्ध अर्थात् असम्भव कार्य भी सम्भव हो जाते हैं। योग की इन सब प्राकृत सिद्धियों के द्वारा विशाल क्षणिक सुख उपलब्ध हो सकता है।

आधुनिक प्राकृत उन्नति की चकाचौंध से मोहित लोग मूर्खतापूर्वक समझते है कि कृष्णभावनामृत आन्दोलन मन्दों के लिए है। वे सोचते हैं, "विषय साधनों वाला मैं इन से श्रेष्ठ हूँ; मुझे सुन्दर आवास, परिवार और मैथुन का सुख प्राप्त है।" वे नहीं जानते कि किसी भी क्षण वे अपनी प्राकृत स्थिति से बाहर फेंके जा सकते हैं। अज्ञानवश उन्हें पता नहीं कि यथार्थ जीवन नित्य है। शरीर के तात्कालिक सुख जीवन के लक्ष्य नहीं हैं; अज्ञानरूपी घोर अन्धकार के कारण ही लोग प्राकृत सुखों की उन्नति की चकाचौंध पर मोहित हो रहे हैं।

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने इस सन्दर्भ में लिखा है कि प्राकृत विद्या को उन्नति मनुष्य को उत्तरोत्तर अधिक मूढ कर देती है, क्योंकि उसकी चकाचौंध से वह अपना यथार्थ स्वरूप भुला बैठा है। यह उसका नाश है; कारण, मनुष्यजीवन का वास्तविक उद्देश्य प्राकृत बन्धन से छूटना है। प्राकृत जड विद्या के विकास से लोग भवबन्धन में दिन-पर-दिन और पड़ते जा रहे हैं। उनके लिए इस महाविनाश से उद्धार की कोई आशा नहीं।

'हरिभक्तिसुधोदय' में प्रह्लाद महाराज भगवान् नृसिंह से प्रार्थना करते हैं, "देव ! आपके चरणारविन्द में मेरा बारम्बार यही निवेदन है कि आपमें मेरी दृढ़ अनन्य भक्ति हो। बस, यही इच्छा है कि मेरी कृष्णभावना में स्थिर निष्ठा हो, क्योंकि कृष्णभावना और भक्तियोग का सुख इतना प्रबल होता है कि उसके साथ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि सब सिद्धियाँ अपने-आप सुलभ हो जाती हैं।"

वास्तव में शुद्धभक्त इनमें से किसी सिद्धि की अभिलाषा नहीं रखता, क्योंकि कृष्णभावनाभावित भक्तियोग का सुख इतना दिव्य और अपरिमेय हुआ करता है कि किसी अन्य सुख की उससे तुलना नहीं हो सकती। सिद्धान्त है कि किसी भी अन्य क्रिया से मिलने वाले सुख का सागर तक कृष्णभावना के सुख के एक बिन्दु के समान भी नहीं हो सकता। अतएव जिस मनुष्य ने थोड़ा भी शुद्ध भक्तियोग का विकास कर लिया हो, वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष से मिलने वाले अन्य सब प्रकार के सुख को सहज में तिलांजलि दे सकता है।

खोलवेचा श्रीधर नामक श्रीचैतन्य महाप्रभु का एक परम भक्त था। वह अत्यन्त अकिंचन था। वह केले के पत्ते बेचा करता था, जिससे उसकी नगन्य सी आय थी। ऐसी स्थिति में भी वह अपनी आय का आधा भाग गंगा-पूजन पर व्यय करता और शेष अंश से जैसे-तैसे काम चलाता।

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने एक समय इस अंतरंग भक्त को अपना साक्षात्कार कराया था और उससे किसी इच्छित ऐश्वर्य को माँग लेने को कहा था। परन्तु श्रीधर ने श्रीमन्महाप्रभु से निवेदन किया कि वह किसी प्राकृत ऐश्वर्य की इच्छा नहीं रखता। उसे अपनी स्थिति में पूर्ण सुख था; वह बस इतना चाहता था कि श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों में उसकी अनन्य निष्ठा और भक्ति हो। यह शुद्धभक्तों की स्थिति है। यदि वे निरन्तर दिन में चौबीस घण्टे भक्तियोग में तत्पर रह सकें, तो फिर उन्हें और कुछ नहीं चाहिए। उन्हें तो मुक्ति अथवा ब्रह्मैक्य के सुख की इच्छा तक नहीं होती।

'नारदपंचरात्र' में कहा है कि जिसमें भक्ति का कुछ भी विकास हुआ हो, वह पुरुष धर्म, अर्थ, काम अथवा पाँच प्रकार की मुक्ति से होने वाले सुख को बिलकुल तुच्छ समझता है। शुद्धभक्त के हृदय में ऐसा कोई सुख प्रवेश तक नहीं कर सकता। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के सुख तो दासियों के समान अभिवादन करते हुए भक्ति रूप महारानी के पीछे-पीछे चला करते हैं। भाव यह है कि शुद्धभक्त को किसी भी स्रोत से मिलने वाले सुख का अभाव नहीं रहता। उसे कृष्णसेवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए। परन्तु यदि वह कोई अन्य इच्छा करे भी, तो उसके माँगे बिना ही भगवान् उसे पूरा कर देते हैं।

शुद्धभक्ति की सुदुर्लभता

परमार्थ की प्रारंभिक दशा में स्वरूप-साक्षात्कार के लिए नाना प्रकार के तप, त्याग आदि साधनों का विधान है। यदि कोई साधक विषय-वासना से रहित हो, तो भी भक्तियोग की प्राप्ति दुर्लभ है। स्वयं साधन करने पर अधिक आशा नहीं है, क्योंकि श्रीकृष्ण जिस किसी को भक्ति का दान नहीं देते। श्रीकृष्ण प्राकृत सुख अथवा मुक्ति तो दे सकते हैं, पर इतनी सरलता से किसी को भक्तियोग में नहीं लगाते। वास्तव में भक्तियोग की प्राप्ति शुद्धभक्त की कृपा से ही होती है। चैतन्य-चरितामृत (मध्य १९.१५१) में कहा है, "श्रीकृष्ण के शुद्धभक्त—गुरुदेव और स्वयं श्रीकृष्ण की कृपा से ही भक्तियोग की प्राप्ति होती है। भक्ति का कोई दूसरा मार्ग नहीं है।"

भक्ति की दुर्लभता को 'तन्त्रशास्त्र' ने भी स्वीकार किया है। शिवजी सती से कहते हैं : "हे साध्वि! तत्त्वज्ञानी को भवबन्धन से मुक्ति मिल सकती है और वैदिक यज्ञादि के पुण्यफल से पूर्ण विषय सुख हो

सकता है; परन्तु हजारों जन्मों तक यत्न करने पर भी इन साधनों से भक्ति दुर्लभ ही रहती है ।''

श्रीमद्भागवत में प्रह्लाद महाराज का वचन है कि केवल निजी प्रयास से अथवा अधिकारी पुरुषों के उपदेश से भक्तियोग की प्राप्ति नहीं हुआ करती । इसके लिए विषयवासना से रहित शुद्धभक्त के चरणारविन्द का रजप्रसाद चाहिए ।

श्रीमद्भागवत (५.६.१८) में नारदजी युधिष्ठिर से कहते हैं, "हे राजन् ! भगवान् मुकुन्द (श्रीकृष्ण) ही पाण्डवों और यादवों के शाश्वत् स्वामी (रक्षक) हैं । वे तुम्हारे गुरु, सर्वविध शिक्षक, आराध्य देव हैं, इष्ट और प्रेमास्पद हैं तथा सब प्रकार से कुलपति हैं । अधिक क्या, कभी-कभी तो वे सेवक की भाँति तुम्हारी आज्ञा-पालन तक करते हैं । राजन् ! तुम कितने भाग्यवान हो ! तुम पर भगवान् श्रीकृष्ण के इस कृपाप्रसाद की दूसरे तो कल्पना भी नहीं कर सकते ।'' इस श्लोक का भाव यह है कि भगवान् मुक्ति सुगमता से दे देते हैं, परन्तु भक्तियोग किसी दुर्लभ जीव को ही देते हैं । कारण यह है कि भक्तियोग से भगवान् स्वयं भक्त के क्रीतदास हो जाते हैं ।

भक्ति का सान्द्रानन्द स्वरूप

श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं कि यदि ब्रह्मानन्द को करोड़ों गुणा कर दिया जाय, तो भी भक्तिसुख के सागर के एक परमाणु की भी बराबरी वह नहीं कर सकता ।

हरिभक्तिसुधोदय में प्रह्लाद महाराज भगवान् नृसिंह को अपनी प्रार्थना से प्रसन्न करते हुए कहते हैं, "हे जगद्गुरु भगवन् ! आपके साक्षात्कार के विशुद्ध सुखरूप सिन्धु में मग्न हुए मुझ को इस सुख की तुलना में ब्रह्मानन्द गौ के खुर जैसा अत्यन्त तुच्छ लगता है ।'' इसी प्रकार श्रीधर स्वामी द्वारा विरचित श्रीमद्भागवत की 'भावार्थदीपिका' टीका में प्रमाणित है, "भगवन् ! आपके भक्तिरसामृतरूप सागर में विहरण करते हुए आपके कथामृत का आस्वादन करने वाले परमानन्दमग्न कोई-कोई भाग्यवान् भक्तजन भक्तियोग के अतिरिक्त धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के सुख को तृण के समान समझते हैं ।''

श्रीकृष्णाकर्षिणी

श्रील रूप गोस्वामी का कथन है कि भक्ति श्रीकृष्ण को भी आकर्षित कर लेती है । श्रीकृष्ण सर्वाकर्षक हैं; परन्तु भक्ति श्रीकृष्णाकर्षिणी है । भक्ति

के लक्षणों की चरम मूर्ति श्रीमती राधारानी हैं। श्रीकृष्ण को मदनमोहन कहा जाता है, वे कोटि-कोटि कंदर्प-दर्प-दलन हैं। परन्तु राधारानी तो और भी अधिक आकर्षक हैं, यहाँ तक कि वे श्रीकृष्ण तक को आकृष्ट कर लेती हैं। अतः भक्तजन उन्हें मदनमोहनमोहनी कहते हैं।

भक्ति का आचरण करने का अर्थ राधारानी के चरणचिन्हों का अनुसरण करना है। इसीलिए बृन्दावन में भक्तजन राधारानी का आश्रय लेते हैं, जिससे उनकी भक्ति सिद्ध हो जाय। कहने का भाव यह है कि भक्ति प्राकृत-जगत् की क्रिया नहीं है; वह तो प्रत्यक्ष रूप से राधारानी के नियंत्रण में आती है। भगवद्गीता में प्रमाण है कि महात्मा पुरुष दैवी प्रकृति-राधारानी के आश्रित हैं। अतः साक्षात् श्रीकृष्ण की अंतरंगा शक्ति द्वारा संचालित होने के कारण भक्ति स्वयं श्रीकृष्ण को भी अपने वश में कर लेती है।

श्रीकृष्ण ने स्वयं श्रीमद्भागवत (११.१४.२०) में इस सत्य को स्वीकार किया है "हे उद्धव ! भक्तों की प्रबल भक्ति मुझे जिस प्रकार आकर्षित कर सकती है, वैसे योग, सांख्य, धर्म, वेदान्त स्वाध्याय, तप, त्याग, दान, आदि पुण्यकर्म नहीं कर सकते।"

भक्तों की भक्ति के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण के आकृष्ट होने का वर्णन श्रीमद्भागवत (७.१०.४३-४४) में नारदजी ने किया है। राजा युधिष्ठिर प्रह्लाद् महाराज का गुणगान कर रहे थे, उस समय नारदजी ने उन्हें सम्बोधित किया। सच्चा भक्त सदा दूसरे भक्तों की क्रियाओं का महिमागान करता है। युधिष्ठिर महाराज प्रह्लाद जी का गुणगान कर रहे थे, जो शुद्धभक्त का लक्षण है। शुद्धभक्त अपने को कभी महान् नहीं समझता। वह तो निरन्तर दूसरे-दूसरे भक्तों को ही अपने से श्रेष्ठ मानता है। राजा सोच रहे थे, "प्रह्लाद् महाराज भगवान् के यथार्थ भक्त हैं, मैं तो कुछ भी नहीं हूँ।" ऐसे समय में नारदजी ने उनसे कहा, "युधिष्ठिर ! इस संसार में एकमात्र तुम पाण्डव ही भाग्यशाली हो, क्योंकि तुम्हारे घर में साक्षात् नराकृति परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण रहते हैं। वे औरों से बचते हैं, पर किसी भी परिस्थिति में तुम्हारा साथ नहीं छोड़ते। जिन परमेश्वर को दूसरे नहीं जानते, वे ही तुम्हारे साथ भाई, मित्र और सेवक तक बन कर रह रहे हैं। निश्चय ही तुम से बढ़कर भाग्यवान् त्रिभुवन में नहीं है।"

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण द्वारा अपना विश्वरूप प्रकट करने पर अर्जुन बोला, "हे कृष्ण, आपको अपना सखा मान कर मैंने "हे कृष्ण ! हे सखे !"—इस प्रकार पुकार कर आपका बहुत प्रकार से अपमान किया।

परन्तु आप इतने महान् हैं, यह मैं नहीं जान सका।" अस्तु, पाण्डवों को ऐसी दुर्लभ स्थिति प्राप्त थी। यद्यपि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् और देवाधिदेव हैं, फिर भी वे इन पाण्डवों की भक्ति, सख्य और प्रेम के वशीभूत होकर उनके साथ रहे। यह भक्तियोग की अगाध महिमा को सिद्ध करता है। वह भगवान् को भी वश में कर सकती है। भगवान् महान् हैं; पर भक्ति की महिमा उससे भी बढ़कर है, क्योंकि वह उन्हें भी आकर्षित कर लेती है। जो लोग भक्तियोग में नही हैं, वे यह कभी नहीं समझ सकते कि भगवत्सेवा की कितनी अतुल महिमा-गरिमा है।

अध्याय २

साधनभक्ति

श्रील रूप गोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु में भक्ति की तीन श्रेणियों का वर्णन किया है—साधनभक्ति, भावभक्ति तथा प्रेमाभक्ति। इनमें से प्रत्येक के अनेक उपभेद हैं। सामान्यतः साधनभक्ति में दो विशेषतायें हैं। भावभक्ति में चार विशेषतायें हैं तथा प्रेमाभक्ति में छः विशेषतायें हैं। श्रील रूप गोस्वामी क्रमशः इन सब का विवेचन करेंगे।

इस सन्दर्भ में रूप गोस्वामी कहते हैं कि कृष्णभावना अथवा भक्तियोग के पात्रों का उनकी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार वर्गीकरण किया जा सकता है। उनका कथन है कि भक्ति का साधन पूर्वजन्म से आनुपूर्वी रूप में निरन्तर चला आता है। भक्ति से कुछ न कुछ पूर्व-सम्बन्ध के बिना कोई भी मनुष्य भक्तिमार्ग में प्रवेश नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ, कोई इस जीवन में भक्ति का थोड़ा सा साधन करता है। उसका साधन पूर्ण चाहे न हो, परन्तु जितना साधन किया है, वह नष्ट नहीं होगा। अगले जन्म में वह इससे आगे साधन में लग जायगा। इस प्रकार भक्ति का साधन निरन्तर चलता रहता है। परन्तु यदि ऐसा पूर्वक्रम न हो और कोई अकस्मात् शुद्धभक्त के उपदेश में रुचि लेने लगे तो उसे भी अंगीकार किया जा सकता है; वह भी भक्ति में उन्नति कर सकता है। चाहे जो हो, जिनकी भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों को समझने में स्वाभाविक रुचि है, केवल मनोधर्म और तर्क के परायण रहनेवालों की तुलना में उनके लिए भक्तियोग सुगम है।

इस कथन के समर्थन में प्राचीन विद्वानों के बहुत से प्रमाण हैं। उनके सामान्य मत के अनुसार, चतुर तार्किक जिस सिद्धान्त को यत्नपूर्वक सिद्ध करते हैं, उसे उनसे प्रबल तार्किक अपनी युक्ति के बल पर काटकर अन्यथा सिद्ध कर देते हैं। इस प्रकार तर्क के पद की कुछ भी प्रतिष्ठा नहीं है। अतएव श्रीमद्भागवत आचार्यों का अनुगमन करने को कहती है।

यहाँ श्रील रूप गोस्वामी द्वारा भक्तियोग का सामान्य वर्णन हुआ है। पूर्व में, भक्ति की साधनरूपा, भावरूपा और प्रेमरूपा, इन तीन श्रेणियों का उल्लेख है। अब श्रील रूप गोस्वामी साधनभक्ति का विवेचन करते हैं।

साधन का अर्थ किसी कार्य-विशेष में इन्द्रियों को लगाना होता है। अतः साधनभक्ति का अर्थ है अपनी सब इन्द्रियों से श्रीकृष्ण की सेवा करना। कुछ इन्द्रियाँ ज्ञान-अर्जन के लिए हैं तो कुछ संकल्प, संवेदन और विचार को कार्यरूप देने के लिए हैं। इस प्रकार साधन का अभिप्राय मन और इन्द्रियों को भक्तियोग के आचरण में लगाना हुआ। यह साधन किसी अस्वाभाविक (कृत्रिम) गुण को विकसित करने के लिए नहीं है। जैसे, कोई बालक चलना सीखता है। यह चलना अस्वाभाविक नहीं है। चलने की योग्यता मूल रूप में बालक में होती है; इसलिए केवल थोड़े साधन से वह भली प्रकार चलने लगता है। इसी भाँति, भगवद्भक्ति जीव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। आदिवासी जैसे असभ्य मनुष्य तक प्रकृति के नियम से घटने वाली किसी अद्भुत घटना के प्रति नतमस्तक हुए बिना नहीं रह पाते; वे तब यह समझते हैं कि इस अद्भुत घटना अथवा कार्य के पीछे किसी दैवी सत्ता का हाथ अवश्य है। अतएव यह भावना जीव मात्र में है, चाहे बद्धावस्था में सुप्त रूप में हो क्यों न रहे। प्राकृत दोषों के आवरण से शुद्ध हो जाने पर यह कृष्णभावना कहलाती है।

ऐसे विधि-विधान हैं, जिनसे हम अपनी इन्द्रियों और मन को इस प्रकार लगा सकते हैं कि हमारा सोया हुआ कृष्णप्रेम जागृत हो जाय, ठीक उसी प्रकार जैसे थोड़े अभ्यास से बच्चा चलने लगता है। जिसमें चलने की मूल क्षमता नहीं है, वह कितना भी अभ्यास क्यों न करे, पर चल नहीं सकता। कृष्णभावना को किसी भी साधन से सिद्ध नहीं किया जा सकता। वास्तव में ऐसा कोई साधन नहीं है। वह तो नित्यसिद्ध है। परन्तु जब जीव भक्ति को, जो उसका आन्तरिक गुण है, विकसित करना चाहे, तो ऐसे कुछ साधन हैं जिनका आचरण करने से वह सोया हुआ गुण जागृत हो जायगा। इसी अभ्यास का नाम साधनभक्ति है।

मायाशक्ति के वशीभूत हुआ जीव अस्वाभाविक प्रमत्त दशा में है। श्रीमद्भागवत में कहा है, "सामान्यतः बद्धजीव उन्मत्त रहता है क्योंकि वह निरन्तर उन्हीं क्रियाओं में तत्पर है, जो बन्धन और दुःख का कारण बनती हैं।" मूल रूप में आत्मा सच्चिदानन्दमय है। प्राकृत क्रियाओं में पड़ जाने के कारण ही वह दुःखी, क्षणिक और पूर्ण रूप से अज्ञानी हो गया

है। यह 'विकर्म' का फल है। 'विकर्म' उस कर्म को कहते हैं, जिसे नहीं करना चाहिए। इसके उपचाररूप में साधनभक्ति का आचरण करना है। इस अभ्यास के मुख्य अंग ये हैं—प्रातः काल मंगल-आरती (अर्चन) करना, कुछ प्राकृत क्रियाओं से बचना, गुरुवन्दन आदि। अन्य बहुत से विधि-विधानों का पालन भी करना है, जिनका वर्णन आगे क्रमानुसार किया जायगा। इन साधनों से उन्माद दूर करने में सहायता मिलेगी। वैद्य मनुष्य के मस्तिष्करोग को दूर करता है और यह साधनभक्ति माया के कारण बद्धजीव की उन्मत्तता को मिटा देती है।

नारद मुनि ने इस साधनभक्ति का उल्लेख श्रीमद्भागवत (७.१.३२) में किया है। वे महाराज युधिष्ठिर से कहते हैं, "हे राजन् ! जिस किसी उपाय से मन को श्रीकृष्ण में लगाना है।" इसी का नाम कृष्णभावनामृत है। आचार्य का कर्तव्य है कि ऐसे उपाय करें जिससे शिष्य का चित्त श्रीकृष्ण में एकाग्र हो जाय। यही साधनभक्ति का उपक्रम है।

श्री चैतन्य महाप्रभु ने इस उद्देश्य से हमें एक प्रामाणिक कार्यक्रम दिया है, जो हरे कृष्ण मन्त्र के कीर्तन पर आधारित है। यह कीर्तन इतना दिव्य शक्तिसम्पन्न है कि इसके साधन से श्रीकृष्ण में तत्काल आसक्ति हो जाती है। इससे 'साधनभक्ति' का सूत्रपात होता है। जिस किसी प्रकार मन को श्रीकृष्ण में निवेशित करना है। सन्तप्रवर अम्बरीष महाराज ने राज्य का दायित्व होते हुए भी अपने मन को श्रीकृष्ण में लगा रखा था। इस प्रकार जो कोई अपने मन को एकाग्र करने का साधन करेगा, वह अपनी स्वरूपभूत कृष्णभावना का पुनर्जागरण करने में बहुत शीघ्र सफल होगा।

इस साधनभक्ति का भी दो भागों में वर्गीकरण किया जा सकता है। पहली, 'वैधी' नामक साधनभक्ति में गुरु-आज्ञा अथवा शास्त्रप्रमाण के आधार पर विविध विधानों का पालन करना अनिवार्य है। इसमें तर्क अथवा प्रमाद का प्रश्न ही नहीं बनता, विधि का पालन आवश्यक कर्तव्य है। दूसरी, 'रागानुगा' साधनभक्ति की प्राप्ति तब होती है जब साधक विधि का पालन करता हुआ श्रीकृष्ण में अधिक अनुरक्त हो जाता है और सहज प्रेमवश भक्ति करने लगता है। जैसे किसी साधक-भक्त को प्रातः काल मंगल आरती के समय उठने का आदेश दिया जाय। प्रारम्भ में वह गुरु-आज्ञा के अनुसार प्रातः ब्राह्ममुहूर्त में उठकर आरती करता है, पर कालान्तर में उसका इस कार्य में यथार्थ अनुराग हो जाता है। इस आसक्ति का उदय होने पर वह स्वतः मूर्ति का शृंगार करने लगता है,

नाना प्रकार के वस्त्रालंकार बनाता है और भक्ति का सर्वांग सुन्दर आचरण करने के लिए अनेक संकल्प करता है। साधनभक्ति की श्रेणी में होते हुए भी यह प्रेममयी सेवा रागानुगा है। अस्तु, साधनभक्ति की वैधी और रागानुगा—दो श्रेणियाँ सिद्ध हुईं।

रूप गोस्वामी ने 'वैधीभक्ति' की व्याख्या इस प्रकार की है : "जब राग अथवा रागानुगा भगवत्सेवा के बिना केवल और गुरु अथवा शास्त्र की आज्ञा के बल पर भगवत्सेवा में प्रवृत्ति होती है, उसे 'वैधीभक्ति' कहते हैं।"

'वैधीभक्ति' का श्रीमद्भागवत (२.१.५) में भी वर्णन है, जहाँ शुकदेव गोस्वामी मुमुर्षु महाराज परीक्षित का उनके योग्य आचरण का निर्देश किया है। महाराज परीक्षित की शुकदेव से भेंट मरने से केवल सात दिन पहले हुई। उस समय राजा अपने मरण-काल के कर्तव्य के विषय में बहुत चिन्तित थे। दूसरे-दूसरे कितने ही ऋषि वहाँ पधार चुके थे, पर कोई उन्हें उपयुक्त निर्देश नहीं दे सका। ऐसे में शुकदेव जी ने उन्हें आज्ञा दी—"हे राजन्! यदि सात दिन बाद आने वाली भयावह मृत्यु का सामना तुम निर्भय होकर करना चाहते हो तो अविलम्ब भगवान् श्रीहरि का श्रवण, कीर्तन और स्मरण करने लगो।" यदि कोई हरेकृष्ण महामन्त्र का श्रवण-कीर्तन करता हुआ भगवान् श्रीकृष्ण को निरन्तर स्मरण रखे तो मृत्यु कभी भी क्यों न आय, उसे कोई भय नहीं रहेगा।

शुकदेव गोस्वामी के वाक्यों में कहा गया है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, अतः नित्य उन्हीं में कथा का श्रवण करना चाहिए। शुकदेवजी ने देवताओं का श्रवण-कीर्तन करने को नहीं कहा है। मायावादियों का मत है कि किसी भी नाम का कीर्तन किया जा सकता है; वह नाम चाहे श्रीकृष्ण का हो अथवा किसी देवता का, दोनों का एक परिणाम होगा। परन्तु वास्तव में यह सत्य नहीं है। श्रीमद्भागवत के प्रमाण के अनुसार, केवल भगवान् विष्णु (कृष्ण) का ही श्रवण-कीर्तन करना है।

शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को परामर्श दिया है कि मृत्युभय की निवृत्ति के लिए सब प्रकार से निरन्तर भगवान् श्रीकृष्ण का श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिए। वे यह कहते हैं कि भगवान् 'सर्वात्मा' हैं, अर्थात् सबके परमात्मा हैं। श्रीकृष्ण को 'ईश्वर' भी कहा गया है; क्योंकि वे सबके अन्तर्यामी परम नियन्ता हैं। अतः यदि किसी प्रकार हम श्रीकृष्ण में आसक्त हो जायें तो वे हमें सब प्रकार के भय से मुक्त कर देंगे। भगवद्गीता में उल्लेख है कि भगवान् के भक्त का कभी नाश

नहीं होता। पर दूसरों का अवश्य नाश होता है। नाश होता है, अर्थात् इस मनुष्ययोनी की प्राप्ति होने पर भी वे जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त नहीं हो पाते और इस प्रकार इस स्वर्ण अवसर को खो बैठते हैं। ऐसा व्यक्ति नहीं जानता कि प्रकृति के नियम उसे कहाँ फेंक रहे हैं।

यदि कोई मनुष्य-योनि में अपनी कृष्णभावना को जागृत नहीं करता तो उसे ८४,००,००० योनियों में जन्म-मृत्यु के चक्र में फेंक दिया जायगा और उसका आत्मस्वरूप खोया रहेगा। जीव-योनियाँ अनेक हैं, कोई नहीं जानता कि वह आगे पौधा बनेगा, पशु अथवा, पक्षी या कुछ और। अपनी आद्यस्वरूपभूत कृष्णभावना को पुनः उद्‌भावित करने के लिए रूप गोस्वामी का परामर्श है कि किसी न किसी प्रकार हमें अपना मन दृढ़ता से श्रीकृष्ण में निवेशित कर देना चाहिए। ऐसा करके परिणाम में मृत्यु से निर्भय हो जायें। मरने के बाद हमारी गति क्या होगी, हमें पता नहीं, क्योंकि हम पूर्ण रूप से प्रकृति के नियमों के परवश हैं। एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण का प्रकृति पर नियन्त्रण है। इसलिए यदि हम निष्कपट भाव से श्रीकृष्ण का आश्रय ले लें तो नाना योनियों के चक्र में वापस फेंके जाने का भय न रहेगा। निश्छल भक्त निश्चित रूप से कृष्णलोक में प्रवेश करेगा, जैसा भगवद्‌गीता से प्रमाणित है।

'पद्मपुराण' में भी इसी पद्धति का विधान है। वहाँ कहा है कि निरन्तर भगवान् विष्णु का स्मरण करना चाहिए। श्रीकृष्ण के इस नित्य चिन्तन को 'ध्यान' कहते हैं। विधान है कि मन को विष्णु पर एकाग्र करके ध्यान करे। पद्मपुराण के अनुसार, ध्यान के द्वारा मन को श्रीविष्णु में निवेशित कर देना चाहिए, जिससे क्षणभर को भी उनका विस्मरण कभी न हो। चेतना की इसी अवस्था का नाम 'समाधि' है।

अपने जीवन की क्रियाओं को इस प्रकार ढालने के लिए हमें सदा प्रयत्न करते रहना चाहिए, जिससे विष्णु (कृष्ण) का स्मरण निरन्तर रह सके। इसका नाम कृष्णभावनामृत है। ध्यान चाहे चतुर्भुज विष्णु का किया जाय, अथवा द्विभुज श्रीकृष्ण का, एक ही बात है। 'पद्मपुराण' कहता है कि जिस-किसी प्रकार सदा श्रीविष्णु का चिन्तन करे, किसी भी परिस्थिति में उनकी विस्मृति न हो। यह सम्पूर्ण विधानों में सबसे मूलभूत है। जब किसी कर्म का विधान किया जाता है, तो उसके साथ कुछ निषेध भी होते हैं। जब यह विधान किया गया है कि निरन्तर श्रीकृष्ण का स्मरण करना चाहिए तो यह निषेध भी समझना चाहिए कि उनकी

विस्मृति कभी न हो। इस सीधे से विधि-निषेध के अन्तर्गत सम्पूर्ण विधि-विधान आ जाते हैं।

यह विधि ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र--सब वर्ण-आश्रमों के लिए है। विधि-विधान केवल ब्रह्मचारियों के लिए ही आचरणीय नहीं; वरन् सभी के लिए पालनीय हैं। इसमें यह नहीं देखा जाता कि कोई ब्रह्मचारी है या संन्यासी, उत्तम साधक है अथवा कनिष्ठ। श्रीभगवान् का निरन्तर स्मरण, एक क्षण के लिए भी उन्हें न भूलना—इस सिद्धान्त का अनुसरण सभी को अवश्य करना चाहिए।

यदि इस विधान को माना जाये तो अन्य सब विधि-निषेधों का अपने-आप पालन हो जायगा, क्योंकि अन्य सब विधान इस प्रधान सिद्धान्त के सेवक हैं। विधि-विधान और उनके फल का श्रीमद्भागवत (११.५.२-३) में उल्लेख है। राजा निमि को उपदेश करने आए नौ योगेश्वरों में से चमस मुनि उन्हें सम्बोधित करते हुये कहते हैं, "हे राजन ! ब्राह्मण आदि चारों वर्ण श्रीभगवान् के विराट्रूप से प्रकट हुए। ब्राह्मण उनके मुख से, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य उरु से और शूद्र चरणों से उत्पन्न हुए। इसी प्रकार संन्यासी मुख से, वानप्रस्थ बाहु से, गृहस्थ उरु से और ब्रह्मचारी चरणों से अलग-अलग उत्पन्न हुए।"

इन वर्ण और आश्रमों का विभाजन गुणों के आधार पर है। भगवद्गीता में श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं कि उन्होंने चार-चार वर्ण आश्रमों की रचना मनुष्यों के निजी गुणों के आधार पर की है। जैसे एक ही शरीर के अलग अलग अंगों के भिन्न-भिन्न कार्य होते हैं, वैसे ही गुण और स्थिति के अनुरूप वर्ण और आश्रमों के अपने-अपने कर्तव्यकर्म हैं। परन्तु इन सभी कर्मों के लक्ष्य श्रीभगवान् हैं। जैसा भगवद्गीता में आया है, वे परम भोक्ता हैं। अतः चाहे कोई संन्यासी हो या शूद्र, अपने कर्मों से भगवान् को प्रसन्न करता है। श्रीमद्भागवत में भी इसका प्रमाण है—"सब को अपने-अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए। परन्तु कर्तव्य-कर्म की पूर्णता इसी में है कि इनसे भगवान् का सन्तोष हो।" इस प्रकार आज्ञा है कि अपने वर्ण-आश्रम के अनुसार कर्म करता हुआ अपनी क्रियाओं से भगवान् को प्रसन्न करे। जो ऐसा नहीं करता, वह अपनी स्थिति से नीचे अधम योनियों में गिर जायगा।

उदाहरणार्थ, भगवान् के मुख से उत्पन्न ब्राह्मण का कर्तव्य 'शब्दब्रह्म' का प्रचार करना है। ब्राह्मण मुख है, इसलिए उसे शब्दब्रह्म को प्रसारित करना है और भगवान् के लिए भोजन भी करना है। वैदिक विधान है कि

जब ब्राह्मण भोजन करे तो समझना चाहिए कि उसके माध्यम से भगवान् खा रहे हैं। परन्तु यह नहीं कि ब्राह्मण भगवान् के लिए खाने के नाम पर केवल भोजन करता रहे और विश्वभर में भगवद्गीता के सन्देश का प्रसारण न करे। वास्तव में गीता का प्रचारक भगवान् श्रीकृष्ण का बड़ा प्रिय है; इसका प्रमाण स्वयं गीता में विद्यमान है। ऐसा प्रचारक ही यथार्थ ब्राह्मण है और उसे भोजन कराने से साक्षात् श्रीभगवान् तृप्त होते हैं।

इसी प्रकार, क्षत्रिय का कर्तव्य माया के आक्रमण से जनता की रक्षा करना है। महाराज परीक्षित ने जैसे ही यह देखा कि एक शूद्र वर्ण का व्यक्ति गौवध करने को उद्यत है, तो तत्काल उन्होंने उस दुष्ट कलि को मारने के लिए खड्ग उठा ली। यह क्षत्रिय का प्रधान कर्तव्य है। रक्षण के लिए हिंसा आवश्यक है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को प्रत्यक्ष आज्ञा दी है कि जनसाधारण की रक्षा के लिए वह कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में हिंसा करे।

वैश्यों का कार्य कृषि-पदार्थों का उत्पादन, क्रय-विक्रय और वितरण करना है। शूद्र वर्ग में वे आते हैं, जिनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की बुद्धि का अभाव है। इस श्रेणी के लोग शारीरिक श्रम के द्वारा तीनों उच्च जातियों की सहायता करते हैं। इस विधि से सब वर्णों में पूर्ण सहयोग रहता है और सब पारमार्थिक प्रगति करते हैं। उपरोक्त सहयोग के अभाव में समाज का पतन हो जायगा। इस कलह के युग--कलि में यही स्थिति है। कोई अपना कर्तव्य नहीं निभाता, फिर भी सब ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय होने का अभिमान करते हैं। परन्तु वास्तव में ऐसे मनुष्यों की कोई स्थिति नहीं है। वे श्रीभगवान् से बहिर्मुख हैं, क्योंकि वे कृष्णभावनाभावित नहीं हैं। ऐसे में इस कृष्णभावना आन्दोलन का उद्देश्य सम्पूर्ण मानवसमाज को सुव्यवस्थित करना है, जिससे सब सुखी हों और कृष्णभावना का विकास करके लाभ उठायें।

भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव को उपदेश किया है कि वर्णाश्रम के विधान का पालन करने से भगवान् तृप्त होते हैं; परिणाम में सम्पूर्ण समाज को जीवन की सब आवश्यक वस्तुयें सुगमता से सुलभ हो जाती हैं यह इसलिए है क्योंकि वास्तव में तो श्रीभगवान् ही सब प्राणियों के भर्ता हैं। यदि सारा समाज अपने कर्तव्यपालन में कटिबद्ध और कृष्णभावना-भावित रहे, तो इसमें सन्देह नहीं कि उसके सारे सदस्य बड़े ही सुख-शान्ति से रह सकेंगे। जीवन की आवश्यकताओं से भरापूरा सारा जगत्

वैकुण्ठ बन जायगा। भगवद्धाम में जाये बिना, केवल श्रीमद्भागवत का आज्ञापालन और कृष्णभावनाभावित कर्तव्यों का पालन करने से सारी मानवजाति सब प्रकार से सुखी हो जायगी।

श्रीमद्भागवत (११.२७.४६) में ही एक अन्य वाक्य है, जिसमें श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं, "हे उद्धव ! सभी मनुष्य वैदिक-लौकिक क्रियाओं में लगे रहते हैं। यदि वे कृष्णभावनाभावित होकर इनमें से किसी भी प्रकार की क्रियाओं के फल से मेरी अर्चना करें, तो अपने-आप उनके लोक-परलोक दोनों सुखी हो जायेंगे, इसमें कुछ सन्देह नहीं।" श्रीकृष्ण के इस वाक्य से हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कृष्णभावनाभावित क्रियाओं से सबकी सर्वाभीष्ट-सिद्धि होगी। इस प्रकार कृष्णभावनामृत आन्दोलन इतना उत्तम है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी—किसी भी उपाधि की आवश्यकता नहीं। मनुष्यमात्र जो कुछ कर रहा है, उसी में लगा रहकर अपनी कृष्णभावना-भावित क्रियाओं के फल से श्रीकृष्ण की आराधना करे। इससे सारी परि-स्थिति का समाधान हो जायगा और जगत् में सब सुख-शांति-लाभ करेंगे। 'नारदपंचरात्र' में भक्ति के इस विधि-विधान का वर्णन है: "शास्त्र में भगवान् की प्रसन्नता के लिए जो भी क्रियायें बताई गयी हैं, उसे संतपुरुष भक्ति की विधि मानते हैं। यदि कोई सद्गुरु के आश्रय में नियमित रूप से इस प्रकार भगवत्सेवा का आचरण करे तो शनैः-शनैः शुद्ध भगवत्प्रेममय सेवाभाव को प्राप्त हो जायगा।"

अध्याय ३

भक्तियोग के अधिकारी के लक्षण

पूर्णरूप से भगवद्‌भक्तिपरायण महात्माजनों के सत्संग के प्रभाव से किसी में श्रीकृष्ण के लिए किंचित् रुचि का उन्मेष हो सकता है। परन्तु साथ ही सकाम कर्मों और प्राकृत इन्द्रियतृप्ति में आसक्ति बनी रह सकती है, जिस कारण नाना प्रकार का तप-त्याग करना अच्छा नहीं लगता। यदि ऐसे पुरुष की श्रीकृष्ण में अनन्य आसक्ति हो जाय तो वह भक्तियोग का अधिकारी बन जाता है।

शुद्धभक्तों के सत्संग में कृष्णभावना की ओर ऐसा आकर्षण बड़े सौभाग्य का सूचक है। श्रीचैतन्य महाप्रभु का प्रमाण है कि कोई भाग्यवान् पुरुष ही सद्‌गुरु और श्रीकृष्ण की कृपा से भक्तिरूप लता के बीज को पाता है। इस सन्दर्भ में श्रीमद्‌भागवत (११.२०.८) में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, "हे उद्धव ! दुर्लभ भाग्यवश ही कोई मुझमें आसक्त होता है। यदि वह सकाम कर्मों से पूर्णरूप से विरक्त न भी हो अथवा भक्ति में पूरा आसक्त न हुआ हो, तो भी मेरी सेवा शीघ्र प्रभाव दिखाती है।"

भक्त तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम अथवा उत्तम कोटि का वर्णन इस प्रकार है। उत्तम भक्त शास्त्रों में पारंगत और तदनुकूल तर्क करने में निपुण तथा युक्ति के साथ सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में दक्ष होता है। उसे भक्तियोग की विधि का दृढ़ निश्चय करता है। वह भलीभाँति जानता है कि जीवन का परम लक्ष्य श्रीकृष्ण की प्रेममयी सेवा की प्राप्ति है और एकमात्र श्रीकृष्ण ही प्रेमास्पद तथा आराध्य हैं। उत्तम भक्त वही हो सकता है जिसने सद्‌गुरु के शिक्षण में विधि-विधान का दृढता से पालन करते हुए शास्त्र के अनुसार उनका निश्चल भाव से अनुसरण किया हो। इस प्रकार प्रचारक और गुरुरूप में कार्य करने की पूरी शिक्षा पाकर वह उत्तम अधिकारी हो जाता है। उत्तम भक्त आचार्यों के सिद्धान्तों से कभी विचलित नहीं होता तथा सम्पूर्ण युक्ति और तर्क से समझकर शास्त्र में प्रौढ श्रद्धा को प्राप्त हो जाता है। यहाँ युक्ति और तर्क का अभिप्राय

शास्त्र पर आधारित तर्क-युक्ति से है। उत्तम भक्त समय का अपव्यय करनेवाले शुष्क मनोधर्म में रुचि नहीं लेता। भाव यह है कि जिसने भक्ति में दृढ निष्ठा को पा लिया है, उसे उत्तम भक्त जानना चाहिए।

मध्यम भक्त के लक्षण इस प्रकार हैं। मध्यम भक्त शास्त्र के आधार पर तर्क करने में अधिक निपुण नहीं होता, पर लक्ष्य में प्रगाढ श्रद्धा रखता है। तात्पर्य यह है कि मध्यम भक्त कृष्णभक्ति में श्रद्धा तो रखता है, परन्तु कदाचित् विरोधी पक्ष के आगे शास्त्र के बल पर तर्क और निश्चय प्रस्तुत करने में असफल रह सकता है। फिर भी, यह निश्चय उसके हृदय में अचलभाव से रहता है कि श्रीकृष्ण परमाराध्य है।

शास्त्र के निश्चय में अनिपुण और कोमल श्रद्धा वाला कनिष्ठ भक्त कहलाता है। उसकी श्रद्धा को कोई दूसरा अपने प्रबल तर्क अथवा विपरीत निर्णय से बदल सकता है। मध्यम भक्त के समान उसमें भी शास्त्र के आधार पर तर्क करने और प्रमाण देने की योग्यता नहीं होती। परन्तु जहाँ मध्यम अधिकारी में ध्येय में दृढ़ श्रद्धा रहती है, कनिष्ठ में ध्येय में कोई दृढ़ श्रद्धा भी नहीं होती। इसीलिए वह कनिष्ठ भक्त कहलाता है।

भगवद्‌गीता में कनिष्ठ भक्तों का और अधिक वर्गीकरण है। वहाँ कथन है कि आर्त (विपदाग्रस्त), अर्थार्थी (धनका अभिलाषी), जिज्ञासु तथा ज्ञानी, ये चार प्रकार के मनुष्य भक्ति में प्रवृत्त हो कर अपनी-अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिए श्रीभगवान् के उन्मुख होते हैं। वे किसी मन्दिर में जाकर भगवान् से कष्ट-निवारण, अर्थ प्राप्ति अथवा जिज्ञासा-निवृत्ति के लिए याचना करते हैं। श्रीभगवान् की महिमा को जानने वाला ज्ञानी भी इन कनिष्ठों में आता है। शुद्धभक्तों का संग करने से ये मध्यम अथवा उत्तम भक्त बन सकते हैं।

महाराज ध्रुव कनिष्ठ श्रेणी के अन्यतम उदाहरण हैं। उन्हें पिता के राज्य की इच्छा थी और इसी को लेकर वे भक्तियोग में प्रवृत्त हो गए। परन्तु अन्त में पूर्ण रूप से शुद्ध हो जाने पर उन्होंने श्रीभगवान् से कोई लौकिक वरदान माँगने से इन्कार कर दिया। ऐसे ही, गजेन्द्र ने संकट में आत्मरक्षा के लिए श्रीकृष्ण को पुकारा था; बाद में वह शुद्धभक्त बन गया। सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्, चारों कुमार ज्ञानी संतपुरुष थे, पर वे भी भक्ति की ओर आकर्षित हो गए। ठीक यही नैमिषारण्य के शौनकादि ऋषियों के साथ हुआ। वे बड़े जिज्ञासु थे, निरन्तर सूत गोस्वामी से श्रीकृष्ण विषयक प्रश्न किया करते थे। इस प्रकार शुद्धभक्त

का सत्संग करके वे स्वयं भी शुद्धभक्त हो गए। आत्मा के उत्थान का यही मार्ग है। कोई किसी भी अवस्था में क्यों न हो, सौभाग्य से यदि शुद्धभक्त का संग मिल जाय, तो वह बड़ी शीघ्रता के साथ मध्यम अथवा उत्तम श्रेणी पर आरूढ हो जाता है।

इन चारों प्रकार के भक्तों का वर्णन भगवद्गीता के सातवें अध्याय में है; इन सब को पुण्यात्मा कहा गया है। पुण्यात्मा हुए बिना भक्तियोग में प्रवेश नहीं हो सकता। भगवद्गीता में बताया है कि जिसने निरन्तर पुण्यकर्म किये हों और जिसके पापों का अन्त हो गया हो, वही कृष्णभावना को अंगीकार कर सकता है, दूसरे नहीं। पुण्यकर्मों के क्रम से ही कनिष्ठ भक्तों को आर्त, (विपदाग्रस्त), अर्थार्थी (धन का अभिलाषी), जिज्ञासु और ज्ञानी नामक कोटियाँ हैं। पुण्यात्मा हुए बिना तो आर्त मनुष्य नास्तिक अथवा कम्युनिस्ट हो जाता है। उसका भगवान् में विश्वास नहीं होता; वह समझता है कि भगवान् से सम्पूर्ण विश्वास को हटा लेने से उसका सब कष्ट दूर हो जायगा।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि इन चार प्रकार के कनिष्ठ भक्तों में ज्ञानी उन्हें बड़ा प्रिय है, क्योंकि श्रीकृष्ण में उनकी आसक्ति किसी लौकिक लाभ के लिए नहीं होती। श्रीकृष्ण में आसक्त ज्ञानी कष्ट-निवारण अथवा धन-प्राप्ति के रूप में बदले में उनसे कुछ नहीं चाहता। इसका अर्थ है कि प्रारम्भ से ही श्रीकृष्ण में उसकी आसक्ति प्रेमवश है। इसके अतिरिक्त, ज्ञान और शास्त्र-अध्ययन से भी वह यह समझ सकता है कि श्रीकृष्ण साक्षात् स्वयं भगवान् हैं।

भगवद्गीता का प्रमाण है कि अनेक-अनेक जन्मों के बाद कहीं जाकर यथार्थ ज्ञान को प्राप्त हुआ पुरुष भली-भाँति जान पाता है कि वासुदेव (श्रीकृष्ण) सब कारणों के आदि कारण हैं और फिर उनके शरणागत हो जाता है। वह श्रीकृष्ण के चरणकमलों में ही अनन्य रहता है। इस प्रकार शनैः-शनैः उसमें उनके लिए प्रेमभाव बढ़ता है। अतः ज्ञानी निःसन्देह श्रीकृष्ण का दयित है; परन्तु औरों को भी उदार कहा गया है, क्योंकि कष्ट अथवा धनाभाव के लिए ही क्यों न हों तृप्ति के लिए आए तो वे श्रीकृष्ण की शरण में ही हैं। इसलिए उन्हें भी महात्मा माना है।

ज्ञानी हुए बिना भगवत्-उपासना के सिद्धान्त पर दृढ़ नहीं रहा जा सकता। जो अल्पमति हैं अथवा जिनकी मति माया द्वारा हर ली गयी है, वे प्रकृति के गुणों के प्रभाववश नाना देवताओं में आसक्त रहते हैं। ज्ञानी

वह है जो भलीभाँति जान गया है कि वह देह से परे आत्मतत्त्व है। यह जानकर कि मैं आत्मा हूँ और श्रीकृष्ण परमात्मा हैं, वह अनुभव करता है कि उसका घनिष्ठ सम्बन्ध श्रीकृष्ण से है, देह से नहीं। आर्त और अर्थार्थी दोनों देहात्मबुद्धि में हैं, क्योंकि कष्ट और धन की इच्छा का सम्बन्ध केवल देह से है। जिज्ञासु पुरुष आर्त और अर्थार्थी से थोड़ा ऊपर तो अवश्य है, पर है प्राकृत स्तर पर ही। परन्तु श्रीकृष्ण का अनन्य अभिलाषी ज्ञानी पूर्ण रूप से जानता है कि वह ब्रह्म है और श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं। वह यह भी जानता है कि आत्मा आधीन और अणु है, इसलिए उसे सदा अनन्त परम आत्मा श्रीकृष्ण के साथ सहयोग चाहिए। यह ज्ञानी पुरुष और श्रीकृष्ण का सम्बन्ध है।

निष्कर्ष किया जा सकता है कि देहात्मबुद्धि से छूटा पुरुष शुद्ध भक्तियोग का अधिकारी है। भगवद्‌गीता में प्रमाण है कि ब्रह्म-साक्षात्कार के बाद, जब वह प्राकृत उद्वेगों से मुक्त होकर सम्पूर्ण जीवों को समभाव से देखता है, तब भक्तियोग में प्रवेश का अधिकारी होता है।

जैसा पूर्व में कहा जा चुका है, सुख के तीन भेद हैं—विषयसुख, ब्रह्मसुख और भक्तिसुख। भक्ति और उसके सुख का उदय तब तक नहीं हो सकता, जब तक प्राकृतवासना रहती है। प्राकृतवासना में विषयभोग की इच्छा और ब्रह्मैक्य की इच्छा, दोनों आती हैं। निर्विशेषवादी श्रीभगवान् के संग से और उनके साथ प्रेमरस का विनिमय करने से मिलने वाले दिव्य सुख की महिमा नहीं जानते; इसीलिए वे श्रीभगवान् से एकत्व प्राप्ति को अपना परम लक्ष्य बना लेते हैं। यह विचार विषयवासना का ही एक सूक्ष्म रूप है। प्राकृत-जगत् में मनुष्यमात्र सबसे शक्तिशाली बनने के लिए प्रयत्नशील है। देहात्मबुद्धिवश वह अपनी जाति, अपने समाज और अपने देश में अन्य सबसे महान् बनने की स्पर्धा में लगा हुआ है। महान् बनने की यह अभिलाषा जब अनन्त तक बढ़ जाती है, तो वह सबसे महान्, श्रीभगवान् से ही एक हो जाना चाहता है। यह भी देहात्मबुद्धि का ही एक सूक्ष्म रूप है।

परन्तु पूर्ण आत्मज्ञान अपने यथार्थ स्वरूप को जानना है, जिससे प्रेममयी भगवत्सेवा में तत्पर होने की विद्या का पूर्ण बोध हो जाता है। जीव को यह जानना चाहिए कि वह सीमित है, जबकि श्रीभगवान् अनन्त हैं। अतः इच्छा होने पर भी श्रीभगवान् से एक नहीं हुआ जा सकता। यह कभी सम्भव नहीं। इसलिए जो प्राकृत अथवा ब्रह्मरूप में अधिक से अधिक महान् बन कर इन्द्रियतृप्ति करने की इच्छा रखता है, वह भक्ति

के मधुररस का वास्तविक आस्वादन कर ही नहीं सकता। इसीलिए श्रील रूप गोस्वामी ने हृदय में भुक्ति-मुक्ति की इच्छाओं के होने को पिशाची बताया है; दोनों कष्टदायक हैं। भुक्ति का अर्थ विषयसुख है और मुक्ति का अभिप्राय भवबन्धन से छूटकर भगवान् से एकत्व प्राप्त करना है। ये दोनों पिशाची हैं, क्योंकि जब तक विषयसुख अथवा ब्रह्मैक्य की इच्छा रहेगी, तब तक भक्ति के यथार्थ दिव्य सुख का आस्वादन कोई नहीं कर सकता।

शुद्धभक्त मुक्ति की चिन्ता कभी नहीं करता। श्रीचैतन्य महाप्रभु की श्रीकृष्ण से प्रार्थना है, "हे नन्दकुमार (श्रीकृष्ण) ! मुझे बहुत से अनुयायियों का सुख, धन का ऐश्वर्य और सुन्दर स्त्री नहीं चाहिए और न भवबन्धन से मुक्ति का ही मैं अभिलाषी हूँ। जन्म-जन्मान्तर में आपके चरणों में मेरी अनन्यभक्ति हो, बस यही प्रार्थना है।"

शुद्धभक्त का ध्यान भगवान् के नाम, गुण, रूप, लीला, धाम आदि के यशोगान में इतना आकृष्ट रहता है कि मुक्ति तक की परवाह नहीं करता। श्री बिल्वमंगल ठाकुर का उद्‌गार है, "हे प्राणप्रिये प्रभो ! आपकी भक्ति के परायण मुझे सर्वत्र आपकी ही स्फूर्ति होती है। ऐसे में मुक्ति मेरी सेवा के अवसर की प्रतीक्षा में द्वार पर करबद्ध खड़ी है।" शुद्धभक्तों के लिए मुक्ति अथवा ब्रह्मैक्य का कुछ भी महत्त्व नहीं है।

इस सन्दर्भ में श्रीमद्‌भागवत (३.२५.३६) में भगवान् कपिल माता देवहूति को उपदेश करते हुए कहते हैं, "हे जननि ! मेरे शुद्धभक्त मेरे नाना रूपों, मेरे मुखमण्डल की माधुरी और मोहक अवयवों को देखने में मुग्ध रहते हैं। मेरा हँसना, मेरी क्रीड़ा और मेरा देखना उन्हें इतना मधुर लगता है कि उनके विचार मुझमें ही लगे रहते हैं; वरन् उनका सम्पूर्ण जीवन ही मेरे अर्पण हो जाता है। यद्यपि उन्हें किसी भी प्रकार का मोक्षसुख या प्राकृतसुख नहीं चाहिए, परन्तु मैं उन्हें अपने परमधाम में पार्षदपद दे देता हूँ।'

श्रीमद्‌भागवत के इस प्रमाण से शुद्धभक्तों को आश्वासन मिलता है कि वे श्रीभगवान् का संग अवश्य प्राप्त करेंगे। इस सन्दर्भ में श्रील रूप गोस्वामिपाद कहते हैं कि जो भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों अथवा उनकी सेवा की मधुरिमा के प्रति आकृष्ट हो गया है और इस आकर्षणवश जिसका चित्त निरन्तर दिव्यसुख से ओतप्रोत रहता है, ऐसे भक्त को स्वाभाविक रूप में उस मोक्ष की कभी इच्छा नहीं होती, जो निर्विशेषवादियों के लिए इतना महत्त्वपूर्ण है।

इसी के समान, तृतीय स्कन्ध (३.३.१५) में उद्धव भगवान् श्रीकृष्ण से प्रार्थना करता है, 'प्रभो ! आपके चरणकमलों की दिव्य प्रेममयी सेवा करने वालों के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से कुछ भी प्राप्त होने योग्य नहीं रहता, यद्यपि इनसे होने वाले सुख उन्हें बड़ी सुगमता से मिल सकते हैं। फिर भी हे सर्वशक्तिमान् ! मैं आपसे मोक्ष आदि को नहीं चाहता। मुझे तो बस आपके चरणकमलों में अनन्य श्रद्धा-भक्ति ही चाहिए।"

इसी प्रकार, तृतीय स्कन्ध, अध्याय २५ के श्लोक ३१ में भगवान् कपिल कहते हैं, "हे माता ! जिनका हृदय मेरे चरणों की सेवा से ओतप्रोत है और मेरी तृप्ति के लिए जो कुछ भी कर सकते हैं, विशेष रूप से जो मेरे नाम, रूप, गुण और यश का संकीर्तन करते हुए दिव्य परमानन्दसिंधु में मग्न रहते हैं, वे भाग्यवान् भक्त मुझसे एक होने की कभी इच्छा नहीं करते। मुझसे एक होना तो दूर, मेरी भक्ति में तृप्त रहने वाले भक्तजन तो मेरे द्वारा दिये जाने पर भी सालोक्य, सार्ष्टि, समीप्य और सारूप्य मुक्ति तक को लेना नहीं चाहते।"

श्रीमद्भागवत (४.९.१०) में ही ध्रुव महाराज कहते हैं, "हे देव ! आपके चरणकमलों का ध्यान करने से मनुष्य को जिस दिव्य सुख की प्राप्ति होती है, निर्विशेषवादियों को ब्रह्म-साक्षात्कार से उसका आभास भी नहीं हो सकता। फिर उच्च स्वर्गीय लोकों को जाने की इच्छा से सकामकर्म करने वाले आपको कैसे जान सकते हैं, और उन्हें भक्तों के समान सुखी किस प्रकार समझा जाय।"

अध्याय ४

भक्तियोग सब मोक्षों से बढ़कर है

भक्त का भगवान् की भक्ति में कितना अनुराग होता है, यह आदि-राज महाराज पृथु के वाक्य से समझा जा सकता है। श्रीमद्भागवत (४.२०.२४) में वे कहते हैं, "हे देव! यदि मुक्ति होने पर आपके चरण-कमलों के जयगान में शुद्ध भक्तों के हृदय से गूंजने वाली आपकी अमृतमय कीर्ति सुनने को नहीं मिलती तो मैं उस मोक्ष अथवा ब्रह्मैक्य को कभी नहीं लूंगा। मेरी तो बस निरन्तर यही प्रार्थना है कि आप मुझे असंख्य जिह्वा और कान प्रदान कीजिए, जिससे मैं सर्वदा आपकी दिव्य कीर्ति का श्रवण-कीर्तन करता हुआ परमानन्द में निमग्न रहूँ।"

निर्विशेषवादी भगवान् में लीन हो जाना चाहते हैं। वे नहीं जानते कि अपना निजी स्वरूप बनाए रखे बिना जीव भगवत्-कीर्ति का श्रवण-कीर्तन नहीं कर सकता। उन्हें भगवान् के दिव्य विग्रह का कुछ भी बोध नहीं होता, इसलिए भगवान् की दिव्य लीला का श्रवण-कीर्तन वे नहीं कर सकते। भाव यह है कि मुक्ति से ऊपर उठे बिना भगवत्-कीर्ति का आस्वादन अथवा दिव्य भगवत्-विग्रह के तत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता।

श्रीमद्भागवत (५.१४.४४) में ही एक अन्य सदृश वाक्य है। शुकदेव गोस्वामी राजा परीक्षित से कह रहे हैं, "भक्तप्रवर राजा भरत श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की सेवा में इतने अतिशय अनुरक्त थे कि उन्होंने बड़ी सुगमता से पृथ्वी पर अपने शासन तथा पुत्र, समाज, मित्र, राजऐश्वर्य और सुन्दर स्त्री के मोह को त्याग दिया। देवगण भी जिसके लिए ललचाते रहते हैं, वे लक्ष्मीदेवी तक उनपर प्रसन्न थीं। पर उन्होंने कभी कुछ नहीं माँगा।" राजा भरत के इस आदर्श व्यवहार की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए शुकदेव आगे कहते हैं, "भगवान् की सेवा में जिनका मन अनुरक्त है, भोगों की तो बात ही क्या, उनके लिए तो महामुनियों द्वारा वाँछित मोक्ष भी तुच्छ हो जाता है।"

श्रीमद्भागवत (६.११.२५) में वृत्रासुर भगवान् से कहता है, "हे भगवान् ! आपकी भक्ति को छोड़कर मैं न स्वर्गपद को, न महेन्द्रपद को, न त्रिलोकी के सार्वभौम राज्य को, न योग की सिद्धियों को और न मोक्ष को ही चाहता हूँ। मुझे तो बस आपके शाश्वत् संग और प्रेमसेवा की इच्छा है।"

इस वाक्य की पुष्टि करते हुए भगवान् शिव सती से श्रीमद्भागवत (६.१७.२८) में कहते हैं, "हे साध्वि ! नारायणभक्त किसी से नहीं डरते। स्वर्ग हो, मोक्ष हो, या नरक, उनके लिए सब समान है। भगवान् नारायण के चरणकमलों के शरणागत हो जाने मात्र से उनके लिए प्राकृत-जगत् की सभी परिस्थितियाँ एक जैसी हो जाती हैं।"

श्रीमद्भागवत (६.१८.७४) में इन्द्र अपनी माता अदिति का सम्बोधन करते हुए कहते हैं, "हे माता ! निष्कामभाव से केवल भगवान् की भक्ति करने वाले भक्तजन ही वास्तव में अपने स्वार्थ को जानते हैं। ऐसे पुरुष वास्तव में स्वार्थकुशल हैं, और जीवन की संसिद्धि की ओर उन्नति करने में परम दक्ष माने जाते हैं।"

महाराज प्रह्लाद (७.६.२५) का वचन है, "हे दैत्यमित्रो ! भगवान् के प्रसन्न होने पर संसार में क्या दुर्लभ रह सकता है ? यदि भगवान् तुष्ट हो जायें, तो तुम्हारे हृदय के संपूर्ण मनोरथ निस्सन्देह सिद्ध हो जायेंगे। इसलिए त्रिगुणमयी प्रकृति द्वारा अपने-आप सिद्ध होने वाले सकामकर्मों से क्या लाभ ? निरन्तर भगवत्-कीर्ति का गान करते हुए उनकी चरणमाधुरी का आस्वादन करने वाले के लिए मोक्ष से भी क्या लाभ ?" प्रह्लाद महाराज के इस वाक्य से स्पष्ट है कि जो भगवान् की दिव्य कीर्ति के श्रवण-कीर्तन में सुख का अनुभव करता है, वह सब प्रकार से प्राकृतसुखों—पुण्यकर्मों, यज्ञों और मोक्ष तक का उल्लंघन कर चुका है।

इसी भाँति, सातवें स्कन्ध के अध्याय आठ, श्लोक ४२ में भगवान् नृसिंह की स्तुति करते हुए इन्द्र कहते हैं, "हे परम पुरुष ! ये दैत्य यज्ञों में हमारे भाग का अपहरण करना चाहते थे; परन्तु नृसिंह रूप से प्रकट होकर आपने महाभय से हमारा त्राण कर दिया है। वास्तव में हमारा यज्ञभाग आपसे ही है, क्योंकि आप सम्पूर्ण यज्ञों के परम भोक्ता हैं। आप जीवमात्र के अन्तर्यामी, सबके यथार्थ स्वामी हैं। हमारे हृदय बहुत समय से इस दैत्य हिरण्यकशिपु के भय से आक्रान्त थे; परन्तु आप हम पर इतने कृपाशील हैं कि इसे मार कर आपने हमारे हृदयों से भय को भगा दिया है और हमें अवसर

दिया है कि हम आपको अपने हृदय में फिर अभिराजित कर सकें। आपकी दिव्य प्रेममयी सेवा के परायण भक्तों के लिए वे सब ऐश्वर्य तृणतुल्य हैं जिनका दैत्यों ने हमसे अपहरण किया था। भक्त तो मोक्ष की भी चिन्ता नहीं करते, फिर इन प्राकृत ऐश्वर्यों का क्या कहना। वास्तव में यज्ञ के भोक्ता हम नहीं हैं। हे नाथ! हमारा तो बस यही कर्तव्य है कि सदा आपकी सेवा में लगे रहें, क्योंकि आप ही सबके भोक्ता हैं।"

इन्द्र के इस वाक्य का यह तात्पर्य है कि ब्रह्मा से लेकर तुच्छ चिंटि तक कोई भी जीव प्राकृत ऐश्वर्य का भोग करने के लिए नहीं है। सबको अपना सर्वस्व भगवान् को अर्पित करना चाहिए। ऐसा करने से उन्हें अपने-आप लाभ होगा। शरीर के अंग सामग्री जुटा कर उदरपूर्ति के लिए भोजन बनाते हैं, क्योंकि उदरपूर्ति होने पर शरीर के सभी अंगों को समान रूप से लाभ होता है। इसी भाँति, सबका कर्तव्य है कि परमेश्वर श्रीकृष्ण को प्रसन्न करें। तब अपने-आप सबको सुख मिलेगा।

श्रीमद्भागवत (८.३.२०) में इसी के समान, गजेन्द्र ने कहा है, "प्रभो! आपके भक्तियोग के दिव्य सुख का मुझे अनुभव नहीं है, इसी लिए आपकी कृपा की याचना करता हूँ। वास्तव में तो महापुरुषों के चरण-कमलों की सेवा करके जो सम्पूर्ण वासनाओं से छूट चुके हैं, वे शुद्धभक्त सदा परमानन्द सिन्धु में निमग्न रहते हैं। आपके परम मंगलमय चरित्र का गान करते हुए वे संतुष्ट रहते हैं; अतः और कुछ नहीं चाहते।"

स्कन्ध नौ, अध्याय ४, श्लोक ६७ में वैकुण्ठनाथ दुर्वासा से कहते हैं, "मेरी भक्ति से भरे हुए भक्तजन सालोक्य, सारूप्य, सायुज्य, सार्ष्टि और सामीप्य नामक पाँच प्रकार की मुक्ति भी नहीं चाहते; फिर अन्य विनश्वर पदार्थों की तो बात ही क्या है।"

भागवत के दसवें स्कन्ध (अध्याय १६, श्लोक ३७) में नागपत्नियाँ प्रार्थना करती हैं, "हे गोविन्द! आपके चरणसरोज की रज बड़ी अद्भुत है। जिस भाग्यवान् को यह सुलभ हो जाती है, वह न स्वर्गपद को, न सार्वभौम राज्य को, न योगसिद्धि और न मोक्ष को ही चाहता है। आपकी चरणरज का अनुरागी अन्य किसी भी सिद्धि की इच्छा नहीं करता।"

दसवें स्कन्ध (अध्याय ८७, श्लोक २१) में मूर्तिमान् वेदश्रुतियाँ कहती हैं, "भगवन्! आत्मज्ञान को जानना बड़ा कठिन है। हमें इसका बोध कराने के लिए ही आप अपने स्वयंरूप में प्रकट हुए हैं। इसी के लिए गृहसुख को त्याग कर परमहंस आचार्यों का सत्संग करने वाले भक्त आपकी भक्ति-रूप अमृत के महासागर में निमग्न रहकर मुक्ति की कामना नहीं करते।"

इस श्लोक को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि आत्मज्ञान आत्मा और परमात्मा दोनों के ज्ञान का वाचक है। जीवात्मा और परमात्मा दिव्य गुणों में एक हैं, इसलिए दोनों को 'ब्रह्म' कहा जाता है। परन्तु ब्रह्म का ज्ञान बड़ा दुर्ज्ञेय है। कितने ही दार्शनिक आत्मतत्त्व को समझने का प्रयास करते हैं, पर अधिक उन्नति नहीं कर पाते। भगवद्-गीता से प्रमाणित है कि करोड़ों मनुष्यों में कोई एक आत्मतत्त्व की जिज्ञासा करता है और बहुत से जिज्ञासुओं में भी कोई एक ही भगवान् को तत्त्व से जानता है। श्लोक का तात्पर्य हुआ कि आत्मतत्त्व बड़ा कठिन है, इसलिए श्रीभगवान् स्वयं आदि रूप में प्रकट होकर अर्जुन जैसे पार्षदों को प्रत्यक्ष रूप से उपदेश करते हैं, जिससे जनसाधारण इस आत्मविद्या का लाभ उठा सके। इस श्लोक से यह भी स्पष्ट है कि मुक्ति का अर्थ सब प्राकृत सुखों को पूर्ण रूप से त्याग देना है। निर्विशेषवादी भवबन्धन की मुक्ति से ही सतुष्ट हो जाते हैं। भक्त मुक्तिलाभ तो करते ही हैं; साथ-साथ भगवान् श्रीकृष्ण के अद्भुत चरित्र के श्रवण-कीर्तन के दिव्य आनन्द का भी रसास्वादन करते हैं।

भागवत (११.२०.३४) में श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं—"हे उद्धव! पूर्ण रूप से मेरी सेवा के आश्रित हुए भक्तजन भक्तियोग में इतने दृढ़ (अनन्य) रहते हैं कि अन्य अभिलाषाओं का उनमें बिल्कुल अभाव हो जाता है। मेरे द्वारा दिए जाने पर चार प्रकार के मोक्ष को भी वे नहीं लेते, फिर प्राकृत-जगत् की किसी वस्तु का क्या कहना है।" अन्यत्र (११.१४.१४) भी श्रीकृष्ण का कथन है, "हे उद्धव! मेरे चिन्तन और लीला में अर्पित मन-बुद्धि वाला ब्रह्मपद, इन्द्रपद, सार्वभौम आधिपत्य, योगसिद्धि अथवा मुक्ति तक की इच्छा नहीं करता।" श्रीमद्-भागवत (१२.१०.६) में शिवजी पार्वती से कहते हैं, "देवि! ये महान् ब्रह्मर्षि मारकण्डेय भगवान् की अनन्य श्रद्धा-भक्ति को प्राप्त हो गये हैं। इसलिए अब ये कुछ नहीं चाहते, यहाँ तक कि संसार से मुक्ति भी नहीं।"

'पद्मपुराण' के कार्तिकमाहात्म्य में इस सिद्धान्त का समर्थन है। इस समय वृन्दावन में भगवान् श्रीकृष्ण के दामोदर रूप की उपासना करने का विधान है। दामोदररूप श्रीकृष्ण की उस बाललीला का द्योतक है, जब वे माता यशोदा द्वारा बाँधे गए थे (दाम अर्थात् बंधन)। श्रीकृष्ण के चांचल्य से रुष्ट होकर यशोदा मैया ने उन्हें रस्सी से बाँधा था; इसीलिए वे दामोदर कहलाए। कार्तिक में भगवान् दामोदर से निवेदन करते हैं,

"हे प्रभो ! हे वरों के स्वामिन् ! ब्रह्मा और शिव आदि देवता हिरण्यकशिपु, रावण जैसे अपने भक्तों को बहुत से वर दिया करते हैं; परन्तु ब्रह्मा, शिव भी आपके वरों पर आश्रित हैं।" यही कारण है कि श्रीकृष्ण को वरों का स्वामी कहा गया है। वे भक्तों को कुछ भी वर दे सकते हैं; पर भक्तों की प्रार्थना है, "मुझे किसी प्राकृतसुख या मुक्ति की इच्छा नहीं है। बस इतना वर दीजिए कि आपका यह दामोदर रूप सदा मेरे हृदय में बसा रहे। आपके इस मधुर मनोहर रूप के अतिरिक्त मेरा चित्त और कुछ नहीं चाहता।" इस प्रार्थना के अगले श्लोक में कहा है, "हे दामोदर ! एक समय नन्द महाराज के प्रांगण में चंचल क्रीड़ा करते हुए आपने दही का भाण्ड फोड़ डाला था। उस पर यशोदा मैया ने आपको रस्सी से ऊखल से बाँध दिया। तब आपने नन्दजी के आँगन में यमलार्जुन के रूप में खड़े नलकूवर और मणिग्रीव का उद्धार करके अपनी भक्ति का अधिकारी बनाया। कृपामयी लीला करके मुझे भी अपनी भक्ति प्रदान कीजिए, मुझे मुक्ति का आग्रह नहीं है।"

देवताओं के कोषाध्यक्ष कुबेर के दोनों पुत्र अपने पिता के ऐश्वर्य के मद में मत्त हो रहे थे। एक समय वे किसी दिव्यलोक में नग्न अप्सराओं के साथ विलासमग्न थे। तभी महामुनि नारद मार्ग से जा रहे थे। उन्हें कुबेरपुत्रों के अभद्र व्यवहार पर हार्दिक दुःख हुआ। नारदजी को जाते देखकर अप्सराओं ने तो वस्त्र धारण कर लिए, परन्तु मद्यप कुबेरपुत्रों को लज्जा नहीं आयी। उनके व्यवहार से क्रुद्ध होकर नारदजी ने शाप दिया, "तुम दोनों सर्वथा निर्लज्ज हो रहे हो, इसलिए कुबेरपुत्र होने के स्थान पर वृक्ष बन जाओ।" यह सुनने पर दोनों को चेतना हुई और नारद जी से क्षमा माँगने लगे। तब नारद ने कहा, "तुम अर्जुन के वृक्ष बन कर नन्द महाराज के आँगन में खड़े रहोगे। नन्द महाराज के पुत्ररूप में जब श्रीकृष्ण प्रकट होंगे, तब तुम्हारा उद्धार होगा।" प्रकारान्तर से, नारद का शाप कुबेरपुत्रों के लिए वरदान सिद्ध हुआ, क्योंकि इससे उन्हें पूर्वसूचना मिल गयी कि उनपर श्रीकृष्ण का अनुग्रह होगा। उसके बाद दोनों कुबेरपुत्र नन्दजी के घर में यमलार्जुन के रूप में खड़े रहे। कालान्तर में नारद की वाणी सत्य करने को भगवान् दामोदर ने ऊखल से पेड़ों को गिराकर उन का उद्धार किया। नलकुबर और मणिग्रीव अब तक महाभागवत बन गए थे। गिरे वृक्षों से निकलकर उन्होंने भगवान् दामोदर की अभ्यर्थना की।

'हयशीर्ष पञ्चरात्र' में उल्लेख है, "हे प्रभो ! हे भगवन् ! मैं धर्म"

अर्थ, काम और मोक्ष को नहीं चाहता। बस इतनी ही अभिलाषा है कि मैं सदा आपके चरणकमलों का दास बना रहूँ। कृपया मुझपर यह अनुग्रह करें।"

उसी 'हयशीर्ष पञ्चरात्र' में उल्लेख है कि नृसिंहदेव के बारम्बार आग्रह करने पर भी प्रह्लाद महाराज ने कोई विषयवस्तु नहीं माँगी, अपितु सदा भक्ति के परायण करने का ही वर चाहा। इस सन्दर्भ में प्रह्लाद महाराज ने भगवान् रामचन्द्र के नित्यदास हनुमान् जी का उदाहरण दिया। हनुमान् ने भगवान् से कोई भी प्राकृत वरदान न माँगने का आदर्श स्थापित किया है। वे सदा भगवत्सेवा के परायण रहे। इस आदर्श गुण के लिए वे आज तक भक्तों के आराध्य हैं। प्रह्लाद महाराज ने भी हनुमान्जी का सादर अभिवादन किया। श्रीहनुमान् का प्रसिद्ध वचन है, "मैं भवबन्धन से उस मोक्ष को अथवा आप के सायुज्य को नहीं चाहता, जिसके आप प्रभु हैं और मैं आपका दास हूँ–इस भाव का लोप हो जाय।"

'नारदपञ्चरात्र' के एक अन्य श्लोक में कहा है, "धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की लेशमात्र भी इच्छा नहीं है। बस यही प्रार्थना है कि अपने चरणकमलों की छाया में मुझे जीने दीजिए। हे धरणीधर! मैं सालोक्य, सारूप्य आदि मुक्तियों को नहीं चाहता। मुझे तो केवल आपकी दया की कामना है, जिससे निरन्तर आपकी प्रेममयी सेवा के परायण रहूँ।"

श्रीमद्भागवत (६.१४.५) में महाराज परीक्षित की शुकदेव गोस्वामी से जिज्ञासा है, "हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! मैं समझता हूँ वृत्रासुर बड़ा पापात्मा था और उसकी मति रजोगुण-तमोगुण से भरी थी। फिर उसमें नारायणभक्ति का ऐसा पूर्ण विकास कैसे हुआ? मैंने सुना है कि कठोर तपस्या करके सिद्ध और पूर्ण ज्ञानी मुक्त पुरुषों को भी भगवद्भक्त बनने का साधन करना पड़ता है। नारायणभक्त निःसन्देह बड़ा दुर्लभ है। अतः आश्चर्य है कि वृत्रासुर भक्त कैसे बन गया!"

उपरोक्त श्लोक में सबसे महत्त्वपूर्ण यह जानना है कि निर्विशेष ब्रह्म में लीन हुए असंख्य मुक्त पुरुषों में भी नारायणभक्त मिलना बहुत दुर्लभ है। करोड़ों मुक्तों में कोई एक भाग्यवान् ही भक्त होता है।

श्रीमद्भागवत (१.८.२०) में श्रीकृष्ण को विदा करते हुए महारानी कुन्ती प्रार्थना करती हैं, "प्रभो! बड़े-बड़े विद्वान् और परमहंस भी आपकी अगाध महिमा का पार नहीं पा सकते। जब अमल आत्मा मुनि भी आपको जान नहीं सकते तो मुझ स्त्री के लिए आपकी कीर्ति को जानना

कैसे सम्भव होगा ? मैं आपको कैसे जान सकती हूँ ?'' इस श्लोक से स्पष्ट है कि मुक्तपुरुष भगवान् को नहीं जान सकते, पर कुन्ती जैसे दीन भक्त उन्हें जान जाते हैं। स्त्रियाँ पुरुषों से अल्पज्ञ होती हैं, परन्तु कुन्ती देवी को भगवान् श्रीकृष्ण की महिमा अनुभव हुई।

श्रीमद्भागवत (१.७.१०) का 'आत्माराम' श्लोक महत्त्वपूर्ण है। इसके अनुसार प्राकृत बन्धन से पूर्ण रूप में छूटे हुए आत्माराम पुरुष भी भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य गुणों के प्रति आकृष्ट हो जाते हैं।* भाव यह है कि मुक्तजीव में विषयभोग की लेशमात्र इच्छा नहीं रहती, वह प्राकृत वासना से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। फिर भी, वह भगवान् श्रीहरि की लीलाकथा को सुनने के वशीभूत रहता है। अतएव सिद्ध होता है कि भगवद्गुण और भगवत्-लीला प्राकृत नहीं हैं। अन्यथा आत्माराम मुक्त पुरुष उनसे आकर्षित कैसे होते ? यह इस श्लोक का सार है।

पूर्वोक्त वाक्यों से स्पष्ट है कि भक्त किसी भी प्रकार की मुक्ति नहीं चाहता। मुक्ति के पाँच भेद हैं–१. सायुज्य : भगवान् में लीन होना; २. सालोक्य : भगवान् के लोक में वास; ३. सारूप्य : भगवान् के समान रूप की प्राप्ति; ४. सार्ष्टि : भगवान् के समान ऐश्वर्य की उपलब्धि; ५. सामीप्यः भगवान् का सांनिध्य। इन पाँचों में से सायुज्य मुक्ति को तो भक्त कभी भी स्वीकार नहीं करते। वैसे तो भक्त अन्य चारों मुक्तियों को भी नहीं लेते, परन्तु वे भक्ति के विपरीत नहीं हैं। ऐसे चार प्रकार के मुक्त पुरुषों में से कुछ में श्रीकृष्ण के लिए अनुराग उदित हो जाता है, जिससे वे भी परव्योम के गोलोक वृन्दावन धाम में प्रविष्ट हो सकते हैं। भाव यह है कि वैकुण्ठधाम में प्रविष्ट हुए चार प्रकार के भक्त पुरुष भी कभी-कभी श्रीकृष्ण में अनुरक्त होकर कृष्णलोक को गमन कर जाते हैं।

इस प्रकार चार प्रकार के मुक्त भी जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में बने रह सकते हैं। प्रारम्भ में उन्हें श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य की कामना हो सकती है, परन्तु परिपक्व अवस्था में वृन्दावन में प्रकट कृष्णप्रेम, जो पहले उनमें सुप्त था, फिर उनके हृदय में छा जाता है। अतएव शुद्धभक्त भक्ति

* श्री चैतन्य महाप्रभु ने एक समय सनातन गोस्वामी को इस 'आत्माराम' श्लोक की बड़ी सुन्दर व्याख्या सुनायी थी, जो लेखक के ग्रन्थ 'चैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत' में संकलित है।

के अनुकूल होने पर अन्य चारों मुक्तियों को तो कदाचित् ले भी सकते हैं, पर सायुज्य को कभी नहीं लेते।

भगवान् के नाना प्रकार के भक्तों में वह सर्वोत्तम माना जाता है, जो वृन्दावन में प्रकट श्रीकृष्ण के आदिरूप पर मोहित रहता है। ऐसा भक्त वैकुण्ठलोक और श्रीकृष्ण की दिव्य नगरी द्वारका तक के ऐश्वर्य की ओर आकृष्ट नहीं होता। अस्तु, श्रील रूप गोस्वामी का निर्णय है कि भगवान् की गोकुल अथवा वृन्दावन* की लीला पर आकृष्ट भक्त सर्वश्रेष्ठ हैं।

भक्त भगवान् के इष्ट रूप में अनन्य रहता है। उदाहरण के लिए, रामभक्त हनुमान् जी जानते थे कि भगवान् राम और भगवान् नारायण में भेद नहीं है। फिर भी, वे केवल भगवान् राम की सेवा के ही अभिलाषी थे। इसका कारण भक्त की विशिष्ट रुचि है। भगवत्-रूप बहुत से हैं, परन्तु कृष्ण आदिरूप है। यद्यपि सभी भगवत्-रूपों के भक्त एक श्रेणी में हैं, फिर भी सब प्रकार के भक्तों में कृष्णभक्त सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

---

* वृन्दावन वह दिव्य धाम है, जहाँ श्रीकृष्ण अपने शैशवकालीन लीला-रस का परिवेषण करते हैं। यह परमधाम है। जब यह प्राकृत-जगत् में प्रकट होता है तो इसे गोकुल कहते हैं; वैकुण्ठ-जगत् में यही गोलोक या गोलोक-वृन्दावन कहलाता है।

अध्याय ५

भक्तियोग का शुद्ध स्वरूप

श्रील रूप गोस्वामी के पूर्वोक्त सम्पूर्ण उपदेश का सार इस प्रकार है। जब तक विषयों की अथवा ब्रह्मज्योति में लीन होने की इच्छा है, तब तक शुद्ध भक्तियोग के मण्डल में प्रवेश नहीं हो सकता। यह प्रतिपादन करके श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं कि भक्तियोग सभी लौकिक विचारों से परे है और किसी राष्ट्र, जाति, समाज अथवा परिस्थिति-विशेष तक सीमित नहीं है। उसमें मनुष्यमात्र का अधिकार है। श्रीमद्भागवत में आया है कि भक्ति स्वरूप से अहैतुकी और अप्रतिहता होती है। भक्ति किसी लाभ की इच्छा के बिना की जाती है और कोई भी प्राकृत परिस्थिति उसमें बाधा नहीं डाल सकती। उसमें भेदभाव के बिना सभी का अधिकार है; वह तो जीव का स्वरूपधर्म ही है।

मध्यकाल में, भगवान् चैतन्य महाप्रभु के महान् पार्षद श्रीनित्यानन्द प्रभु के तिरोधान के बाद, पण्डितों का एक वर्ग अपने को नित्यानन्दवंशी गोस्वामी जाति कहने लगा। उनका दावा था कि भक्ति के साधन और प्रचार का अधिकार केवल उन्हीं का है। इस प्रकार कुछ समय तक उनका यह मिथ्या एकाधिकार चलता रहा। परन्तु गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के महान् आचार्य श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने उनके इस विचार को पूर्णतः ध्वस्त कर दिया। पहले बड़ा गंभीर संघर्ष हुआ, पर अन्त में वे सफल रहे और अब यह ठीक-ठीक वास्तव में सिद्ध हो गया है कि भक्ति का अधिकार किसी जाति-विशेष तक सीमित नहीं है। इसके अतिरिक्त, भक्तिपरायण व्यक्ति ब्राह्मण के पद को अपने-आप प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार भक्ति आन्दोलन के लिए श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर का संघर्ष सफल रहा है।

उनके इस सिद्धान्त के आधार पर विश्व का अथवा ब्रह्माण्ड का कोई भी प्राणी गौडीय वैष्णव बन सकता है। जो कोई शुद्ध वैष्णव बन जाता है, वह शुद्धसत्त्व में स्थित हो जाता है, इसलिए प्राकृत-जगत् की सर्वोत्तम पात्रता—सत्त्वगुण में स्थिति उसे अपने-आप प्राप्त रहती है।

पाश्चात्य जगत् में हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन हमारे गुरुमहाराज श्रील भक्तिसिद्धान्त गोस्वामी प्रभुपाद के इसी सिद्धान्त पर आधारित है। उसके प्रमाण के बल पर हम पाश्चात्य देशों के सभी वर्गों में ब्राह्मण बना रहे हैं। नामधारी ब्राह्मण विरोध करते हैं कि जिसका जन्म ब्राह्मण-जाति में नहीं हुआ हो, उसे यज्ञोपवीत धारण नहीं कराया जा सकता और न वह उत्तम वैष्णव बन सकता है। परन्तु हम इस मत को नहीं मानते क्योंकि यह श्रील रूप गोस्वामी अथवा विविध शास्त्रों द्वारा प्रमाणित नहीं होता।

श्रील रूप गोस्वामी ने विशेष रूप से उल्लेख किया है कि भक्तियोग को अंगीकार कर कृष्णभावनाभावित हो जाने का मनुष्यमात्र को जन्म-सिद्ध अधिकार है। उन्होंने नाना शास्त्रों से अनेक प्रमाण उपस्थित किए हैं; विशेष रूप से पद्मपुराण से एक उद्धरण दिया है, जिसमें वशिष्ठ ऋषि महाराज दिलीप से कहते हैं, "हे राजन्! माघस्नान के समान भक्ति में भी मनुष्यमात्र का अधिकार है।" पद्मपुराण के काशीखण्ड में और भी प्रमाण हैं, "मयूरध्वज नामक देश में अन्त्यजों को भी भक्ति की वैष्णव दीक्षा दी जाती है। जब वे शरीर पर तिलक तथा कण्ठ और हाथ में कण्ठी-माला धारण करते हैं, तो साक्षात् वैकुण्ठ से आये लगते हैं। वास्तव में, उनकी शोभा साधारण ब्राह्मणों से कहीं अधिक होती है।"

अतः वैष्णव ब्राह्मणपद को पहले ही प्राप्त हो जाता है। वैष्णवों की आचारसंहिता 'हरिभक्तिविलास' में सनातन गोस्वामी ने भी इस विचार का समर्थन किया है। उनका स्पष्ट वाक्य है कि विधि-विधान से वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित पुरुष निस्सन्देह ब्राह्मण हो जाता है, उसी प्रकार जैसे पारे के मिश्रण से कांसा भी स्वर्ण बन जाता है। आचार्यों का अनुगामी सद्गुरु किसी को भी वैष्णव दीक्षा दे सकता है, जिससे शिष्य स्वाभाविक रूप से ब्राह्मणश्रेष्ठ बन जाता है।

श्रील रूप गोस्वामी की साथ-साथ चेतावनी है कि सद्गुरु का दीक्षित शिष्य यह न समझे कि दीक्षा मात्र से वह कृतकार्य हो गया है। विधि-विधान का दृढतापूर्वक पालन तब भी बड़ा आवश्यक है। यदि कोई गुरु से दीक्षा ग्रहण करके भक्ति की विधि का अनुसरण नहीं करता, तो फिर गिर जाता है। सावधानीपूर्वक सदा स्मरण रखना चाहिए कि वह भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य विग्रह का भिन्न-अंश है, अतः उसका कर्तव्य बनता है कि पूर्ण परात्पर श्रीकृष्ण की सेवा करे। यदि हम श्रीकृष्ण की सेवा में प्रमाद करेंगे तो फिर गिर जायेंगे। भाव यह है कि केवल दीक्षित

हो जाने से ही उच्च ब्राह्मणपद नहीं मिलता। बड़ी दृढ़ता से कर्तव्य और विधि का पालन करना परम आवश्यक है।

श्रील रूप गोस्वामी कहते है कि यदि कोई नियमित रूप से भक्तियोग के परायण रहे तो गिरने का कोई भय नहीं रहता। परन्तु यदि प्रसंगवश पतन हो जाय, तो भी वैष्णव को प्रायश्चित करने की आवश्यकता नहीं। दैवात् भक्तिसिद्धान्त से गिरकर निषिद्ध आचरण कर बैठने पर भी शुद्धि के लिए प्रायश्चित करना कर्तव्य नहीं है। भक्ति के विधि-विधान का पालन करने से ही अपनी स्थिति फिर प्राप्त हो जाती है। यह वैष्णव-शास्त्रों का रहस्य है।

वस्तुतः अध्यात्म चेतना के तीन मार्ग हैं—कर्म, ज्ञान और भक्ति। भक्तियोग का कर्मकाण्ड अथवा मनोधर्ममय ज्ञान से कोई प्रयोजन नहीं। कहा जा चुका है कि शुद्धभक्ति में ज्ञान-कर्म का लेश भी नहीं रहता। वह उनसे सर्वथा शुद्ध होती है।

इस संदर्भ में श्रील रूप गोस्वामी श्रीमद्भागवत से प्रमाण देते हैं। एकादश स्कन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा है, "गुण-दोष का निर्णय इस प्रकार किया जा सकता है। भक्तियोगी पुरुष फिर कभी सकाम कर्म अथवा मनोधर्म का आश्रय नहीं लेते। आचार्यों और शास्त्रों के विधि-विधान का अनुसरण करते हुए भक्ति में निष्ठ रहना सर्वोपरि गुण है।"

श्रीमद्भागवत (१.५.१७) में अन्यत्र भी इस वाक्य की पुष्टि है। नारदजी ने व्यासदेव से कहा, "जो अपने स्वधर्म को त्याग कर साक्षात् भगवान् हरि के चरणकमलों के आश्रित हो जाता है, उसका कभी अनिष्ठ नहीं होता और सब अवस्थाओं में उसकी स्थिति सुरक्षित रहती है। यदि दु:संग के कारण वह भक्ति से गिर भी जाय, अथवा भक्तिसाधन के पूरा होने से पहले ही मर जाय, तो भी उसे हानि नहीं होगी। दूसरी ओर, जो मनुष्य कृष्णभावना के बिना वर्णाश्रमधर्म का पालन करता है, उसे मानव-जीवन का यथार्थ लाभ नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जो जीव यह जाने बिना कि सकामकर्मों के द्वारा भवबन्धन दूर नहीं हो सकता, उन्मत्त की भाँति इन्द्रियतृप्ति की क्रियाओं में ही लगे रहते हैं, उन्हें बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्र में फेंका जायगा।

श्रीमद्भागवत के पाँचवे स्कन्ध में भगवान् ऋषभदेव का पुत्रों को उपदेश है, "सकामकर्मी जन्म-मृत्यु के बन्धन में ही फँसे रहते हैं। जब तक उनमें भगवान् वासुदेव के लिए प्रेमभाव का उदय नहीं होता, तब तक

इस दृढ़ बन्धन से नहीं छूट सकते ।" अस्तु, जो मनुष्य बड़ी गंभीरता से अपने वर्णाश्रमधर्म का अनुसरण तो करता है, परन्तु भगवान् वासुदेव से प्रेम नहीं करता, वह अपना मनुष्यजीवन व्यर्थ गवाँता है।

श्रीमद्भागवत (११.११.३२) में इस की पुष्टि करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं, "हे उद्धव ! जो पुरुष अन्य सब कर्तव्यों को त्यागकर पूर्णरूप से शरणागत हुआ मेरे आश्रित हो जाता है और मेरा आज्ञापालन करता है, वह सर्वश्रेष्ठ है।" इस भगवत्-वचन से स्पष्ट है कि दातव्य, नैतिक, परहितवादी, राजनीतिक और समाजकल्याण क्रियाओं में रुचि वाले मनुष्य प्राकृत-जगत् की दृष्टि में उत्तम हो सकते हैं। श्रीमद्-भागवत जैसे प्रामाणिक वैदिक शास्त्रों के अनुसार तो जो पुरुष भक्तियोग से युक्त होकर केवल कृष्णभावनाभावित कर्म करता है, वह इन सब से कहीं उत्तम है।

यही सिद्धान्त अन्यत्र (११.५.४१) और अधिक दृढ़तापूर्वक स्थापित किया गया है। करभाजन मुनि राजा निमि को सम्बोधित करते हैं, "हे राजन ! जो अपने वर्णाश्रमधर्म को त्याग कर सर्वभाव से भगवान् मुकुन्द के चरणकमलों के शरणागत हो जाता है, वह न तो किसी का ऋणी रहता है और न ऋषि, पितर, जीवसमुदाय, परिवार अथवा समाज के प्रति उसका कोई भी कर्तव्य शेष रहता है। पापों से मुक्ति के लिए उसे पँचयज्ञों से कोई प्रयोजन नहीं। केवल भक्ति करने से वह कृतकृत्य हो जाता है।" इस संसार में जन्म लेते ही मनुष्य बहुत से प्राणियों का ऋणी हो जाता है, वह ऋषियों का ऋणी है, क्योंकि उनके ग्रन्थों से लाभ उठता है। उदाहरण के लिए, हम सब व्यासप्रणीत ग्रन्थों से लाभान्वित होते हैं। व्यासदेव ने सम्पूर्ण वेदों का संकलन किया। उनसे पूर्व शिष्यगण वैदिकमन्त्रों को श्रौतपरम्परा से सुनकर कण्ठ कर लेते थे। उस समय पठन नहीं था। परन्तु कलियुग में लोगों की स्मरणशक्ति मंद हो जाती है, वे गुरु के सम्पूर्ण उपदेश की स्मृति नहीं रख सकते। अतः व्यासदेव ने वेदों को लिखित रूप देने की सोची। इसी प्रेरणा से उन्होंने वैदिक ज्ञानग्रन्थों के रूप में पुराण, वेदान्तसूत्र, महाभारत तथा श्रीमद्भागवत की रचना की।

शंकराचार्य, गौतम, नारद, आदि ऋषियों के भी हम ऋणी हैं क्योंकि उनकी विद्या का उपयोग करते हैं। इसी प्रकार जन्म, सम्पत्ति आदि के लिए अपने कुलपितरों के भी हम ऋणी हैं। इसीलिए पितरों को पिण्ड का दान किया जाता है। देवताओं, जनसाधारण, बन्धु-बाँधवों को तथा गाय और कुत्ते जैसे सेवक पशुओं का भी हम पर ऋण है। हमारा कर्तव्य

बनता है कि सेवा करके इन सब ऋणों का शोधन करें। परन्तु यदि कोई सब कर्तव्यों को त्याग कर अनन्यभाव से भगवान् हरि के शरणागत हो जाय तो भक्तियोग की एक चोट ही में वह किसी का भी ऋणी या किंकर नहीं रहता।

भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं, "अपने सम्पूर्ण कर्तव्यों को त्याग कर एक मेरे शरणागत हो जा! मैं शपथ खाता हूँ कि तेरी सब पापों से रक्षा करूँगा।" कोई सोच सकता है कि यदि मैं भगवान् के शरणागत हो जाऊँगा तो अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर सकूँगा। परन्तु भगवान् बारम्बार आश्वासन देते हैं, "संकोच न कर। मत समझ कि अन्य कर्तव्यों को त्याग देने से तेरा जीवन दोषयुक्त हो जायगा। ऐसा मत समझ। मैं तेरा सब प्रकार से संरक्षण करूँगा।" भगवद्गीता में यह भगवान् श्रीकृष्ण का वचन है।

'अगस्त्यसंहिता' में भी प्रमाण उपलब्ध है—"जिस प्रकार शास्त्र के विधि-निषेध मुक्तपुरुष पर नहीं लगते, वैसे ही रामोपासकों को पुराणों के विधि-विधान स्पर्श नहीं कर सकते।" भाव यह है कि भगवान् राम अथवा कृष्ण के उपासक मुक्त हो जाते हैं; अतः उनके लिए वैदिकशास्त्रों के कर्मकाण्ड में वर्णित विधान का अनुसरण आवश्यक नहीं है।

श्रीमद्भागवत, एकादश स्कन्ध के पाँचवें अध्याय में करभाजन मुनि राजा निमि से कहते हैं, "हे राजन्! देवों की उपासना को छोड़कर जो पूर्ण रूप से भगवान् की भक्ति के परायण हो गया है, वह भक्त उनका अतिशय प्रेमभाजन बन जाता है। इसलिए यदि प्रसंगवश अथवा भूल से उसके द्वारा कोई निषिद्ध कर्म बन जाय तो भी किसी प्रायश्चित की आवश्यकता नहीं। हृदय में बैठे हुए श्रीहरि उसके प्रासंगिक पतन पर दया करके अन्तर से उसका मार्जन कर देते हैं।" भगवद्गीता में बहुधा कहा है कि भगवान् श्रीकृष्ण विशेष रूप से भक्तवत्सल हैं। श्रीकृष्ण की घोषणा है कि उनके भक्तों का किसो भी कारण से आत्मपतन नहीं हो सकता। वे निरन्तर उनका संरक्षण करते हैं।

अध्याय ६

भक्ति के साधन

श्रील रूप गोस्वामी का उल्लेख है कि उनके अग्रज सनातन गोस्वामी ने वैष्णवों के मार्गदर्शन के लिए 'हरिभक्तिविलास' का संकलन करके वैष्णवों द्वारा आचरण के योग्य अनेक विधि-विधानों का वर्णन किया है। उनमें से कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण और प्रमुख हैं, जिनका अब वे पाठकों के लाभ के लिए उल्लेख करेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि रूप गोस्वामी विशदीकरण के बिना केवल मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना चाहते हैं। उदाहरणार्थ, गुरु का आश्रय लेना एक मुख्य सिद्धान्त है। परन्तु ठीक किस प्रकार गुरु का आज्ञापालन करना है, यह उस मूल सिद्धान्त का विवरण हुआ। जैसे कोई एक गुरु के उपदेश का अनुसरण करता है और वह उपदेश दूसरे गुरु की शिक्षा से भिन्न हो, तो इसे विवरणात्मक जानकारी कहा जायगा। विवरण में चाहे भेद हो, परन्तु गुरु-शरणागति का मूल सिद्धान्त सभी अवस्थाओं में लागू होता है। श्रील रूप गोस्वामी विस्तृत विवरण में न जाकर केवल सिद्धान्त-प्रतिपादन करना चाहते हैं।

उन्होंने भक्ति के निम्नलिखित अंग कहे हैं—१. सद्गुरु के चरण-कमलों का आश्रय ग्रहण करना; २. गुरु से कृष्णदीक्षा और भक्तियोग की शिक्षा लेना; ३. श्रद्धाभाव से गुरुसेवा (आज्ञापालन); ४. गुरुनिर्देश के अनुसार आचार्यों के पथ का अनुगमन; ५. कृष्णभावना में उन्नति के लिए गुरु से जिज्ञासा; ६. श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए भोगादि का त्याग (इसका अर्थ यह है कि जब हम कृष्णभक्ति में लगें, तो अपनी किसी प्रियवस्तु को त्यागें और किसी अप्रिय नियम को अंगीकार करें); ७. द्वारका, वृन्दावन आदि में निवास; ८. प्राकृत-जगत् से केवल आवश्यकता भर व्यवहार करना; ९. एकादशी व्रतपालन; १०. आमलक, अश्वत्थ आदि पुण्य वृक्षों का पूजन।

ये दस अंग विधिभक्ति के अनुष्ठान का आरम्भ करने के लिए

आवश्यक हैं। प्रारंभिक दशा में इन दसों अंगों का पालन करने से कनिष्ठ भक्त शीघ्र कृष्णभावना में पर्याप्त उन्नति कर लेगा।

अगले दस अंग ये हैं—१. जो भगवान् से विमुख हों उनका दूर से ही संगत्याग; २. भक्तियोग में रुचि न रखनेवाले को उपदेश न करे; ३. विशाल मन्दिर-मठ बनाने के लिए अधिक उद्यम न करे; ४. अधिक ग्रन्थों का अध्ययन न करे तथा श्रीमद्भागवत और भगवद्गीता की कथा को आय का साधन न बनाये; ५. व्यवहार में प्रमाद न करे; ६. हानि-लाभ में दुःख-सुख से अभिभूत न हो; ७. देवताओं का अपमान न करे; ८. किसी भी जीव को न सताये; ९. सेवा और नाम के अपराधों से बचे; १०. श्रीकृष्ण अथवा उनके भक्त की निन्दा को कभी न सहन करे।

उपरोक्त दस 'अंगों' का पालन किए बिना साधनभक्ति की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। कुल मिलाकर श्रील रूप गोस्वामी ने बीस साधन बताए हैं। ये सभी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। बीस में से पहले तीन—गुरुपाद-आश्रय, दीक्षा और श्रद्धाभाव सहित गुरुसेवा का प्रधान महत्त्व है।

आगे अतिरिक्त साधन हैं : १. शरीर पर वैष्णवचिन्ह; तिलकधारण करना (भाव यह है कि जब कोई वैष्णव के शरीर पर इन चिन्हों को देखेगा, तो उसे तत्काल कृष्णस्मृति होगी। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि वैष्णव वह है, जिसके दर्शन से श्रीकृष्ण की स्मृति हो; अतः यह आवश्यक है कि दूसरों को श्रीकृष्ण का स्मरण कराने के लिए वैष्णव शरीर पर तिलक लगाये); २. शरीर पर 'हरेकृष्ण' धारण करना; ३. भगवत्-मूर्ति और गुरुदेव को अर्पित हार-पुष्प को शरीर पर ग्रहण करना; ४. मूर्ति के आगे नृत्य करना; ५. मूर्ति अथवा गुरु को देखते ही दण्डवत् प्रणाम करना; ६. खड़े होकर स्वागत करना; ७. मार्ग में मूर्ति की शोभायात्रा के पीछे-पीछे चलना (इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि आज भी अनेक मन्दिरों में, विशेषतः विष्णुमन्दिरों में यह प्रथा है कि मन्दिर में स्थापित बड़ी अचल मूर्ति के अतिरिक्त दूसरी छोटी मूर्तियाँ भी रहती हैं, जिन्हें सांध्य-काल में शोभायात्रा पर ले जाया जाता है। कुछ मन्दिरों में सांध्य में बड़ी शोभायात्रा की परिपाटी है, जिसमें नगाढ़े बजते हैं, चँवर डूलाये जाते हैं और मूर्ति को पालकी में सिंहासन पर विराजित किया जाता है, जिसे भक्तजन धारण करते हैं। मूर्तियाँ मार्ग में निकलती हैं और आसपास के लोग प्रसाद लेने आते हैं। सब मूर्ति के पीछे-पीछे चलते हैं। बड़ा सुन्दर दृश्य होता है। मूर्ति को बाहर निकालते समय मन्दिर के सेवक उनके समक्ष आय-व्यय का पूरा व्योरा रखते हैं। भाव यह है कि भगवत्-मूर्ति को

सारे संस्थान का अधिपति समझा जाता है और सब पुजारी और संचालक उनके सेवक माने जाते हैं। अतिपुरातन होने पर भी यह प्रथा अद्यावधि चल रही है। अतः यहाँ कहा गया है कि श्रीमूर्ति की शोभायात्रा का अनुव्रजन करे) ८. भक्त को प्रातः और सांयकाल दिन में कम से कम दो बार विष्णुमन्दिर अवश्य जाना चाहिए। (वृन्दावन में इस पद्धति का पालन बड़ी दृढ़ता से किया जाता है। सभी भक्त प्रातः-सायं विविध मन्दिरों में दर्शनों के लिए जाते हैं। इसलिए दोनों समय मन्दिरों में बहुत भीड़ हो जाती है। वृन्दावन में लगभग ५००० मन्दिर हैं। अवश्य ही सब मन्दिरों में नहीं जाया जा सकता; परन्तु ऐसे प्रायः बारह मन्दिर हैं, जिन्हें गोस्वामियों ने स्थापित किया था। उनमें अवश्य जाना चाहिए) ९. मन्दिर की कम से कम तीन बार परिक्रमा करे (प्रत्येक मन्दिर में परिक्रमा का मार्ग रहता है। भक्त अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार दस-पन्द्रह या अधिक परिक्रमा करते हैं। गोस्वामीगण गोवर्धन पर्वत की प्रदक्षिणा करते थे) सम्पूर्ण वृन्दावन धाम की परिक्रमा भी करनी चाहिए; १०. मन्दिर में मूर्ति की विधि से अर्चना करनी चाहिए (आरति, भोग, शृंगार आदि का नियम-पालन); ११. अर्चाविग्रह की परिचर्या (सेवा); १२. गाना; १३. संकीर्तन, १४. जप; १५. प्रार्थना; १६. स्तवपाठ; १७ महाप्रसाद का आस्वादन करना; १८. चरणामृतपान; १९. मूर्ति को अर्पित धूप और पुष्प की सुगन्ध को ग्रहण करना; २०. श्रीमूर्ति के चरणकमलों का स्पर्श करना; २१. भक्तिभाव से श्रीमूर्तिदर्शन करना; २२. समय-समय पर आरति करना; २३. श्रीमद्भागवत, गीता, आदि ग्रन्थों से भगवत्कथा सुनना, २४. श्रीमूर्ति से कृपा की याचना करना; २५. श्रीमूर्ति का स्मरण करना; २६. श्रीमूर्ति का ध्यान करना; २७, सेवा करना; २८. श्रीभगवान् के साथ सखाभाव; २९. सर्वस्व अर्पण कर देना; ३०. अपने प्रिय भोजन, वस्त्र आदि का भगवान् को अर्पण; ३१. श्रीकृष्ण के लिए सम्पूर्ण चेष्टा करना, सब संकट सहना; ३२. सब अवस्थाओं में पूर्ण रूप से भगवान् के शरणागत रहना; ३३. तुलसी को जल में सींचना; ३४. श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों को नियमित रूप से सुनना; ३५. मथुरा, वृन्दावन, द्वारका आदि धामों में वास; ३६. वैष्णवों की सेवा करना, ३७. वैभव के अनुसार भक्तियोग करना; ३८ कार्तिक आदि में विशेष सेवा का आयोजन; ३९. जन्माष्टमी महोत्सव का आयोजन करना; ४०. विशेष श्रद्धा और भक्ति से श्रीमूर्ति के चरणकमलों की सेवा करना; ४१. केवल रसिकों के साथ श्रीमद्भागवत का आस्वादन करना; ४२. अपने से उत्तम

सजातीय भक्तों का सत्संग करना; ४३. कृष्णनाम का कीर्तन करना; ४४. मथुरामण्डल में रहना ।

इस प्रकार ये सब सम्मिलित रूप से चौसठ अंग हैं । जैसे कहा गया है, पहले दस विधान भक्ति में प्रारम्भिक हैं । इसके बाद दस और अंग हैं; चौबालिस अतिरिक्त अंग हैं । अस्तु, साधनविधिभक्ति के कुल चौसठ साधन हैं । इनमें से अर्चन, श्रीमद्भागवत-श्रवण, भक्तों का सत्संग, नाम-संकीर्तन तथा मथुरावास—ये पाँच प्रधान हैं ।

भक्ति के उपरोक्त चौसठ साधनों में कायिक, वाचिक और मानसिक—सब क्रियायें आ जाती हैं । पूर्वकथन के अनुसार यह भक्ति की विधि है कि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ भगवत्सेवा के परायण हों । यह कैसे किया जाय, इसके प्रकार का निरूपण इन चौसठ साधनों में है । इसके बाद श्रील रूप गोस्वामी नाना शास्त्रों से इनमें से कतिपय साधनों के प्रमाण प्रस्तुत करेंगे ।

अध्याय ७

भक्ति के अंगों के प्रमाण

सद्गुरु-पादाश्रय

श्रीमद्भागवत (११.३.२१) में प्रबुद्ध महाराज निमि से कहते हैं, "हे राजन् ! निश्चित जानो कि प्राकृत-जगत् में लेशमात्र भी सुख नहीं है। इस दुःखमय स्थान में सुख की प्रतीति भ्रममात्र है। यथार्थ सुख का जिज्ञासु सद्गुरु को ढूँढे और दीक्षा के द्वारा उनका आश्रय ले। गुरु वही बनने योग्य है, जो स्वयं युक्ति और विमर्श द्वारा शास्त्रों के सिद्धान्तों में निष्णात् हो और दूसरों को भी इन सिद्धान्तों में निष्ठ कर सके। जो सम्पूर्ण सांसारिक कामनाओं का त्याग कर भगवान् के शरणागत हो गए हैं, वे महापुरुष ही सद्गुरु हैं। मनुष्यजीवन परमानन्द की प्राप्ति के लिए है। अतः सभी को सद्गुरु की शरण में जाना चाहिए।"

तात्पर्य यह है कि ऐसे व्यक्ति को गुरु न बनाए जो महामूर्ख हो, जिसे शास्त्र की आज्ञा का ज्ञान न हो, जिसका चरित्र संदिग्ध हो, जो भक्ति की विधि को न मानता हो, अथवा जिसने छः इन्द्रियतृप्ति के साधनों को जीत न लिया हो। ये छः साधन हैं : जिह्वा, उपस्थ, उदर, क्रोध, मान और वाणी। जिसने इन छहों को वश में करने का अभ्यास किया है, वह सम्पूर्ण जगत् में शिष्य बना सकता है। ऐसे गुरु का आश्रय आध्यात्मिक जीवन में सम्पूर्ण उन्नति का आधार है। सद्गुरु के आश्रय में आने वाला भाग्यवान् निश्चित रूप से भवबन्धन से मुक्त हो जाता है।

गुरु से कृष्णदीक्षा तथा भक्ति का उपदेश ग्रहण

प्रबुद्ध मुनि ने राजा से आगे कहा, "हे राजन् ! शिष्य गुरु को केवल गुरु ही नहीं समझे; वरन् उन्हें श्रीभगवान् और परमात्मा का रूप समझना चाहिए। भाव यह है कि शिष्य गुरु को भगवान् का रूप समझे, क्योंकि वे श्रीकृष्ण के बाह्य प्रकाश हैं।" सभी शास्त्रों से यह प्रमाणित है कि शिष्य गुरु को इसी रूप में माने। गुरुदेव के लिए पूर्ण श्रद्धा और

आदरभाव के साथ श्रीमद्भागवत का गम्भीर अध्ययन करना चाहिए। श्रीमद्भागवत का श्रवण-कीर्तन वह धर्मपथ है, जिससे साधक भगवत्सेवा और भगवत्प्रेम तक उन्नति करता है।''

शिष्य का भाव सदा यही होना चाहिए कि गुरुदेव प्रसन्न हों। तब उसके लिए आत्मविद्या बड़ी सुगम हो जायगी। वेदों में इसका समर्थन है और रूप गोस्वामी आगे बतायेंगे कि भगवान् और गुरु में अनन्य श्रद्धालु के लिए सम्पूर्ण तत्त्व अपने-आप स्फुरित हो जाता है।

श्रद्धा-विश्वास सहित गुरुसेवा

गुरु से दीक्षा ग्रहण करने के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत (११.१७.२७) में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, "हे उद्धव ! गुरु को मेरा रूप ही नहीं, वरन् मेरा आत्मा ही समझना चाहिए। उन्हें साधारण मनुष्य कभी न समझे। साधारण मनुष्य के जैसे गुरु से कभी द्वेष न करे। उन्हें सदा श्रीभगवान् का प्रतिनिधि मानना चाहिए। गुरु की सेवा करने से सारे देवताओं की सेवा सम्पन्न हो जाती है।''

साधुपुरुषों के चरणचिन्हों का अनुगमन

'स्कन्दपुराण' में आदेश है कि भक्त को पूर्ववर्ती आचार्यों एवं साधु-पुरुषों का अनुगमन करना चाहिए। इससे शोक और असफलता पास नहीं फटक सकती तथा अभीष्ट श्रेयसिद्धि हो जाती है।

'ब्रह्मयामलशास्त्र' में कहा गया है, "यदि कोई शास्त्रों की विधि को माने बिना ही बड़ा भक्त बनता है तो उसकी इन क्रियाओं से भक्ति सिद्ध नहीं होगी; वह भक्ति के यथार्थ साधकों के मार्ग में उत्पात ही खड़ा करेगा।'' शास्त्रविधि पर दृढ़ता से न चलने वालों को प्रायः सहजिया कहा जाता है; वे समझते हैं कि सब कुछ सहज ही हो जाता है। अपनी मनमानी विचारधारा के कारण वे शास्त्रविधि को नहीं मानते। ऐसे व्यक्ति भक्तिसाधन के मार्ग में केवल उत्पातकारी हैं।

इस संदर्भ में शास्त्र को न मानने वाले अभक्त एक तर्क कर सकते हैं। इसका एक उदाहरण बौद्धदर्शन है। भगवान् बुद्ध का आविर्भाव उच्च क्षत्रिय राजकुल में हुआ था; परन्तु उनका दर्शन वैदिक सिद्धान्त के अनुकूल नहीं था, इसलिए उसे त्याग दिया गया। हिन्दू महाराज अशोक के संरक्षण में बौद्धमत सम्पूर्ण भारत और निकटवर्ती प्रदेशों में अवश्य फैल गया था। परन्तु महान् आचार्य शंकर का आविर्भाव होने के बाद यह बौद्धमत भारत की सीमा से बाहर खदेड़ दिया गया।

शास्त्र की अवज्ञा करनेवाले बौद्ध एवं अन्य मतावलम्बी प्रायः कहते हैं कि भगवान् बुद्ध के ऐसे कितने ही भक्त हैं जो उनकी सेवा के परायण हैं; अतः उन्हें भी भक्त समझा जाना चाहिए। इस तर्क के उत्तर में रूप गोस्वामी कहते हैं कि बौद्धों को भक्त नहीं माना जा सकता। यद्यपि भगवान् बुद्ध श्रीकृष्ण के अवतार मान्य हैं, परन्तु ऐसे अवतारों के अनुयायी वैदिकज्ञान में अधिक उन्नत नहीं होते। वेदाध्ययन का अर्थ श्रीभगवान् परमेश्वर हैं—इस निश्चय पर पहुँचना है। इसलिए जो मत श्रीभगवान् के परमेश्वरत्व का निराकरण करे, वह त्याज्य है, क्योंकि वह नास्तिकवाद है। वेदों के प्रमाण की अवज्ञा और जनसाधारण के कल्याण हेतु वैदिकशास्त्र की शिक्षा देने वाले महान् आचार्यों की निन्दा करना नास्तिकवाद ही है।

श्रीमद्भागवत ने भगवान् बुद्ध को श्रीकृष्ण का अवतार माना है, परन्तु उसी भागवत में उल्लेख है कि भगवान् बुद्ध नास्तिक मनुष्यों को मोहित करने के लिए अवतरित हुए थे। अतः उनका दर्शन नास्तिकों के मोहन के लिए ही है, उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। कोई जिज्ञासा कर सकता है, "श्रीकृष्ण नास्तिकवाद क्यों फैलायेंगे ?" इसका उत्तर यह है कि श्रीभगवान् की इच्छा थी कि वेदों के नाम पर उस समय चल रही हिंसा को रोका जाय। धर्मध्वजी लोग माँसाहार जैसी हिंसक क्रियाओं के लिए वेदों का दुरुपयोग कर रहे थे। ऐसे समय में पतित लोगों को वेदों की ऐसी भ्रान्त व्याख्या से बचाने के लिए भगवान् बुद्ध आए। भगवान् बुद्ध ने नास्तिकों के लिए नास्तिकवाद का उपदेश इसलिए किया, जिससे वे उनका अनुगमन करें और इस प्रकार युक्ति से उनकी, अर्थात् श्रीकृष्ण की भक्ति के परायण हो जायें।

सद्धर्म की जिज्ञासा

'नारदीयपुराण' में कहा है, "जो भक्ति का यथार्थ अभिलाषी है, उसके सर्वाभीष्ट तत्काल सिद्ध हो जाते हैं।"

श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए सर्वस्वत्याग

'पद्मपुराण' में उल्लेख है, "जिसने प्राकृत इन्द्रियतृप्ति को त्याग कर भक्ति के सिद्धान्तों को अंगीकार कर लिया है, विष्णुलोक का ऐश्वर्य उसकी प्रतीक्षा में है।"

तीर्थवास

'स्कन्दपुराण' में कथन है कि जो एक वर्ष, छः मास, एक मास

अथवा एक पक्ष के लिए भी द्वारका में निवास करता है, उसका वरण करने के लिए वैकुण्ठ धाम और सारूप्य मोक्ष आतुर रहते हैं।''

'ब्रह्मपुराण' के अनुसार, "अहो ! भगवान् जगन्नाथ के दस योजन व्यापी पुरुषोत्तम क्षेत्र का माहात्म्य मन-वाणी के अगोचर कैसा अद्भुत है ! स्वर्गीय देवता भी यहाँ के निवासियों को चतुर्भुज देखते हैं।

नैमिषारण्य के ऋषिसत्र में सूत गोस्वामी श्रीमद्भागवत की कथा कह रहे थे। वहाँ गंगा का माहात्म्य इस प्रकार है, "गंगा का जल भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों में अर्पित तुलसी की सौरभ से मिश्रित रहता है। यह गंगाजल निरन्तर श्रीकृष्ण की पावन कीर्ति प्रचारित कर रहा है। जहाँ-जहाँ यह प्रवाहित होता है, वहाँ सब कुछ बाहर-भीतर से शुद्ध हो जाता है।''

अपरिग्रह (आवश्यकता से अधिक कुछ भी ग्रहण न करना)

'नारदीयपुराण' में आदेश है, "भक्ति-साधन के यथार्थ अभिलाषी को जितने अर्थ में निर्वाह हो जाय, उतना ही ग्रहण करना चाहिए।'' तात्पर्य यह है कि भक्ति के विधान की उपेक्षा न करे और न ही उन विधानों को ग्रहण करे, जिनका सुगमता से पालन करने की सामर्थ्य न हो। उदाहरणार्थ, जैसे कोई कहे कि हरेकृष्ण महामन्त्र का कम से कम १,००,००० बार प्रतिदिन जप करना चाहिए। परन्तु यदि यह सम्भव न हो तो अपनी सामर्थ्य के अनुसार कम जप करे। सामान्यतः हम अपने शिष्यों को प्रतिदिन कम से कम सोलह माला का जप करने को कहते हैं। यह अवश्य करना चाहिए। यदि किसी दिन सोलह माला भी पूरी न हों अगले दिन पूरी करनी चाहिए। इस व्रत के पालन में सावधान रहे। यदि कोई दृढ़ता के साथ ऐसा नहीं करता तो वह प्रमाद का दोषी होगा। भगवत्सेवा के मार्ग में यह बडा अपराध है। यदि हम अपराधों को प्रोत्साहन देंगे तो भक्तिपथ पर अग्रसर नहीं हो सकेंगे। अच्छा होगा यदि अपनी योग्यता के अनुसार नियम बना कर निरन्तर उसका पालन किया जाय। इससे परमार्थ में उन्नति होगी।

एकादशी व्रतपालन

'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में उल्लेख है कि एकादशी का उपवासी सब पापों से मुक्त होकर आत्यन्तिक पुण्य को प्राप्त करता है। मुख्य बात उपवास करना नहीं, भगवान् गोविन्द के लिए अपने श्रद्धा और प्रेम को बढ़ाना है। एकादशीव्रत का वास्तविक कारण यह है कि शारीरिक आवश्यकताओं

को कम से कम करके अपने समय को भगवत्स्मरण जैसे सेवा कार्य में लगाया जा सके। व्रतवासरों पर गोविन्द की लीला का स्मरण और उनके पावन नाम का निरन्तर श्रवण करना सर्वोत्तम है।

अश्वत्थ आदि वृक्षों का सम्मान

'स्कन्दपुराण' में निर्देश है कि भक्त को तुलसी और आमलक का जल से अभिसिंचन करना चाहिए। गौब्राह्मणों का सम्मान करके तथा पूजन, प्रणति और ध्यान के द्वारा वैष्णवसेवन करे। ये सब कर्म भक्त के पूर्व पापफलों के निवारण करने में सहायक हैं।

श्रीकृष्णविमुखों के संग का त्याग

श्रीचैतन्य महाप्रभु से एक बार उनके एक गृहस्थ भक्त ने पूछा था कि वैष्णव का सामान्य आचरण कैसा होना चाहिए। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उत्तर दिया कि वैष्णव को अभक्तों के संग से सदा दूर रहना चाहिए। फिर उन्होंने समझाया कि अभक्त दो प्रकार के होते हैं, एक वे जो भगवान् श्रीकृष्ण के विरोधी हों और दूसरे घोर विषयी। भाव यह है कि इन्द्रिय-तृप्ति के अभिलाषी और भगवान् श्रीकृष्ण के विरोधी अवैष्णव हैं, उनका संग कभी नहीं करना चाहिए।

'कात्यायनसंहिता' में कहा है कि अग्नि की ज्वालाओं के मध्य में स्थित लोहे के पिंजड़े के भीतर रहना अच्छा है, पर श्रीकृष्णविमुखों का संग कभी न करे। इसी प्रकार 'विष्णुरहस्य' में कथन है कि विषयवासना से प्रेरित होकर नाना देवों की उपासना करने वालों का सहवास करने की अपेक्षा साँप, बाघ अथवा मगर का आलिंगन अच्छा है।

शास्त्रों में भिन्न-भिन्न प्राकृत अभिलाषाओं के लिए नाना देवताओं की उपासना का विधान है। उदाहरणार्थ रोगनिवृत्ति के लिए सूर्य की उपासना कही गयी है; सुन्दर स्त्री के लिए पार्वती की और विद्या के लिए सरस्वती की आराधना करनी चाहिए। इस प्रकार श्रीमद्भागवत में नाना प्राकृत कामनाओं के लिए भिन्न-भिन्न देवों की उपासना का उल्लेख है। ये उपासक चाहे देवों के अच्छे भक्त प्रतीत होते हैं, परन्तु इन्हें अभक्त ही समझा जाता है। ये भक्त नहीं हैं।

मायावादी कहते हैं कि किसी भी रूप की उपासना की जा सकती है क्योंकि अन्त में एक ही लक्ष्य की, भगवान् की प्राप्ति हो जाती है। किन्तु भगवद्गीता में स्पष्ट कहा है कि देवोपासकों को अन्त में देवलोकों की

प्राप्ति होगी, जबकि भगवद्भक्त वैकुण्ठ-जगत् में प्रविष्ट हो जायेंगे। देवोपासकों की तो गीता में वस्तुतः निन्दा ही है। उल्लेख है कि कामनाओं ने उनकी बुद्धि हर ली है, इसीलिए वे नाना देवताओं के आराधन में प्रवृत्त होते हैं। 'विष्णुरहस्य' में यह कहकर इन देवोपासकों की घोर भर्त्सना है कि भयंकर जन्तुओं के साथ रहना अच्छा है, पर इनके साथ कभी न रहे।

अयोग्य शिष्य न बनाना, बड़े मन्दिरों का निर्माण न करना तथा बहुत ग्रन्थ न पढ़ना

एक अन्य नियम यह है कि अधिक शिष्य तो बनाए जा सकते हैं, परन्तु ऐसा कोई व्यवहार न करे जिससे किसी कार्य अथवा कृपादृष्टि के लिए किसी शिष्य के आधीन होना पड़े। नए मन्दिरों के निर्माण के लिए अधिक उद्यम नहीं करना चाहिए और न भक्तिवर्धक ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य पुस्तकों का अभ्यास ही करना चाहिए। वस्तुतः श्रीमद्-भगवद्गीता यथारूप, श्रीमद्भागवत, 'चैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत' तथा इस भक्तिरसामृतसिन्धु का गम्भीर अध्ययन करने से कृष्णभावना की विद्या का पर्याप्त ज्ञान हो सकता है। अन्य ग्रन्थों के पठन के आयास की आवश्यकता नहीं रहती।

श्रीमद्भागवत (७.१३.३) में नारद मुनि ने महाराज युधिष्ठिर से नाना वर्ण-आश्रमों के कर्तव्यों का वर्णन करते हुए विशेषतः संन्यास के नियमों का उल्लेख किया है। संन्यासी को अयोग्य व्यक्ति को शिष्य नहीं बनाना चाहिए। उसे पहले यह देखना चाहिए कि शिष्य बनने का अभिलाषी कृष्णभावना का यथार्थ जिज्ञासु भी है या नहीं, यदि नहीं, तो उसे स्वीकार नहीं करना चाहिए। परन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभु की अहैतुकी करुणा इतनी अगाध है कि उन्होंने सब सद्गुरुओं को सभी देशकाल में कृष्णभावना का प्रचार करने की आज्ञा दी है। अतः श्रीचैतन्य महाप्रभु की परम्परा में संन्यासी भी कृष्णभावना पर सर्वत्र उपदेश कर सकते हैं और यदि कोई यथार्थ में शिष्य बनना चाहे तो उसे स्वीकार किया जा सकता है।

इसका कारण है—शिष्यों की संख्या बढ़ाए बिना कृष्णभावनामृत का व्यापक प्रसार नहीं हो सकता। अतः कभी-कभी संकट उठाकर भी भगवान् चैतन्य महाप्रभु की परम्परा का संन्यासी पूर्ण योग्य न होने पर भी किसी व्यक्ति को शिष्य बना सकता है। बाद में सद्गुरु की कृपा से शिष्य शनैः-शनैः उन्नति कर लेता है। परन्तु यदि कोई केवल मिथ्या सम्मान

के लिए या अभिमानवश अपने शिष्यों की संख्या बढ़ाये तो वह निश्चित रूप से कृष्णभावना के पथ से गिर जायगा।

विद्वत्ता दिखाने के लिये अधिक ग्रन्थों के अध्ययन स अथवा नाना स्थानों पर व्याख्यान देकर कीर्ति अर्जित करने से भी सद्गुरु को कोई प्रयोजन नहीं होता। इन सब दोषों से बचना चाहिए। यह भी उल्लेख है कि नए मन्दिर बनाने का अधिक उत्साह न रखे। श्रीचैतन्य महाप्रभु की परम्परा के सभी आचार्यों से जीवन में हम देखते हैं कि वे मन्दिर-निर्माण में अधिक उत्साह नहीं रखते। परन्तु यदि कोई कुछ सेवा करना चाहे तो ये संकोची आचार्य उस सेवक को बहुव्यय साध्य मन्दिरों के निर्माण की अनुमति दे देंगे। मुगल सम्राट् अकबर का सेनाधिपति मानसिंह रूप गोस्वामी की सेवा करना चाहता था। अतः रूपगोस्वामी ने बड़ी लागत से विशाल गोविन्ददेव के मन्दिर का निर्माण करने की आज्ञा दे दी।

अस्तु. सद्गुरु को मन्दिर निर्माण का दायित्त्व स्वयं नहीं उठाना चाहिए; परन्तु यदि किसी के पास धन हो, जिसे वह भगवत्सेवा में व्यय करना चाहे तो रूप गोस्वामी जैसे आचार्य उस धन को भगवान् की सेवा के लिए बड़ा-सा सुन्दर मन्दिर बनाने में लगा सकते हैं। दुर्भाग्यवश कभी-कभी गुरुपद के अयोग्य व्यक्ति भी धनाढ्य पुरुषों से मन्दिर-निर्माण के लिए धन माँगते हैं। यदि अयोग्य गुरु ऐसे धन का प्रयोग वास्तविक प्रचार-कार्य किए बिना केवल बड़े-बड़े मन्दिरों में सुख से रहने में करे तो यह शास्त्रविरुद्ध होगा। भाव यह है कि नाममात्र के परमार्थ के लिए सद्गुरु मन्दिर-निर्माण में अधिक रुचि न दिखाये। उसका पहला और प्रधान कर्तव्य प्रचार करना है। इस सन्दर्भ में श्रील भक्तिसिद्धान्त गोस्वामी महाराज कहा करते थे कि गुरु ग्रन्थों का प्रकाशन करे। उपलब्ध धन से महँगे मन्दिर बनाने की अपेक्षा कृष्णभावना आन्दोलन के प्रसार के लिए नाना भाषाओं में प्रामाणिक ग्रन्थ छापने चाहियें।

व्यवहार में निष्कपटता तथा हानि-लाभ में समता

'पद्मपुराण' में एक वाक्य है, "कृष्णभावना-परायण पुरुषों को प्राकृत हानि-लाभ से चिन्तित नहीं होना चाहिए। हानि में भी स्थिरबुद्धि के साथ अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण का स्मरण करे।" बद्धजीव प्राकृत क्रियाओं के चिन्तन में डूबा रहता है। उसे इन विचारों से मुक्त होकर कृष्णभावनाभावित हो जाना है। पूर्ववर्णन के अनुसार, निरन्तर कृष्ण-

स्मरण कृष्णभावना का प्रधान सिद्धान्त है। प्राकृत हानि से उद्वेलित न हो, वरन् भगवान् के चरणकमलों में मन को निवेशित किए रहे।

भक्त को शोक और मोह के वशीभूत नहीं होना चाहिए। 'पद्म-पुराण' में कहा है, "जिसका चित्त शोक अथवा क्रोध से आक्रान्त है, उसमें श्रीकृष्ण के स्फुरण की सम्भावना कैसे हो सकती है ?"

देवता

भक्त देवताओं का अपमान न करे। देवभक्त न होने का यह अर्थ नहीं कि उनका सम्मान ही न किया जाय। वैष्णव शिव अथवा ब्रह्मा का भक्त नहीं होता, परन्तु ऐसे सभी उच्च देवों को प्रमाण करना उसका कर्तव्य है। वैष्णवदर्शन के अनुसार चींटि तक को प्रमाण करना चाहिए, फिर शिव-ब्रह्मा जैसे महापुरुषों के सम्बन्ध में तो क्या कहना है।

पद्मपुराण का वाक्य है, "सब देवताओं के ईश्वर के भी ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की ही सदा आराधना करनी चाहिए; फिर भी ब्रह्मा, शिव आदि की अवज्ञा कभी न करे।"

किसी जीव को न सताना

महाभारत का वाक्य है, "कृपामय पिता जैसे पुत्र को नहीं सताता है, इस प्रकार जो किसी प्राणी को कष्ट नहीं पहुँचाता है, उस शुद्ध अन्तः-करण पुरुष पर भगवान् बहुत शीघ्र प्रसन्न होते हैं।"

आज के तथाकथित सभ्य समाज में पशुपीड़न का विरोध होता है; परन्तु साथ में नियमित वधशालायें भी चलती रहती हैं। वैष्णव को यह अच्छा नहीं लगता। वैष्णव पशुवध का समर्थन नहीं कर सकता और न कभी किसी प्राणी को सता सकता है।

अध्याय ८

वर्जनीय अपराध

वैदिक शास्त्रों में ऐसे ३२ नियमों का उल्लेख है, जिनका पालन न करने से भगवत्सेवा-अपराध बनते हैं :

१. भगवान् के मन्दिर में वाहन पर बैठे हुए अथवा जूते पहने-पहने प्रवेश नहीं करना चाहिए; २. भगवान् की प्रसन्नता के लिए जन्माष्टमी, रथयात्रा, आदि महोत्सवों को अवश्य मनाना; ३. भगवत्-मूर्ति के आगे दण्डवत् प्रणाम करने में प्रमाद न करना; ४. भोजन के बाद हाथ-पैर धोये बिना मन्दिर में प्रवेश न करना; ५. दूषित अवस्था में मन्दिर-प्रवेश न करना (वैदिक शास्त्र के अनुसार परिवार में किसी की मृत्यु हो जाने पर सम्पूर्ण कुल कुछ काल के लिए दूषित हो जाता है। ब्राह्मणकुल के लिए दूषितकाल १२ दिन रहता है, क्षत्रियों और वैश्यों के लिए १५ दिन और शूद्रों के लिए ३० दिन); ६. एक हाथ से दण्डवत् प्रणाम न करना; ७. श्रीकृष्ण के आगे परिक्रमा न करना (मन्दिर की परिक्रमा की विधि यह है कि श्रीमूर्ति की दक्षिण दिशा से प्रदक्षिणा करे। मन्दिर के बाहर प्रतिदिन तीन बार परिक्रमा करनी चाहिए); ८. मूर्ति के आगे पैर न फैलाए; ९. मूर्ति के सम्मुख उकड़वाँ नहीं बैठना चाहिए; १०. श्रीकृष्ण मूर्ति के आगे लेटे नहीं; ११. मूर्ति के आगे प्रसाद न खाय; १२. मूर्ति के आगे झूठ न बोले; १३. मूर्ति के समक्ष जोर से न बोले; १४. मूर्ति के आगे बात न करे १५. मूर्ति के आगे रुदन अथवा चीत्कार न करे; १६. मूर्ति के सम्मुख लड़ाई-झगड़ा न करे; १७. मूर्ति के आगे किसी को डाँटे नहीं; १८. मूर्ति के आगे भिक्षु को दान न दे; १९. मूर्ति के आगे किसी से कठोर वचन न कहे; २०. मूर्ति के आगे चर्म धारण न करे; २१. मूर्ति के सांनिध्य में किसी अन्य की स्तुति न करे; २२. मूर्ति के निकट कोई अपशब्द न कहे; २३. मूर्ति के निकट अधोवायु न छोड़े; २४. वैभव के अनुसार मूर्ति की अर्चना में प्रमाद न करे (भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं कि वे भक्त द्वारा समर्पित जल या पत्ते से भी संतुष्ट हो जाते हैं। भगवान् ने यह

सार्वभौम विधान किया है; परम अकिंचन मनुष्य भी इसका पालन कर सकता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वैभवपूर्ण अर्चन करने में समर्थ पुरुष भी भगवान् को केवल जल और पत्र-पुष्प से तुष्ट करे। वैभव के अनुसार सुन्दर आभूषणों, पुष्पों, नैवेद्यों का अर्पण करना चाहिए। ऐसा नहीं कि भगवान् को तो जल और पत्र-पुष्प से प्रसन्न करे और सारे धन का अपनी इन्द्रियतृप्ति में व्यय करे); २५. श्रीकृष्ण को अर्पण किए बिना कुछ न खाय; २६. ऋतु के फल और अन्न का श्रीकृष्ण को निवेदन करना न भूले; २७. भोजन का भोग लगाने से पूर्व किसी को भी न खिलाये; २८. मूर्ति की ओर पीठ न करे; २९. गुरु को प्रणाम चुपचाप न करे, अर्थात् प्रणाम करते हुए गुरु-प्रणति का उच्च स्वर से पाठ करे; ३०. गुरु के सांनिध्य में स्तवपाठ करना न भूले; ३१. गुरु के आगे आत्मप्रशंसा न करे; ३२. मूर्ति के समक्ष देवनिन्दा न करे।

यह ३२ अपराधों की सूचो है इनके अतिरिक्त 'वराहपुराण' में कुछ अन्य अपराधों का उल्लेख है: १. अन्धकार में मूर्ति का स्पर्श न करे; २. मूर्ति-अर्चन के विधि-विधान के दृढ़ पालन में प्रमाद न करे; ३. ध्वनि किए बिना मन्दिर में प्रविष्ट न हो; ४. कुत्ते आदि अधम पशुओं की दृष्टि से दूषित पदार्थ भगवान् को अर्पित न करे; ५. आराधना के काल में मौनभंग न करे; ६. पूजन करते हुए मूत्रपुरीषोत्सर्ग न करे; ७. पुष्प का अर्पण किए बिना धूप न दिखाना; ८. सुगंधरहित पुष्पों को अर्पित न करना; ९. प्रतिदिन अच्छी प्रकार से दन्तधावन करना; १०. मैथुन के बाद तत्काल मन्दिर में प्रवेश न करना; ११. रजस्वला स्त्री का स्पर्श न करना; १२. मृतदेह का स्पर्श करके मन्दिर में प्रवेश न करना; १३. लाल, नीले, अस्वच्छ वस्त्रों को धारण किए हुए मन्दिर में न जाना; १४, मृतदेह का दर्शन करके मन्दिर में न जाना; १५. मन्दिर में अधोवायु न छोड़ना; १६. मन्दिर में क्रोध न करना; १७. श्मशान जाकर मन्दिर में न जाना; १८. मूर्ति के आगे डकार न लेना। जब तक भोजन का पूर्ण पाचन न हो गया हो, मन्दिर में प्रवेश न करे; १९. चरस, गांजा का प्रयोग न करे; २०. अफीम आदि मद्य पदार्थों का सेवन न करे; २१. शरीर पर तेल लगाकर मन्दिर में प्रवेश अथवा मूर्ति का स्पर्श न करे। २२. भगवान् परम ईश्वर हैं— ऐसा प्रतिपादन करने वाले किसी भी शास्त्र का अपमान न करे; २३. किसी विरोधी शास्त्र का प्रवर्तन न करे; २४. मूर्ति के आगे पान न चबाए; २५. अशुद्ध पात्र में रखे पुष्प को न चढ़ाये; २६. आसन के बिना भूमि पर बैठ कर भगवत्-अर्चन न करे; २७. स्नान पूरा करने से पूर्व मूर्ति का स्पर्श

न करे; २८. मस्तक पर तीन रेखा का तिलक न लगाये; २९. हाथ-पैर धोये बिना मन्दिर में प्रवेश न करे।

अन्य नियम इस प्रकार हैं—अवैष्णव द्वारा बनाए भोजन का अर्पण न करे; अभक्त के सामने मूर्ति-अर्चन न करे तथा प्रारम्भ में गणपति की उपासना करे, जिससे भक्ति के मार्ग में आनेवाले सब विघ्न दूर हो जाते हैं। 'ब्रह्मसंहिता' में उल्लेख है कि गणपति भगवान् नृसिंह के चरणकमलों के आराधक हैं। इसीलिए सम्पूर्ण अंतरायों को दूर करने में वे भक्तों के लिए मंगलकारी हो गए हैं। अतः सभी भक्तों को गणपति की पूजा करनी चाहिए। नखों अथवा उंगलियों के स्पर्श से दूषित जल में मूर्ति को स्नान नहीं कराना चाहिए। स्वेद-स्राव के समय भक्त अर्चन न करे। ऐसे अन्य अनेक निषेध हैं, जैसे मूर्ति को अर्पित पुष्पों का चरणों द्वारा उल्लंघन अथवा मर्दन न करे, भगवन्नाम की शपथ न खाये, इत्यादि। भक्तियोग के साधन में इन सब अपराधों से सावधानीपूर्वक बचना चाहिए।

'पद्मपुराण' में कहा है कि जीवनभर पाप करने वाले की भी भगवान् रक्षा करेंगे, यदि वह केवल उनके शरणागत हो जाय। अस्तु, सिद्ध होता है कि भगवान् का शरणागत मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है। यदि कोई स्वयं भगवान् का भी अपराध कर बैठे, तो **'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे'**—इस महामंत्र का आश्रय लेने पर उसका भी उद्धार हो सकता है। अर्थात् हरेकृष्ण महामन्त्र का जप सब पापों को नष्ट कर देता है। परन्तु यदि कोई पवित्र भगवन्नाम का अपराधी बन जाय, तो उद्धार नहीं हो सकता।

नाम-अपराध ये हैं : १. भगवन्नाम के प्रचार में जीवन का समर्पण करने वाले महाभागवतों की निन्दा करना; २. शिव, ब्रह्मा, आदि देवों के नाम को भगवन्नाम के समान अथवा उससे स्वतन्त्र समझना (कभी-कभी अनीश्वरवादी लोग यह मान बैठते हैं कि कोई भी देवता भगवान् विष्णु के समान हो सकता है। परन्तु यथार्थ भक्त जानता है कि बड़े से बड़ा देवता भी भगवान् विष्णु के समान अथवा उनसे स्वतन्त्र नहीं हो सकता। इसलिए यदि कोई समझे कि दुर्गा-दुर्गा अथवा काली-काली कहना हरेकृष्ण कहने के समान है, तो यह सबसे बड़ा अपराध होगा); ३. गुरु की अवज्ञा; ४. वैदिक शास्त्रों अथवा प्रमाणों का खण्डन; ५. हरेकृष्ण महामन्त्र के जप की महिमा को काल्पनिक समझना; ६. भगवन्नाम में अर्थवाद का आरोप; ७. नाम के बल पर पाप करना (भगवन्नाम-जप से सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं—इससे यह नहीं समझना चाहिए कि पहले पाप कर लूँ और

फिर बाद में नामजप से पापों को नष्ट कर दूँगा। यह विचार बड़ा ही भयंकर अपराध है, अतः इससे बचे); ८. हरेकृष्ण जप को वैदिक कर्मकाण्ड में वर्णित पुण्यकर्मों के समान समझना; ९. अश्रद्धालु को कृष्णनाम की महिमा का उपदेश करना (भगवन्नाम का जप कोई भी कर सकता है, परन्तु प्रारम्भ में उसे भगवन्नाम की दिव्य शक्ति का उपदेश नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो अत्यन्त पापी हैं, वे भगवत्-महिमा को धारण नहीं कर सकते। इसलिए उनको यह न सुनाना ही अच्छा है); १०. भगवन्नाम के जप में पूर्ण विश्वास न होना और इसकी इतनी अगाध महिमा सुनने पर भी विषयासक्ति बनाए रखना।

अपने को वैष्णव समझने वाले प्रत्येक भक्त को इन सब अपराधों से बचना चाहिए, जिससे शीघ्र अभीष्ट-सिद्धि हो।

अध्याय ९

भक्ति के अंगों का विशद विवेचन

निन्दा

भगवान् और उनके भक्तों की निन्दा को कभी सहन नहीं करना चाहिए। इस सन्दर्भ में श्रीमद्भागवत (१०.७०.४०) में शुकदेव गोस्वामी परीक्षित महाराज से कहते हैं, "भगवान् और उनके भक्तों की निन्दा को सुनकर जो वहाँ से हट नहीं जाता, वह सम्पूर्ण पुण्यों से च्युत हो कर पतित हो जाता है।"

भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपने शिक्षाष्टक में कहा है, "भक्त को वृक्ष से अधिक सहिष्णु और मार्ग के तिनके से भी विनम्र होना चाहिए। सब का सम्मान करे, परन्तु स्वयं मान न चाहे।" भक्त के रूप में इतने दीन और विनम्र होते हुए भी जब श्रीचैतन्य महाप्रभु को सूचना मिली कि श्रीनित्यानन्द के शरीर पर दुष्टों ने आघात किया है तो वे तत्काल उस स्थान पर दौड़ पड़े और अपराधी जगाई-मधाई को मारने के लिए उद्यत हो गए। भगवान् चैतन्य महाप्रभु का यह आचरण अतिशय महत्त्वपूर्ण है। इससे प्रकट होता है कि भक्त निजी रूप से सर्वथा निरभिमान, सहिष्णु और विनीत हो सकता है, परन्तु जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण अथवा उनके भक्त के सम्मान पर कोई आँच आए तो वह उसे सहन नहीं करेगा।

इस प्रकार के अपमान का तीन प्रकार से प्रतिकार किया जा सकता है। यदि कोई वाणी से निन्दा करता हो तो भक्त को इतना कुशल होना चाहिए कि प्रतिपक्षी को तर्क द्वारा निरस्त कर दे। यदि ऐसा न कर सके तो दीनभाव से वहाँ खड़ा न रहे, वरन् आत्महत्या कर ले। यदि यह भी सम्भव न हो तो उस स्थान को ही त्याग कर चला जाय। यदि इन तीनों में से किसी भी आचार का पालन नहीं करता, तो वह भक्तियोग से गिर जाता है।

तिलक तथा तुलसी-कण्ठी

वैष्णव द्वारा शरीर को तिलक-कण्ठी से विभूषित करने के सम्बन्ध

में 'पद्मपुराण' में उल्लेख है, "जो कण्ठ में तुलसी धारण करते हैं, जिनके शरीर पर विष्णुचिह्न—शंख, चक्र, गदा और पद्म के साथ द्वादश विष्णु-मन्दिर अंकित हैं; जो मस्तक पर विष्णु तिलक धारण करते हैं, वे ही जगत् में विष्णुभक्त अर्थात् वैष्णव हैं। इन वैष्णवों के सांनिध्य से जगत् पवित्र हो जाता है। वे जहाँ रहते हैं, वह स्थान वैकुण्ठ बन जाता है।"

'स्कन्दपुराण' में इसी प्रकार कहा है, "जो तिलक अथवा गोपी-चन्दन से विभूषित हैं, सम्पूर्ण शरीर पर भगवन्नाम धारण किए हुए हैं तथा जिनके कण्ठ और वक्षः स्थल पर तुलसी-माला रहती है, यमदूत उन वैष्णवों के पास भी नहीं फटक सकते।" पापियों को दण्ड का विधान करने वाले यम के दूतों की वैष्णवों पर एक नहीं चलती। श्रीमद्भागवत के अजामिल-उद्धार आख्यान में यमराज ने अपने दूतों को वैष्णवों के निकट कभी न जाने का आदेश दिया है। वैष्णव यमराज की अधिकार परिधि में नहीं आते।

'पद्मपुराण' में यह भी उल्लेख है, "चन्दन और कृष्णनाम से विभूषित मनुष्य सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है और साक्षात् कृष्णलोक में प्रविष्ट होकर भगवान् श्रीकृष्ण के सांनिध्य में रहता है।"

पुष्पमाला ग्रहण

अगला आदेश श्रीमूर्ति को अर्पित माला धारण करने के सम्बन्ध में है। इस सन्दर्भ में श्रीमद्भागवत (११.६.४६) में श्रीकृष्ण से उद्धव का वाक्य है, "हे गोविन्द ! आपके द्वारा प्रयुक्त माला, गन्ध, वस्त्र, और अलंकार को धारण करने वाला तथा आपका उच्छिष्ट भोजन करने वाला मैं आपका दास माया को जीत लूँगा, ऐसा विश्वास है।" तात्पर्य यह है कि जो गोपीचन्दन अथवा चन्दन का तिलक लगाता है और श्रीकृष्ण के निर्माल्य (माला, आदि) को धारण करता है, वह माया के वश में कभी नहीं होता। मृत्युकाल में ऐसे पुरुष के लिए यमदूत नहीं आ सकते। जो सम्पूर्ण वैष्णव आचार का पालन नहीं करता, पर कृष्णप्रसाद खाता है, वह भी शनैः-शनैः पूर्ण वैष्णव बन जायगा।

स्कन्दपुराण में ब्रह्माजी नारद से कहते हैं, "हे नारद ! श्रीकृष्ण के विग्रह से उतरी हुई माला जिसके शरीर का स्पर्श करती है, वह सब पापों और रोगों से मुक्त होकर क्रमशः जड़ प्रकृति के बन्धन से छूट जाता है।"

श्रीमूर्ति के सामने नाचना

'द्वारकामाहात्म्य' में श्रीमूर्ति के सामने नाचने की महिमा को

श्रीकृष्ण ने इस प्रकार कहा है, "जो पुरुष प्रसन्न होकर भक्तिपूर्वक मेरे सामने नाचता हुआ शरीर की भंगियों से विविध भावों को अभिव्यक्त करता है, वह करोड़ों जन्मान्तरों से संचित पापों को नष्ट कर देता है।" इसी ग्रन्थ में नारद का वचन है, "करताल और नाना भाव-भंगिमाओं के साथ श्रीकृष्ण के सामने नृत्य करने वाले के शरीर से सभी पातकरूपी पक्षी उड़ जाते हैं।" जैसे ताली बजाने से बहुत से पक्षी उड़ने लगते हैं, वैसे ही कृष्णमूर्ति के आगे नाचने और ताली बजाने मात्र से शरीर में रहने वाले सारे पातकरूप पक्षी उड़ाए जा सकते हैं।

श्रीमूर्ति के सम्मान में दण्डवत् प्रणाम और अभ्युत्थान

'नारदीयपुराण' का वाक्य है, "श्रीकृष्ण को किया एक प्रणाम भी दस अश्वमेध यागों से बढ़कर है।" याज्ञिक को पुण्यफल मिलेगा, परन्तु अन्त में पुण्य क्षीण होने पर उसे संसार में फिर जन्म लेना पड़ेगा, जबकि एक बार भी श्रीमूर्ति को प्रणाम करने वाला सीधा कृष्णलोक को चला जायगा। उसका कभी पुनर्जन्म नहीं होगा।

'ब्रह्माण्डपुराण' में कहा गया है, "भगवान् की रथयात्रा को सामने आते हुए देखकर उठकर अगवानी करने वाला अपने सब पापों को नष्ट कर देता है।"

श्रीमूर्ति का अनुगमन

'भविष्यपुराण' में आया है, "भगवान् के रथ के साथ आगे-पीछे चलने वाले चाण्डाल तक श्रीविष्णु के ऐश्वर्य को प्राप्त हो जाते हैं।"

विष्णुमन्दिर अथवा तीर्थ गमन

पुराणों में कहा है, "वृन्दावन, मथुरा, द्वारका आदि तीर्थों को जाने वाले धन्य हैं। वे संसाररूप मरुभूमि से पार हो जाते हैं।"

'हरिभक्तिसुधोदय' में भगवान् श्रीकृष्ण के मन्दिर को जाने का माहात्म्य कहा गया है। जैसा कह आए हैं, वृन्दावन, मथुरा तथा द्वारका में यह पद्धति है कि भक्तजन इन पावन तीर्थों में स्थिति मन्दिरों में जाकर लाभान्वित होते हैं। एक श्लोक का आशय है, "कृष्णभावनाभावित शुद्ध भक्तिभाव से हरिमन्दिर में प्रवेश करने वाला फिर मातृगर्भरूप कारागार में नहीं जाता।" यद्यपि गर्भ का वास बद्धजीव के लिए बड़ा ही भयंकर और कष्टदायक होता है, परन्तु जन्म के समय वह उसे भूल जाता है। इस बद्धदशा से सदा-सदा के लिए मुक्ति के अभिलाषी को भक्तिभावित

हृदय से विष्णुमन्दिर में जाना चाहिए। तब संसार में जन्म की दुःखमय अवस्था का सामना नहीं करना पड़ेगा।

विष्णुमन्दिर की परिक्रमा

'हरिभक्तिसुधोदय' में कहा है, "जो विष्णुमूर्ति की परिक्रमा करता है, वह बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्र से छूट जाता है।" भवरोग के कारण बद्धजीव पुनः पुनः जन्म-मृत्यु में भ्रमायमान् है। विष्णुमन्दिर की प्रदक्षिणा से इस आवर्तन का निवारण हो सकता है।

चातुर्मास्य में कृष्णभावना के प्रसारण के लिए स्थान-स्थान पर परिव्राजन करने वाले साधुजन एक स्थान पर (जो प्रायः तीर्थ होता है) रहते हैं। इस काल में कुछ विशेष नियमों का पालन अनिवार्य है। स्कन्द-पुराण के अनुसार इस समय विष्णुमन्दिर की चार परिक्रमा करने से चराचर सम्पूर्ण जगत् की परिक्रमा हो जाती है।" ऐसी परिक्रमा करने वाले ने उन सभी तीर्थों की यात्रा कर ली है, जहाँ गंगा प्रवाहित है तथा चातुर्मास्य के विधान का पालन करने से भक्तियोग की प्राप्ति बहुत शीघ्र हो सकती है।

अर्चना

मन्दिर में श्रीमूर्ति की आराधना को अर्चना कहते हैं। इस पद्धति के द्वारा देह से परे अपने आत्मस्वरूप का बोध हो जाता है। श्रीमद्भागवत (१०.८१.१९) में एक ब्राह्मण के यहाँ जाते हुए श्रीकृष्ण के अन्तरंग सखा सुदामा ने कहा है, "श्रीकृष्ण के चरणकमलों को अर्चना करने मात्र से स्वर्ग, मोक्ष, लोकों का आधिपत्य, पृथ्वी की सार्वभौम सम्पदा और योगसिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं।"

सुदामा के इस कथन की पृष्ठभूमि इस प्रकार है। श्रीकृष्ण ने सखा सुदामा से किसी ब्रह्माण्ड के घर से अन्न की भिक्षा लाने को कहा था। ब्राह्मण एक महायज्ञ कर रहे थे, अतः श्रीकृष्ण ने सुदामा से कहलवाया कि कृष्ण-बलराम भूखे हैं, उन्हें कुछ भोजन चाहिए। जब सुदामा वहाँ गया तो ब्राह्मणों ने तो कुछ नहीं दिया, परन्तु यह सुनने पर कि श्रीकृष्ण भोजन माँगते हैं, ब्राह्मण-पत्नियाँ तत्काल अनेक नैवेद्य उन्हें अर्पण करने गयीं। 'विष्णुरहस्य' में भो उल्लेख है, "पृथ्वी पर जो मनुष्य भगवान् विष्णु को अर्चना करते हैं, वे नित्य आनन्दमय वैकुण्ठधाम को प्राप्त होते हैं।"

भगवान् की परिचर्या (सेवा)

'विष्णुरहस्य' में उल्लेख है, "सेवक जैसे राजा की सेवा करते हैं,

वैसे ही जो भगवत्सेवा की व्यवस्था करता है, वह निश्चित रूप से देह त्याग कर कृष्णलोक को जाता है। "आज भी बहुत से मन्दिर वास्तव में राजप्रासाद जैसे हैं। वे साधारण भवन नहीं हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण का अर्चन उसी प्रकार होना चाहिए जैसे अपने महल में राजा सेवित होता है। वृन्दावन के हजारों मन्दिरों में श्रीमूर्ति की राजोचित परिचर्या की व्यवस्था है। 'नारदीयपुराण' में कथन है, "जो कोई क्षणभर के लिए भी भगवान् के मन्दिर में रहे, वह भी परमपद पा जाता है।"

निष्कर्षस्वरूप कहा जा सकता है कि समाज के धनाढ्य सदस्यों को सुन्दर मन्दिरों का निर्माण करके विष्णु के अर्चन की व्यवस्था करनी चाहिए, जिससे लोग वहाँ आकृष्ट हों और इस प्रकार उन्हें श्रीमूर्ति के सामने नाचने तथा भगवन्नाम के श्रवणकीर्तन का अवसर मिले। इससे सभी भगवद्धाम में प्रवेश कर सकेंगे। पूर्णतः कृष्णभावनाभावित होकर निरन्तर भगवत्सेवा के परायण भक्तों का कहना ही क्या, विष्णुमन्दिर में जाने से तो साधारण मनुष्यों को भी परम लाभ सुलभ हो जायगा।

इस सन्दर्भ में श्रीमद्भागवत के चौथे स्कन्ध (२१.३१) में महाराज पृथु अपनी प्रजा से कहते हैं, "हे प्रजाजनो! भगवान् श्रीहरि सभी के लिए पतितपातन हैं। किसी भी देवता में यह सामर्थ्य नहीं है क्योंकि वे तो स्वयं ही बन्धन में हैं। एक बद्धजीव दूसरे बद्धजीव का त्राण कैसे कर सकता है। श्रीकृष्ण अथवा उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि में ही किसी का उद्धार करने की शक्ति है। श्रीविष्णु के पैर के अँगूठे से निकली गंगा पृथ्वी आदि लोकों में प्रवाहित होती हुई सारे पापात्मा बद्धजीवों का त्राण कर रही है। फिर निरन्तर भगवत्सेवापरायण रहने वाले के सम्बन्ध में क्या कहना है। जन्म-जन्मान्तरों के संचित पापों के होते हुए भी उनकी मुक्ति निश्चित है।" भाव यह है कि जो श्रीमूर्ति की अर्चना करता है, उसके करोड़ों जन्मों से संचित पाप नष्ट हो जाते हैं। अर्चनपद्धति का विवरण दिया जा चुका है; साधक को इन विधि-विधानों का गंभीरता से पालन करना चाहिए।

गान

'लिंगपुराण' में भगवत्कीर्ति के गान के सम्बन्ध में कहा है, "भगवान् की कीर्ति को निरन्तर गाने वाला ब्राह्मण श्रीकृष्ण के लोक को प्राप्त हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण को यह गान शिव की स्तुति से भी अधिक प्रिय है।"

संकीर्तन

भगवान् के नाम, गुण, लीला, आदि का उच्च स्वर से कथन करना संकीर्तन कहलाता है। जनसमूह के भगवन्नाम के कीर्तन को भी संकीर्तन कहते हैं।

'विष्णुधर्म' में नामसंकीर्तन की महिमा इस प्रकार है, "हे राजन्! यह कृष्णनाम इतना पावन है कि जिसकी जिह्वा पर आ जाता है, वह तत्काल करोड़ों जन्म के पापों से मुक्त हो जाता है।" यह वास्तव में सत्य है। चैतन्यचरितामृत का वाक्य है, "जो एक बार भी कृष्णनाम का उच्चारण कर लेता है, वह उतने पापों का नाश कर देता है, जितने पाप वह कर भी नहीं सकता।" पापी बहुत पाप करता है, परन्तु वह इतना पाप नहीं कर सकता, जिसे एक बार कृष्णनाम पुकारने से नष्ट न किया जा सके।

श्रीमद्भागवत (७.९.१८) में प्रह्लाद महाराज भगवान् की स्तुति करते हैं, "हे नृसिंहदेव! यदि मैं आपके चरणकमलों का दास बन जाऊँ तो आपकी लीलासुधा का श्रवण कर सकूँगा। हे नाथ! आप परम सुहृद एवं परम आराध्य हैं। आपकी दिव्य लीला को सुनने मात्र से सम्पूर्ण पाप दूर हो जाते हैं। इसलिए मुझे उन पापकर्मों का भय नहीं है, क्योंकि आपके कथामृत का श्रवणपुटों से पान करता हुआ मैं शीघ्र ही भवसागर के सम्पूर्ण दुर्गुणों से तर जाऊँगा।"

श्रीभगवान् की लीलाओं से सम्बन्धित अनेक गीत हैं, जैसे ब्रह्मा की ब्रह्मसंहिता, नारद द्वारा गाया गया नारदपंचरात्र और शुकदेव गोस्वामी द्वारा गाई श्रीमद्भागवत। यदि कोई इन गीतों को सुने तो सहज ही भवबन्धन से छूट जाय। भगवान् के गीतों का श्रवण बड़ा सरल है। ये करोड़ों वर्षों से प्रचलित हैं और आज तक लोग इनसे लाभ उठा रहे हैं। अतः अब क्यों न इनका पूरा लाभ उठाकर संसार-जंजाल से मुक्त हो जाय?

गुणकीर्तन

श्रीमद्भागवत (१.५.२२) में नारद मुनि अपने शिष्य व्यासदेव से कहते हैं, "हे व्यासजी! तप-त्याग, वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान वैदिकमन्त्र-उच्चारण, ज्ञान और दान आदि पुण्यकर्मों का एकमात्र परम फल यही है कि भक्तों के संग में भगवान् की कीर्ति का गान किया जाय।" यहाँ संकेत है कि भगवान् का गुणकीर्तन जीव की आत्यन्तिकी क्रिया है।

जप

मन्त्र का धीरे-धीरे मन्द स्वर से उच्चारण करना जप कहलाता है। उसी मन्त्र की उच्च ध्वनि करना कीर्तन है। जब महामन्त्र '**हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे**' का उच्चारण केवल अपने सुनने के लिए धीरे से किया जाय तो वह जप है और दूसरे उसे सुन सकें तो वह कीर्तन है। महामन्त्र का जप-कीर्तन दोनों किए जा सकते हैं। जप से केवल अपने को लाभ होता है; परन्तु कीर्तन को सुनने वाले अन्य सब का कल्याण हो जाता है।

'पद्मपुराण' का वाक्य है—"कृष्णनाम का जप-कीर्तन करने वाले के लिए स्वर्गसुख और मोक्ष का मार्ग तत्काल प्रशस्त हो जाता है।"

विज्ञप्ति (निवेदन)

'स्कन्दपुराण' में भगवच्चरणकमलों में विज्ञप्ति के सम्बन्ध में एक वाक्य है, जिसमें उल्लेख है कि धीर भक्त श्रीकृष्ण के प्रति तीन प्रकार से विज्ञप्ति निवेदन कर सकते हैं : १. संप्रार्थनात्मिका (बड़ी भावमय प्रार्थना); २. दैन्यबोधिका (दीनताज्ञापन) तथा ३ लालसामयी (संसिद्धि की अभिलाषा)। परमार्थ में संसिद्धि की ऐसी अभिलाषा करना इन्द्रिय-तृप्ति जैसा नहीं है। जब जीव को श्रीभगवान् से अपने स्वरूपभूत सम्बन्ध का थोड़ा-बहुत बोध होता है तो वह अपने मूल यथार्थ स्वरूप को जान जाता है और श्रीकृष्ण के दास, सखा, माता-पिता अथवा प्रेयसी के रूप में स्थिति को फिर प्राप्त हो जाना चाहता है। इसी का नाम लालसामयी है। विज्ञप्ति की यह लालसामयी अवस्था पूर्ण मुक्ति अर्थात् स्वरूपसिद्धि होने पर प्राप्त होती है—जब पूर्ण आत्मविद्या और तत्त्वज्ञान के द्वारा जीव भगवान् से अपने आदिसम्बन्ध को जान जाता है।

पद्मपुराण में भक्त की संप्रार्थनात्मिका विज्ञप्ति है, "हे नाथ ! आपके चरणकमलों में निवेदन है कि युवतियों का मन युवकों में और युवकों का मन युवतियों में जिस प्रकार रमा करता है, उसी भाँति मेरा मन भी सहज रूप में आपमें रमण करे।" दृष्टान्त समीचीन है। युवकयुवतियों में एक दूसरे को देखने पर परिचय के बिना सहज आकर्षण हो जाता है। यह सीखना नहीं पड़ता, कामविकार के कारण अपनेआप स्फुरित हो जाता है। यह एक लौकिक उदाहरण है। भक्त का उद्गार है कि उसका भगवान् में ऐसा ही राग हो जाय, जो सर्वथा हेतुरहित और अनन्य हो। भगवान् के लिए इस प्रकार की रागानुगा आसक्ति स्वरूप-साक्षात्कार की परम संसिद्धि है।

पद्मपुराण में दैन्यबोधिका विज्ञप्ति का भी विवरण है, "मेरे समान न तो कोई पापी है और न कोई अपराधी ही है। क्या कहूँ, आपके सामने आत्मनिवेदन करने के लिए आने में भी लज्जा आती है।" यह भक्त की स्वाभाविक स्थिति है। यह कोई आश्चर्य नहीं कि बद्धजीव का कुछ संचित पाप हो। उसे भगवान् से अपनी दीनता ज्ञापित करनी चाहिए। ऐसा करते ही भगवान् सच्चे भक्त को क्षमा कर देते हैं। परन्तु इस का अर्थ यह नहीं कि भगवान् की अहैतुकी करुणा की आड़ में पाप करता जाय और यह आशा करे कि प्रभु क्षमा कर देंगे। ऐसा विचार निर्लज्ज व्यक्तियों के ही योग्य है। यहाँ स्पष्ट कहा है, "आपसे अपने पापों का निवेदन करने में भी मुझे लज्जा आती है।" अतः यदि किसी को पाप करने में लज्जा नहीं आती, अपितु वह समझता है कि भगवान् उसे क्षमा कर देंगे तो ऐसी युक्ति सर्वथा अनर्थ है। वैदिक शास्त्रों में कहीं भी इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। यह सत्य है कि कृष्णनाम के जप से पूर्वजन्मों के सब पापों का धावन हो जाता है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि बार-बार पाप करे और फिर आशा करे कि वे दूर हो जायेंगे। भक्तिपथ में यह अनर्थकारी धारणा ग्राह्य नहीं है। "पूरे सप्ताह पाप करूँगा और अन्त में मन्दिर जाकर उन्हें धो डालूँगा, जिससे फिर पाप कर सकूँ"—इस विचार को भक्तिरसामृतसिन्धुकार ने अस्वीकार किया है, क्योंकि यह परम अनर्थमय अपराध है।

'नारदपंचरात्र' में लालसामयी विज्ञप्ति का विवरण है। भक्त कहता है, "हे नाथ! लक्ष्मी के साथ विराजमान आप चमर डुलाने में लगे हुए मुझ को अपनी गम्भीर वाणी से 'ऐसा करो' यह आदेश कब देंगे?" श्लोक का भाव यह है कि भक्त श्रीभगवान् के श्रीविग्रह को चमर से हवा करना चाहता है, अर्थात् प्रभु का निजी पार्षद बनने का अभिलाषी है। निःसन्देह दास, सखा अथवा प्रेमी के रूप में प्रत्येक भक्त सदा श्रीभगवान् के सांनिध्य में रहता है। निजी रुचि के अनुसार वह किसी एक प्रकार के रस-सम्बन्ध की अभिलाषा रखता है। यहाँ यह भक्त भगवान् का दास बनकर उनकी अन्तरंगा शक्ति लक्ष्मीजी के समान उन्हें चमर डुलाना चाहता है। उसकी यह भी अभिलाषा है कि श्रीभगवान् प्रसन्न होकर 'चमर ऐसे डुलाओ' इस प्रकार उसे आदेश दें। यह लालसामयी विज्ञप्ति स्वरूप-साक्षात्कार की परम अवधि है।

'नारदपंचरात्र' में ही भक्त की एक अन्य विज्ञप्ति है—"हे नाथ! हे कमलनयन! अहो! वह दिन कब आयगा जब आपके नामों का कीर्तन

करता हुआ आनन्दाश्रुओं से रुद्ध नेत्रों वाला मैं भावोन्मत्त होकर यमुनातट पर नाचूँगा ?" वह भी लालसामयी का उदाहरण है। भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु का उद्‌गार है—"हे प्राणनाथ ! आपके विरह में मुझे क्षण भर युग जैसा भारी लगता है और सारा जगत् शून्य हुआ प्रतीत होता है।" भक्त को इस प्रकार भावमय प्रार्थना करते हुए अपनी सेवा का अर्पण करने के लिए उत्कण्ठित रहना चाहिए; सभी महाभागवतों का, विशेषतः श्रीचैतन्य महाप्रभु का यह उपदेश है।

भाव यह है कि श्रीभगवान् के लिए रोने की कला सीखनी चाहिए; किसी न किसी प्रकार की भगवत्सेवा में लगने के लिए वास्तव में उत्कण्ठापूर्वक रोये। इस भाव का नाम 'लौल्य' है और ऐसा अश्रुविमोचन ही परम संसिद्धि (स्वरूपसिद्धि) का मूल्य है। यदि किसी में भगवत्-सांनिध्य और भगवत्सेवा या लौल्य उदित हो जाय तो उसका वैकुण्ठ प्रवेश निश्चित है। नहीं तो, लौकिक दृष्टि से तो वैकुण्ठ-प्रवेश के शुल्क की गणना ही नहीं हो सकती। इसका एकमात्र मूल्य है लौल्य और लालसामयी।

स्तवपाठ

मनीषियों के मत में भगवद्‌गीता अनेक प्रामाणिक स्तवों से परिपूर्ण है, विशेषतः ग्यारहवाँ अध्याय, क्योंकि उसमें अर्जुन ने भगवान् के विश्वरूप का स्तव किया है। इसी प्रकार 'गौतमीयतन्त्र' के सभी श्लोक स्तव हैं। श्रीमद्‌भागवत में तो श्रीभगवान् के शत-शत स्तव हैं ही। भक्त को अपने नित्यपाठ के हेतु इनमें से श्लोकों का चयन करना चाहिए। 'स्कन्दपुराण' में कहा है—"जिनकी जिह्वा निरन्तर श्रीकृष्ण के स्तवरत्नों से विभूषित रहती है, वे मुनियों और ऋषियों के लिए नमस्कार के योग्य और देवों के भी आराध्य हैं।"

अल्पज्ञ लोग श्रीकृष्ण को भजने के स्थान पर भोगों की इच्छा से नाना देवताओं को पूजना चाहते हैं। परन्तु यह उल्लेख है कि निरन्तर श्रीभगवान् का स्तवन करने वाला भक्त स्वयं देवताओं का भी वन्दनीय है। शुद्धभक्तों को किसी भी देवता से कुछ नहीं चाहिए; वरन् सब के सब देवता ही शुद्धभक्तों की आराधना के उत्कण्ठित रहते हैं।

'नृसिंहपुराण' में कहा है, "भगवान् श्रीकृष्ण की मूर्ति के सामने स्तोत्र और स्तवपाठ करने वाला तत्काल सब पापों से छूट कर वैकुण्ठगमन के योग्य हो जाता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।"

नैवेद्य-आस्वादन

पद्मपुराण में स्पष्ट वचन है—"श्रीमूर्ति के सामने से हटकर जो पुरुष तुलसी और चरणामृत से युक्त नैवेद्य का अन्न नित्य नियमित रूप से खाता है, वह अविलम्ब करोड़ों यज्ञों के पुण्य को प्राप्त करता है।"

चरणामृत-पान

चरणामृत की प्राप्ति प्रातःकाल वस्त्र-अलंकरण से पूर्व भगवान् की मूर्ति को स्नान कराने पर होती है। सुगन्धी और पुष्पों से युक्त जल श्रीचरणों से नीचे गिरता है। उसे एकत्रित कर दही के साथ मिलाया जाता है। इस प्रकार यह चरणामृत अतिशय आस्वाद्य तो होता ही है, इसका प्रबल पारमार्थिक माहात्म्य भी है। पद्मपुराण के अनुसार, जिस मनुष्य ने कभी दान, यज्ञ, स्वाध्याय, अर्चन, आदि कुछ भी पुण्य न किया हो, वह भी मन्दिर के चरणामृत का पान करके परमधाम के योग्य हो जाता है। मन्दिरों में चरणामृत को बड़े से पात्र में रखने की प्रथा है। श्रीमूर्ति का दर्शन-अभिवादन करने आया भक्त विनम्रभाव से इस चरणामृत के तीन विन्दु का पान करके परमानन्द सुख पाता है।

अर्पित धूप और पुष्पों की सौरभ का आघ्राण

'हरिभक्तिसुधोदय' में उल्लेख है—"श्रीहरि को अर्पित धूप को सूंघने से संसाररूपी सर्प से डसे हुओं का विष समाप्त हो जाता है।" कुशल पुरुषों द्वारा वनों में पायी जाने वाली एक प्रकार की जड़ी सुंघाये जाने पर सर्प का विष उतर जाता है और चेतना लौट आती है। इसी भाँति जो मन्दिर में मूर्ति को अर्पित धूप सूँघता है, उसका सम्पूर्ण भवरोग तत्काल दूर हो जाता है।

मन्दिर में जाने पर भक्त को फल, फूल, धूप आदि किसी न किसी पदार्थ का भगवान् को अवश्य अर्पण करना चाहिए। यदि धन की सामर्थ्य न हो तो कुछ और चढ़ाये। प्रायः प्रातः काल मन्दिर जाने वाले नर-नारी बहुत-सी भेंट ले जाते हैं। अधिक नहीं, एक अन्नकण का भी अर्पण किया जा सकता है। यह विधि है कि सन्त अथवा मन्दिर में मूर्ति के दर्शनों के लिए किसी भेंट के बिना नहीं जाना चाहिए। अर्पण अति तुच्छ हो चाहे अमूल्य हो। फल, फूल, जल आदि जो कुछ भी थोड़ा सा मिल सके, अवश्य अर्पण करना चाहिए। जब कोई भक्त प्रातः मन्दिर में भेंट चढ़ाने जायगा, तो वह धूप का आघ्राण भी करेगा और परिणाम में भवरोग के विष से मुक्ति पा जायगा।

तन्त्रशास्त्र में उल्लेख है, "हरि के निर्माल्य की सौरभ के नासिका में प्रवेश करते ही पाप के बन्धन नष्ट हो जाते हैं। जो पापात्मा नहीं है, वह भी सौरभ-आघ्राण करके मायावादी से भक्त हो जाता है।" इसके अनेक उदाहरण हैं, जिनमें सनकादि के उत्थान की कथा मुख्य है। वे मायावादी थे, परन्तु मन्दिर में पुष्पों और धूप की सौष्ठव के आघ्राण से परम भक्त बन गए। उपरोक्त वाक्यों से ज्ञात होता है कि मायावादी शुद्ध नहीं होते, वरन् दूषित रहते हैं।

श्रीमद्भागवत में प्रमाण है, "जिसने सम्पूर्ण पापों का मार्जन नहीं किया है, वह शुद्धभक्त नहीं हो सकता। शुद्धभक्त को श्रीभगवान् के परमेश्वरत्व में कोई सन्देह नहीं रहता, इसलिए वह निरन्तर कृष्णभावना और भक्तियोग के परायण रहता है।" 'अगस्त्यसंहिता' में सदृश वाक्य है—"अपनी घ्राणेन्द्रिय की विशुद्धि के लिए हमें मन्दिर में श्रीकृष्ण को अर्पित पुष्पों को सूँघना चाहिए।"

श्रीमूर्ति का स्पर्श

विष्णुधर्मोत्तर में श्रीमूर्ति के चरणकमलों का स्पर्श करने के सम्बन्ध में कथन है—"जो पुरुष वैष्णवदीक्षा से युक्त है तथा कृष्णभावनाभावित भक्तियोग के परायण है, वही श्रीमूर्ति का स्पर्श करने का अधिकारी है।" गांधी द्वारा चलाए गए राजनीतिक आन्दोलन के काल में उस वैदिक पद्धति का विरोध किया गया था, जिसके अनुसार शूद्र, चाण्डाल आदि अधम श्रेणी के लोगों का मन्दिर-प्रवेश निषिद्ध है। यह निषेध उनके अशुद्ध आचरण के कारण है। परन्तु साथ में उन्हें अन्य सुविधायें प्राप्त हैं जिनसे वे शुद्धभक्तों के संग में भक्तियोग के चरम संसिद्धि को प्राप्त कर सकते हैं। किसी भी जाति में जन्मे मनुष्य का बहिष्कार नहीं है, पर सब के लिए पवित्र होना आवश्यक है। उस शुद्धि-पद्धति को अंगीकार करना होगा। परन्तु गांधी केवल 'हरिजन' नाम की मोहर लगाकर उन्हें शुद्ध सिद्ध करना चाहते थे, अतः मन्दिर के व्यवस्थापकों और गांधी में गम्भीर संघर्ष चला।

जो कुछ हो, वर्तमान नियम सब शास्त्रों का विधान है—कोई भी शुद्ध व्यक्ति मन्दिर में प्रवेश कर सकता है। वास्तविक स्थिति यही होनी चाहिए। जो विधिपूर्वक दीक्षित है और विधि-विधान का पालन करता है, वही प्रवेश और श्रीमूर्ति का स्पर्श कर सकता है, सब नहीं। विधि के साथ मूर्ति-स्पर्श करने वाला तत्काल पापपुंज से छूट जाता है और उसकी सर्वाभीष्ट सिद्धि भी हो जाती है।

'वराहपुराण' में श्रीकृष्णमूर्ति के स्पर्श की महिमा है। कोई भक्त कहता है, "हे वसुन्धरे ! वृन्दावन में जो श्रीगोविन्ददेव का दर्शन कर लेता है, वह यमपाश में नहीं पड़ता, वरन् देवगति को जाता है।" भाव यह है कि यदि कोई साधारण व्यक्ति भी कुतूहलवश वृन्दावन जाकर दैववश गोविन्दजी का दर्शन कर ले तो उसके लिए वैकुण्ठ नहीं तो कम से कम उच्च लोकों की प्राप्ति तो निश्चित है। अतः वृन्दावन में गोविन्द मूर्ति के दर्शन मात्र से महान् पुण्य होता है।

आरति दर्शन

'स्कन्दपुराण' में मूर्ति की आरति दर्शन का यह माहात्म्य है— "आरति के समय भगवान् के मुखारविन्द का दर्शन करने वाले के करोड़ों वर्षों से संचित पापपुंज भस्म हो जाते हैं। उसके ब्रह्महत्या जैसे जघन्य पाप भी नहीं ठहर पाते।"

उत्सवों का आयोजन

जैसा पूर्वकथन है, श्रीकृष्णजन्माष्टमी, रामनवमी, प्रमुख वैष्णवों की जन्मतिथि, झूलनयात्रा, दोलयात्रा आदि महोत्सवों को अवश्य मनाना चाहिए। उत्सव में भगवान् को रथ पर विराजमान किया जाता है और फिर नगर के विभिन्न मार्गों पर उनकी शोभायात्रा निकाली जाती है, जिससे लोगों को मन्दिर में दर्शन का लाभ सुलभ हो जाय। 'भविष्यपुराण' कहता है—"जो चाण्डाल आदि कौतुक में भी रथ पर विराजमान श्रीभगवान् को देख लेते हैं, वे विष्णु-पार्षद बन जाते हैं।"

'अग्निपुराण' का वाक्य है, "जो मन्दिर में श्रीमूर्ति की पूजा को देखकर प्रसन्न होता है, वह पंचरात्र में वर्णित क्रियायोग के फल को प्राप्त करता है।" क्रियायोग प्रायः भक्तियोग जैसी अभ्यास की पद्धति है। परन्तु वह विशेष रूप से ध्यानयोगियों के लिए विहित है। भाव यह है कि इस क्रमिक पद्धति से ध्यानयोगी अन्त में भगवद्भक्ति के स्तर पर आरूढ़ हो जाते हैं।

अध्याय १०

श्रवण-स्मरण की कला

श्रवण

कृष्णभावना और भक्तियोग का आरम्भ श्रवण से होता है। सभी मनुष्यों को यह अवसर दिया जाना चाहिए कि वे भक्तिगोष्ठी में आकर श्रवण करें। कृष्णभावना के पथ पर उन्नति के लिए यह परम अनिवार्य है। जब कोई शब्दब्रह्म को सुनने में कर्णविवरों का योग करता है तो वह शीघ्र ही हृदय से शुद्ध और परिष्कृत हो जाता है। भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रवण के माहात्म्य पर बड़ा बल दिया है। यह बद्धजीव के हृदय को पवित्र कर देता है, जिससे वह द्रुतगति से भक्तियोग में लगने और कृष्णभावना को समझने का अधिकारी बन जाता है।

'गरुडपुराण' श्रवण की महिमा का अतिशय सुन्दर दिग्दर्शन है, "प्राकृत जगत् में बद्धजीव की अवस्था सर्प से कटे अचेतन मनुष्य जैसी है, क्योंकि इन दोनों को ही मन्त्रध्वनि से फिर चेतन किया जा सकता है।" सर्प द्वारा दष्ट मनुष्य तुरन्त नहीं मरता, वरन् पहले अचेतन होकर कुछ समय उसी अवस्था में पड़ा रहता है। प्राकृत-जगत् में जीव निद्रा-मग्न है, क्योंकि वह अपने यथार्थ स्वरूप और कर्तव्य को तथा श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध को नहीं जानता। अतः विषयी जीवन का अर्थ है कि माया-रूपी सर्प का काटना और इस प्रकार कृष्णभावना के अभाव में जीव का मृतप्राय हो जाना। सर्प से कटे हुए मुमुर्षु को मन्त्रोच्चारण से फिर जीवन-दान किया जा सकता है। इस मन्त्रविद्या के अनेक विशारद हैं। इसी प्रकार महामन्त्र **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** को सुनाकर मृयमाण अचेतन पुरुष को वापस कृष्णभावना की अवस्था में लाया जा सकता है।

श्रीमद्भागवत (४.२९.४०) में भगवच्चरित-श्रवण की महिमा के सम्बन्ध में शुकदेव गोस्वामी महाराज परिक्षित से कहते हैं, "हे राजन! वही स्थान निवास के योग्य है जहाँ महान् आचार्य भगवान् के दिव्य चरित

की वार्ता करते हैं। वहाँ रहकर उन महापुरुषों के मुखचन्द्र से निस्यन्दित कृष्णलीलारससुधा की धाराओं का कर्णपुटों से अहर्निश पान करता रहे। जो अतृप्त होकर निरन्तर इस अमृत का पान करते हैं, उनको भूख-प्यास, भय-शोक और भव-मोह स्पर्श नहीं कर पाते।"

भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भी श्रवण को वर्तमान कलियुग में स्वरूप-साक्षात्कार का साधन बतलाया है। इस काल में पूर्व युगों के विधि-विधानों और वेद-स्वाध्याय का ठीक-ठीक अनुष्ठान सम्भव नहीं रहा है। फिर भी यदि कोई महाभागवतों और आचार्यचरणों द्वारा उच्चरित शब्द-ब्रह्म का श्रवण करे तो केवल इतने से भवरोग शान्त हो जायगा। अतएव भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु की आज्ञा है कि उन्हीं अधिकारी पुरुषों से श्रवण करे, जो भगवद्भक्त हों। व्यावसायी कथा वाचकों से सुनने का कोई लाभ नहीं। आत्मज्ञानी पुरुषों से सुनने पर चन्द्रमा से निस्यन्दित सुधाधारा जैसी अमृत की कल्लोलिनी नदियाँ हमारे कर्णरन्ध्रों में प्रविष्ट होंगी। उपरोक्त श्लोक चन्द्रमा के इस अलंकार से युक्त है।

जैसा भगवद्गीता में कहा गया है, "कृष्णभावनाभावित हो जाने पर ही विषयी अपनी विषयवासना को लात मार सकता है।" जब तक वह किसी उत्तम कार्य में नहीं लग जाता, तब तक जीव अपने तुच्छ कार्य से विरत नहीं हो सकता। प्राकृत-जगत् में जीव प्रकृति की मायिक क्रियाओं में फँसा पड़ा है, परन्तु श्रीकृष्ण की दिव्य क्रियाओं के आस्वादन का अवसर मिलने पर वह दूसरे सब अल्प सुखों को भूल जाता है। जब श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र के युद्धप्रांगण में बोलते हैं तो विषयी इसे केवल दो मित्रों का साधारण वार्तालाप समझता है, जबकि वास्तव में तो श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र से अमृत की कल्लोलिनी सी झरती है। अर्जुन ने इस दिव्यनाद का श्रवण किया और परिणाम में भवरोग के सम्पूर्ण मोह से मुक्त हो गया।

श्रीमद्भागवत (१२.३.१५) में उल्लेख है, "उत्तमश्लोक भगवान् श्रीकृष्ण की शुद्धभक्ति के अभिलाषी को नित्य-निरन्तर उनके दिव्य गुणों और चरित का श्रवण करना चाहिए, जिससे हृदय के सारे अमंगल का नाश होता है।"

भगवत्कृपा की बाट देखना

श्रीमद्भागवत (१०.१४.८) में ही कहा है—"हे नाथ ! जो निरन्तर आपकी अहैतुकी कृपा की प्रतीक्षा में अपने पूर्वकृत पापों को भोगता हुआ

हृदय से, वाणी से और शरीर से निरन्तर आपको प्रणाम करता रहता है, वह मुक्ति का अधिकारी हो जाता है।''

श्रीमद्भागवत का यह वाक्य सब भक्तों का मार्गदर्शक है। भक्त को अपने पूर्वपापों के दुःख से तुरन्त मुक्त होने की आशा नहीं करनी चाहिए। कोई भी बद्धजीव इस कर्मभोग से मुक्त नहीं है, क्योंकि पूर्वकर्मों से निरन्तर सुख-दुःख की प्राप्ति का नाम ही संसार है। यदि कोई प्राकृत क्रियाओं से विरत हो गया है तो उसका फिर जन्म नहीं होगा। यह तभी सम्भव है कि जब वह कृष्णभावनाभावित कर्म के परायण हो जाय, क्योंकि ऐसे कर्मों का फल नहीं होता। अतः कृष्णभावनाभावित क्रियाओं में सिद्ध होते ही जन्म-मृत्यु का चक्र समाप्त हो जाता है। ऐसा पुरुष फिर प्राकृत-जगत् में जन्म नहीं लेगा। इसलिए जो भक्त कर्मफल से पूर्णतः मुक्त नहीं हुआ है, वह गम्भीरता से कृष्णभावनाभावित कर्म करता रहे, मार्ग में कितने ही व्यवधान क्यों न आयें। किसी बाधा की स्थिति में वह केवल श्रीकृष्ण का चिन्तन-स्मरण करता हुआ उनकी कृपा की वाट देखता रहे। यही उसका अवलम्बन है। यदि भक्त इस भाव से दिन बिताता है तो उसका वैकुण्ठगमन निश्चित समझना चाहिए। इन क्रियाओं के द्वारा वह भगवद्धाम में प्रविष्ट होने का दायभाक् अधिकार पा जाता है। दायभाक् पैतृक सम्पत्ति में पुत्र के कानूनी अधिकार को कहते हैं। इसी प्रकार शुद्धभक्त, जो अपने कृष्णभावना सम्बन्धी कर्तव्य के निर्वाह में सब प्रकार के कष्ट सहने को सन्नद्ध रहता है, भगवद्धाम का योग्य अधिकारी हो जाता है।

स्मृति

जिस किसी प्रकार से यदि कोई चित्त में श्रीकृष्ण से अपने नित्य सम्बन्ध को बसा लेता है तो इस का नाम स्मृति है। स्मृति के विषय में विष्णुपुराण का एक सुन्दर वाक्य है, "जिन भगवान् के स्मरणमात्र से सम्पूर्ण जीव समग्र कल्याण के भाजन बन जाते हैं, मैं उन्हीं अजन्मा और नित्य परम पुरुष की शरण हूँ।'' पद्मपुराण में इसी स्मृति की विवेचना है—"मृत्युकाल में अथवा जीवनकाल में जिनके नाम का स्मरण करने से मनुष्यों के पापपुंज तत्काल भस्म हो जाते हैं, उन चित्स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार है।''

ध्यान

मन से भगवान् के रूप, चिद्गुण, क्रीड़ा, सेवा, आदि का चिन्तन

करना ध्यान कहलाता है। ध्यान का किसी निर्विशेष अथवा शून्य से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। वैदिक शास्त्रों के अनुसार ध्यान सदा विष्णुरूप का ही किया जाता है।

'नृसिहपुराण' में भगवान् के रूप के ध्यान का वर्णन है—"भगवान् के चरणकमलों का ध्यान दिव्य और प्राकृत सुख-दुःख की अनुभूति से सर्वथा परे है। इस ध्यान से परम पापात्मा भी जीवनभर के पापों से छूट सकते हैं।"

'विष्णुधर्म' में भगवद्गुणों के ध्यान के सम्बन्ध में कहा है—"निरन्तर कृष्णभावनाभावित रहकर भगवान् के दिव्य गुणों का स्मरण करने वाले जन सम्पूर्ण पापों से मुक्त होकर वैकुण्ठ-गमन के योग्य बन जाते हैं।" भाव यह है कि शुद्ध हुए बिना कोई भगवद्धाम में प्रवेश नहीं पा सकता और भगवान् के चिद्गुण, रूप, लीला, आदि का स्मरण रखने मात्र से सब प्रकार के पापों से बचा जा सकता है।

'पद्मपुराण' में क्रीड़ाध्यान का उल्लेख है—"सर्वमाधुर्य सार, परम अद्भुत और ललित हरिचरित्रका जो निरन्तर ध्यान करता है, वह भव-बन्धन से छूट जाता है।"

सेवाध्यान

कतिपय शास्त्रों में प्रमाण हैं कि जो मनुष्य केवल सेवाध्यान भी करता है, उसकी भी सर्वाभीष्ट सिद्धि होती है और वह अपने नेत्रों से भगवान् का साक्षात्कार करता है। इस सन्दर्भ में ब्रह्मवैवर्त पुराण के अन्तर्गत एक सुन्दर कथा है। दक्षिण भारत के प्रतिष्ठानपुर में एक ब्राह्मण रहता था। वह सम्पन्न तो नहीं था परन्तु यह सोचकर सदा आत्मतृप्त रहता था कि पूर्वजन्म के पाप और श्रीकृष्ण की इच्छा के कारण ही उसे पर्याप्त धन-वैभव नहीं मिला। अतः उसे अपनी दरिद्रता की लेशमात्र भी ग्लानि नहीं थी; वह बड़ी शान्ति से रहता था। वह परम उदार था और कभी-कभी महान् आत्मज्ञानियों के प्रवचन सुनने जाता। ऐसी ही एक सभा में, जहाँ वह बड़ी श्रद्धा से वैष्णव आचार का श्रवण कर रहा था, उसने सुना कि ये क्रियायें मानससेवा के रूप में भी की जा सकती हैं। तात्पर्य यह है कि यदि कोई प्रकट रूप में वैष्णव क्रियाओं को न कर सके तो वह सेवा का ध्यान ही करे। ऐसा करने से वही फल प्राप्त होगा। ब्राह्मण अकिंचिन था, इसलिए उसने निश्चय किया कि वह बड़े भारी ऐश्वर्य के साथ भगवान् की सेवा करने का ध्यान ही करेगा। वह इस प्रकार करने लगा। कभी वह

गोदावरी में स्नान करता। स्नान के बाद एकान्त नदी तट पर आसन लगाकर प्राणायाम के अभ्यास से मन को एकाग्र करता। प्राणायाम का यह अभ्यास चित्त को यन्त्र के समान किसी एक वस्तु पर केन्द्रित करने के लिए है। प्राणायाम और आसनों का यही लाभ है। पूर्वकाल में साधारण मनुष्य भी भगवान् के स्मरण में मन को एकाग्र करना जानते थे; ब्राह्मण ने भी ऐसा अभ्यास किया। मन में भगवान् का रूप बस जाने पर वह ध्यान में भगवान् को बहुमूल्य वस्त्रों, अलंकारों, मुकुटों आदि से विभूषित करने लगा। फिर उसने भगवान् को दण्डवत् प्रणाम किया। इसके बाद मन्दिर-मार्जन का ध्यान करने लगा। मन्दिर-मार्जन करके वह बहुत से स्वर्ण और चाँदी के पात्रों में नदी का पवित्र जल लाने गया। गोदावरी से ही नहीं, अपितु गंगा, यमुना, नर्मदा और कावेरी से भी जल लाया। वैष्णवजन सामान्यतः भगवत्-अर्चन करते हुए मन्त्रों के द्वारा इन नदियों के जल का आह्वान करते हैं। मन्त्रोच्चारण के स्थान पर इस ब्राह्मण ने ध्यान किया है कि वह स्वयं स्वर्णपात्रों में भर-भर कर सब नदियों का जल ला रहा है। तत्पश्चात् उसने फल, फूल, धूप आदि अर्चन के सब पदार्थ जुटाए और उन्हें श्रीमूर्ति के सामने रखा। श्रीमूर्ति की प्रसन्नता के लिए जल, पुष्प, धूप आदि इन सब पदार्थों का सुन्दर रीति से अर्पण किया। फिर आरति की। इस प्रकार पूर्ण विधि से अर्चना सम्पन्न हुई।

वह नित्य नियमित रूप से इसी प्रकार अर्चन करता था और यह क्रम वर्षों तक चलता रहा। फिर एक दिन ब्राह्मण ध्यान कर रहा था कि उसने श्रीमूर्ति के लिए कुछ खीर बनायी है; परन्तु वह इस भोग से प्रसन्न नहीं हुआ क्योंकि खीर बहुत गरम थी। इसलिए वह हाथ से छू कर देखना चाहता कि खीर भगवान् के खाने योग्य है या नहीं। जैसे ही उसने अपनी अंगुलो से खीर पात्र को स्पर्श किया कि वह जल गयी और उसका ध्यान भंग हो गया। अब वह क्या देखता है कि उसकी अंगुली वास्तव में जल गयी है। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वह तो खीर को स्पर्श करने का केवल ध्यान ही कर रहा था, उसे यह आशा नहीं थी कि उसकी अंगुली सचमुच जल जायगी।

जब वह इस प्रकार विचारमग्न था, तभी लक्ष्मीसहित वैकुण्ठ में विराजमान भगवान् नारायण हँस पड़े। उनकी हँसी को देखकर उनकी परिचर्या में तत्पर सभी लक्ष्मी देवियाँ उत्कण्ठावश इसका कारण पूछने लगीं। श्रीभगवान् ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया, वरन् तत्काल ब्राह्मण को बुला भेजा। वैकुण्ठ का एक विमान ब्राह्मण को लेकर तत्क्षण भगवान्

नारायण के सान्निध्य में पहुँच गया। तब भगवान् ने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। इस प्रकार बड़भागी ब्राह्मण को भगवान् और लक्ष्मीगण के सांनिध्य में नित्य वैकुण्ठवास प्राप्त हुआ। इस कथा से प्रकट होता है कि अपने धाम में विराजमान होने पर भी श्रीभगवान् सर्वव्यापी हैं। वैकुण्ठ में ही नहीं, अर्चन का ध्यान करते हुए ब्राह्मण के हृदय में भी वे बैठे थे। अतएव हम जान सकते हैं कि भगवान् भक्तों द्वारा ध्यान में अर्पित पदार्थों को भी ग्रहण करते हैं और इससे भक्त की अभीष्टसिद्धि हो जाती है।

अध्याय ११

भगवत्सेवा के नाना रूप

दास्यभाव

कर्मियों के मत में कर्मफल का अर्पण दास्य है; परन्तु रूप गोस्वामी आदि वैष्णव आचार्यों के अनुसार किसी-न-किसी रूप में भगवत्सेवा में निरन्तर संलग्न रहना दास्य का स्वरूप है।

'स्कन्दपुराण' में कहा है कि कर्मकाण्ड और वर्णाश्रम का आचरण करने वाले भक्त हैं। परन्तु जो यथार्थ में प्रत्यक्ष रूप से भगवत्सेवा में लगे रहते हैं, वे भागवत, अर्थात् शुद्धभक्त हैं। सकाम कर्मी अथवा वर्णाश्रमधर्म का पालन करने वाले शुद्धभक्त नहीं हो सकते। फिर भी, भगवान् को कर्मफल का अर्पण करते हैं, इस कारण उन्हें भी भक्त मान लिया है। जब अन्य कोई अभिलाषा नहीं रहती और वह भगवत्प्रेम से भर कर स्वाभाविक रागानुगा भगवत्सेवा करता है, तब उसे शुद्धभक्त समझना चाहिए। प्राकृत-जगत् के संसर्ग में आए सभी बद्धजीव न्यूनाधिक रूप में माया पर प्रभुत्व करना चाहते हैं। वर्णाश्रम पद्धति और तत्सम्बन्धी कर्तव्य इस विधि से निर्धारित हैं कि बद्धजीव स्वेच्छानुसार प्राकृत-जगत् को भोग सके, पर साथ ही शनैः-शनैः पारमार्थिक ज्ञान को भी प्राप्त हो जाय। वर्णाश्रमधर्म के अन्तर्गत ऐसे अनेक कर्तव्य हैं, जो कृष्णभावनाभावित भक्तियोग के अंग हैं। गृहस्थ भक्त वैदिककर्म और भक्ति के कर्तव्य, दोनों का आचरण करते हैं क्योंकि ये दोनों ही श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए हैं। गृहस्थ भक्त किसी वैदिककर्म का अनुष्ठान श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए ही करते हैं। पूर्व-वर्णन किया जा चुका है कि जिस भी क्रिया का लक्ष्य श्रीकृष्ण की तृप्ति करना हो, वह भक्ति है।

श्रीरूप गोस्वामी भक्ति करने के योग्य पुरुष का वर्णन करते हैं। जिनमें थोड़ा कुछ भगवत्प्रेम का उदय हो गया है, वे कनिष्ठ अधिकारी अपनी भक्ति के विकास के अनुसार इन्द्रियतृप्ति से अरुचि अनुभव करते हैं। यदि इन्द्रियतृप्तिकारक क्रियाओं में कुछ भी आसक्ति शेष हो तो इन क्रियाओं

के फल का श्रीकृष्ण को अर्पण करना चाहिए। इसी का नाम दास्यभाव है, अर्थात् भगवान् स्वामी और भक्त उनका दास। 'नारदीयपुराण' में इस दास्यभाव को दिव्य बताया गया है। वहाँ उल्लेख है कि जो पुरुष मन, वचन और कर्म से निरन्तर भगवद्भक्ति के परायण है अथवा जो केवल इसकी अभिलाषा भी करता है, वह सब अवस्थाओं में जीवन्मुक्त है।

सख्य

सख्यभक्ति के दो भेद हैं—एक विश्वासवृत्ति और दूसरा मित्रवृत्ति। भगवद्भक्ति में विश्वास रखनेवाला क्रम से विधि-विधान का पालन करता है क्योंकि उसे यह दृढ़ श्रद्धा रहती है कि वह शुद्धसत्त्व में अवश्य स्थित हो जायगा। दूसरे प्रकार का सखाभाव श्रीभगवान् का हितैषी (सुहृद) बन जाना है। भगवद्गीता में कहा है कि प्रचारक भगवान् का परम प्रिय प्रेमपात्र है। गीता का गोपनीय सन्देश जनसाधारण में प्रसारित करने वाला श्रीकृष्ण का इतना प्यारा है कि जगत् में कोई भी उसकी तुलना नहीं कर सकता।

महाभारत में द्रौपदी कहती है, "हे गोविन्द! आपकी प्रतिज्ञा है कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता। मुझे इस पर विश्वास है, इसलिए महान् विपत्तियों में भी इसे याद कर-कर के प्राणधारण किए हुए हूँ।" द्रौपदी और उसके पति पाँचों पाण्डवों को दुर्योधन आदि बान्धवों ने बड़े-बड़े दुःख दिए। उनके दुःख इतने भयंकर थे कि महान् पराक्रमी और नैष्ठिक ब्रह्मचारी भीष्मदेव भी उनका विचार करके कभी-कभी रो पड़ते थे। उन्हें विस्मय होता कि यद्यपि पाण्डव इतने धर्मात्मा थे, द्रौपदी साक्षात् लक्ष्मी जैसी थी और स्वयं श्रीकृष्ण उनके बन्धु थे, फिर भी उन्हें इतना दुःख उठाना पड़ा। ऐसे अपार दुःख में भी द्रौपदी विचलित नहीं हुई। वह जानती थी कि श्रीकृष्ण उनके सुहृद हैं, अतः अन्त में विजय उन्हीं की होगी।

श्रीमद्भागवत (११.२.५३) में भगवान् ऋषभ के पुत्र हवि राजा निमि से कहते हैं, "हे राजन्! जो त्रिभुवन के ऐश्वर्य के लिए भी श्रीभगवान् के चरणकमलों की सेवा से जो देवताओं की भी चिर अभिलाषा है, विचलित नहीं होता; इसी को परम, आराध्य मानने के दृढ़ निश्चय से युक्त रहता है, वह उत्तम भक्त है।"

श्रीरूप गोस्वामी ने कनिष्ठ भक्त की सामान्य श्रद्धा को भगवान्

की भक्ति में अधिकार का कारण तथा भक्ति में दृढ़ विश्वास को भक्ति का का अंग कहा गया है।

कभी-कभी अन्तरंग सखा की भाँति भगवान् के सेवन के लिए शुद्ध-भक्त मन्दिर के भीतर ही सो जाते हैं। भक्त के इस सख्य-व्यवहार को रागानुगा कहा जा सकता है। यद्यपि यह विधि है कि भगवत्-मन्दिर में कोई नहीं सो सकता, फिर भी यह रागानुगाभक्ति सख्य के वर्ग में मानी जा सकती है।

आत्मनिवेदन

आत्मनिवेदन के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत (११.२९.३४) में भगवान् का सुन्दर कथन है—"जो पुरुष मेरे चरणों में पूर्ण समर्पण करके अन्य सब कर्मों को त्याग देता है, उसकी लोक-परलोक में मैं स्वयं रक्षा करता हूँ। आत्मनिवेदन के पथ पर उत्तरोत्तर आगे बढ़ने में मैं उसकी सहायता करता हूँ। ऐसा पुरुष सार्ष्टि को प्राप्त हो चुका है।" भगवद्गीता में भी प्रमाण है कि जैसे ही कोई श्रीकृष्ण के चरणसरोज की शरण लेता है, श्रीकृष्ण उसकी बागडोर अपने हाथों में पकड़ लेते हैं और सम्पूर्ण पापों से मुक्ति का वचन देते हैं। वे अन्तरतर से उपदेश भी करते हैं जिससे वह परमार्थ के पथ पर शीघ्र अग्रसर हो सके।

पूर्ण शरणागति का नाम ही आत्मनिवेदन है। प्रसंग के अनुसार 'आत्म शब्द के विभिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। इसका प्रयोग कभी 'आत्मा' के अर्थ में होता है तो कभी यह शरीर अथवा मन का निर्देश करता है। अतः पूर्ण आत्मनिवेदन का अर्थ अपने आत्मा, अपने मन और शरीर को भगवान् की सेवा में समर्पित कर देना है। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने इस सम्बन्ध में अतिशय सुन्दर भजन गाया है। भगवच्चरणों में पूर्ण आत्मनिवेदन करते हुए वे कहते हैं, "मेरा मन, मेरा घर-परिवार, मेरा शरीर—जो कुछ भी मेरा है, हे नाथ! वह सब आपकी सेवा में समर्पित है। अब आप जो चाहें उनके साथ वैसा ही करें। आप स्वामी हैं, मैं नित्यदास हूँ, इसलिए चाहें तो मुझे मार डालें अथवा इच्छा हो तो मेरी रक्षा करें। आपका पूर्ण अधिकार है, मेरा अपना कुछ नहीं।"

श्रीयामुनाचार्य ने भी भगवत्स्तवन में यही उद्गार अभिव्यंजित किए हैं—'शरीर से मैं मनुष्य, देवता आदि जो कोई भी हूँ और जिस किसी गुण से युक्त हूँ, मुझे चिन्ता नहीं, क्योंकि यह सब त्रिगुणमयी माया का कार्य है, मैंने तो अपने-आपको आपके चरणकमलों में समर्पित करदिया है।'

'हरिभक्तिविवेक' में शरीर के समर्पण का प्रकार कहा गया है। भक्त कहता है, 'हे स्वामिन् ! बिका हुआ पशु अपने शरीर की रक्षा के लिए चिन्ता नहीं करता। मेरा शरीर-आत्मा आपको समर्पित हो गया है, इसलिए अपने रक्षण की चिन्ता से विरत हो गया हूँ।' भाव यह है कि अपने अथवा परिवार के रक्षण-मरण की चिन्ता न करे। यदि कोई वास्तव में शरीर-आत्मा से समर्पित हो गया है तो सदा स्मरण रखे कि उसका एकमात्र कार्य भगवत्सेवा के परायण रहना है।

श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं कि सख्य और आत्मनिवेदन, भक्ति के ये दोनों अंग दुष्कर हैं, बहुत कम पाये जाते हैं और केवल उत्तर भक्तों के लिए ही साधना में सुखसाध्य हैं। भाव यह है कि शुद्ध भावभक्ति से युक्त आत्मनिवेदन बड़ा ही दुर्लभ है। यह तभी होगा जब पर्ण रूप से भगवान् की इच्छा के परायण (शरणागत) हो जाय।

निज प्रिय वस्तु का समर्पण

श्रीमद्भागवत (११.११.४१) में भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं, "हे सखे ! अपने पास जो-जो परम श्रेष्ठ वस्तु हो या संसार में जो प्रिय हो, उसे मेरे अर्पण करने से अनन्त लाभ होता है।"

भगवान् की प्रीति के लिए सब चेष्टा करना

भगवान् के लिए सब चेष्टा करने का दृष्टान्त 'नारदपंचरात्र' में है। उल्लेख है कि भक्ति के अभिलाषी को भगवान् की सेवा के लिए सब लौकिकी-वैदिकी क्रियायें करनी चाहियें। तात्पर्य यह है कि भक्ति के शास्त्रविहित विधान का पालन करने के साथ-साथ भक्त को अपने व्यावहारिक जीवन के कर्तव्यों का आचरण भी कृष्णभावनाभावित होकर ही करना चाहिए। जैसे किसी भक्त का कोई बड़ा उद्योग हो, तो वह इस लौकिक सम्पत्ति के फलों को भगवान् की सेवा में लगा सकता है।

शरणापत्ति

हरिभक्तिविलास' का वचन है, "जिस शरणागत भक्त को यह दृढ़ विश्वास है कि मैं भगवान् का हूँ और जो इस भाव के अनुरूप वास्तव में मन, वचन और कर्म से क्रिया भी करता है, वह यथार्थं दिव्य आनन्दमय का आस्वादन करता है।" नृसिंहपुराण में भगवान् नृसिंह कहते हैं—"हे देवदेव ! जनार्दन ! मैं आप की शरण में आया हूँ, इस प्रकार कहकर जो

शरण में आ जाता है, अपने उस आश्रित का मैं सब क्लेशों से उद्धार करता हूँ।''

तुलसीसेवन

'स्कन्दपुराण' में तुलसी का माहात्म्य है, ''जिसके दर्शन से पापों और रोगों का नाश होता है, स्पर्श से शरीर शुद्ध होता है, वंदन करने और सींचने से यमभय जाता रहता है, संरोपण करने से जो भगवान् की भक्ति देने वाली है और श्रीकृष्ण के चरणों में अर्पित करने से जो पूर्ण भगवत्प्रेम का दान करती है, उस तुलसीदेवी के चरणों में सादर प्रणाम करता हूँ।''

अवैष्णव हिन्दुओं के घरों में भी तुलसी की विशेष शुश्रूषा की जाती है। महानगरों में तुलसी रखना बड़ा कठिन है, परन्तु फिर भी लोग इसे बड़ी सावधानी से लगाते हैं। वे इसे जल से सींच कर प्रणाम करते हैं क्योंकि भक्तिपथ में तुलसीसेवा बहुत महत्त्वपूर्ण है।

'स्कन्दपुराण' में तुलसीमाहात्म्य का एक अन्य वाक्य है, ''तुलसी सर्वमंगलमयी हैं। इसे देखने, स्पर्श, स्मरण, स्तुति, वन्दना, श्रवण अथवा रोपण करने से सब प्रकार का कल्याण होता है। इन नौ विधियों से तुलसीसेवन करने वाला शाश्वत् काल तक वैकुण्ठ-जगत् में वास करता है।

अध्याय १२

भक्ति के अंग (२)

शास्त्र-श्रवण

श्रील रूपगोस्वामी के अनुसार, जो ग्रन्थ भक्तिमार्ग को प्रकाशित करे, वह शास्त्र है। श्रील मध्वाचार्य का वचन है कि रामायण, महाभारत, पुराण, उपनिषद्, वेदान्तसूत्र आदि ग्रन्थ और इनके अनुगामी अन्य सब ग्रन्थ शास्त्र हैं।

'स्कन्दपुराण' में उल्लेख है, "जो वैष्णव शास्त्रों का निरन्तर पठन और श्रवण करते हैं, वे मनुष्यों में धन्य हैं, निस्सन्देह भगवान् श्रीकृष्ण उनसे प्रसन्न होते हैं। वैष्णवशास्त्रों की घर में अर्चना करने वाले पापों से छूट कर देवताओं के वन्दनीय बन जाते हैं।"

नारदजी से कहा गया है, "हे नारद ! जो मनुष्य वैष्णवशास्त्रों को लिखकर घर में रखता है, उसके यहाँ साक्षात् श्रीमन्नारायण विराजते हैं।"

श्रीमद्भागवत (१२.१३.१५) में कथन है, "यह श्रीमद्भागवत सारे वेदान्त का परम सार है। जो किसी प्रकार श्रीमद्भागवत में रस लेने लगता है, उसकी किसी अन्य साहित्य को पढने में रुचि नहीं होती। भाव यह है कि श्रीमद्भागवत के दिव्यरस से तृप्त हुआ भाग्यवान् ग्राम्यवार्ता में रस नहीं ले सकता।"

मथुरामण्डल में वास

'वराहपुराण' में मथुरामण्डल की स्तुति है। भगवान् वराह पृथ्वी-वासियों से कहते हैं, "जो मथुरा को छोड़ अन्य स्थान में प्रेम करता है, वह मूढ़ मेरी माया द्वारा मोहित होकर संसार में चक्कर काटता रहेगा।" 'ब्रह्माण्डपुराण' में वचन है, "जो परमानन्दमयी सिद्धि तीनों लोकों के तीर्थों में जाने से भी नहीं मिलती, वह मथुरा के स्पर्शमात्र से प्राप्त हो जाती है।" शास्त्रों में स्थान-स्थान पर कहा गया है कि मथुरा

के श्रवण-स्मरण, कीर्तन, चाहने, दर्शन, गमन, स्पर्श, आश्रय लेने और सेवन करने से अभीष्ट-सिद्धि होती है।

वैष्णवसेवन

'पद्मपुराण में वैष्णवसेवन की प्रशंसा में एक सुन्दर वाक्य है। शिवजी पार्वती से कहते हैं। "हे देवि! सब प्रकार की आराधनाओं में भगवान् की अराधना सर्वोत्तम है। परन्तु भगवद्भक्तों की आराधना उससे भी बड़ी है।"

श्रीमद्भागवत (३.७.१९) में ऐसा ही वाक्य है, "मैं भक्तों का निष्कपट दास बनने का अभिलाषी हूँ, क्योंकि उनकी सेवा करने से भगवत्-चरणारविन्दों की शुद्धभक्ति सुलभ है। भक्तसेवन से सम्पूर्ण दुःखमय भव-उपाधियों का नाश होकर भगवान् में तीव्र रति का उदय हो जाता है।"

'स्कन्दपुराण' में उल्लेख है—"शंख, चक्र, गदा और पद्म के चिन्ह से युक्त शरीर वाले, सिर पर तुलसीमंजरी धारण किए तथा गोपीचन्दन लगाए हुए भक्त का यदि एक बार भी दर्शन हो जाय तो फिर पाप कैसे रह सकता है?"

श्रीमद्भागवत (१.१९.३३) की उक्ति है, "जिनके स्मरणमात्र से घर-परिवार शुद्ध हो जाता है, उन भक्तों के दर्शन, स्पर्श, चरण-परवारने, आसन देने तथा सेवा करने से होने वाले पुण्य का तो कहना ही क्या है।"

'आदिपुराण' में स्वयं श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं, "हे पार्थ! जो अपने को मेरा भक्त कहता है, वह मेरा भक्त नहीं है। जो मेरे भक्त का भक्त है, वही मेरा यथार्थ भक्त है।" कोई भी अपने निजी प्रयास से भगवान् को प्राप्त नहीं कर सकता। उनकी प्राप्ति उनके शुद्धभक्तों के माध्यम से ही होती है। अतएव वैष्णव आचार में पहली क्रिया भक्त को गुरु बनाकर उसका सेवन करना है।

श्रील रूप गोस्वामी पुष्टि करते हैं कि भक्तिरसामृतसिन्धु में नाना शास्त्रों से समाहृत सारे उद्धरण महान् आचार्यों और भगवद्भक्तों को मान्य हैं।

वैभव-महोत्सव

पद्मपुराण में कहा गया है कि अपने वैभव के अनुसार सभी को भगवान् के सब उत्सवों और जयंतियों का आयोजन करना चाहिए। इनमें से ऊर्जव्रत का बड़ा माहात्म्य है। यह ऊर्जव्रत कार्तिक में मनाया जाता

है। वृन्दावन में भगवान् के दामोदर रूप की अर्चना का विशेष आयोजन होता हैं। दामोदर नाम का सम्बन्ध श्रीकृष्ण की ऊखल-बन्धन लीला से है। कहा जाता है जैसे भगवान् दामोदर अपने भक्तों को अतिशय प्रिय हैं, वैसे ही दामोदर अथवा कार्तिक मास भी है।

कार्तिक में ऊर्जव्रत की भक्ति का साधन विशेषतः मथुरा में करना चाहिए। बहुत से भक्त अद्यावधि इसका पालन करते हैं। वे कार्तिक में मथुरा अथवा वृन्दावन में वास करते हुए भक्तियोग का साधन करते हैं।

पद्मपुराण में आया है, "अन्य स्थानों पर सेवा करने वाले को श्रीकृष्ण भोग और मोक्ष तो दे सकते हैं पर भक्ति नहीं देते, क्योंकि वह (भक्ति) भगवान् को वश में कर लेने वाली है। किन्तु मथुरा में कार्तिक मास में एक बार भी भगवान् दामोदर की सेवा कर लेने से मनुष्यों को वह भक्ति तत्काल ही प्राप्त हो जाती है। फिर उन्हें मुक्ति-भुक्ति की इच्छा नहीं रहती, वे केवल शुद्धभक्ति चाहते हैं।" तात्पर्य यह है कि यथार्थ उत्कण्ठा से रहित साधारण मनुष्यों को भगवान् अपनी भक्ति नहीं देते। परन्तु ऐसे व्यक्ति भी यदि कार्तिक मास में मथुरा में विधि से भक्ति का साधन करें तो वे सुगमता से भगवत्सेवा प्राप्त कर लेते हैं।

जन्मदिन-यात्रा

भगवान् के जन्मोत्सव आदि दिव्य क्रियाओं के सम्बन्ध में 'भविष्य-पुराण में उल्लेख है—"हे जनार्दन ! जिस दिन देवकी से आप प्रकट हुए, वह दिन बताइए, जिससे उस दिन हम महोत्सव मनायें। हे केशव ! हम आपके पूर्णतः शरणागत जन आपको इन महोत्सवों के द्वारा प्रसन्न करना चाहते हैं।"

'भविष्यपुराण' का यह वाक्य इस बात का प्रमाण है कि भगवत्-महोत्सव मनाने वाला अवश्य भगवान् की प्रीति-लाभ करता है।

प्रगाढ़ भक्ति से श्रीमूर्ति-सेवन

'आदिपुराण' में उल्लेख है—"जो पुरुष निरन्तर नामकीर्तन और भगवत्सेवा में तन्मय होकर दिव्य सुख का आस्वादन करता है, वह भक्ति का पात्र है, उसे केवल मुक्ति कभी नहीं दी जाती।"

मुक्ति का अर्थ है—भवबन्धन से छूट जाना। मुक्त हो जाने पर प्राकृत-जगत् में फिर जन्म नहीं लेना पड़ता। निर्विशेषवादी भगवान् में लीन होकर अपने स्वरूप को नष्ट करना चाहते हैं। परन्तु श्रीमद्भागवत

के अनुसार मुक्ति तो अपनी स्वाभाविक स्थिति को फिर से पा लेने की केवल प्रारम्भिक दशा है। भगवान् की भक्ति करना ही जीवमात्र की स्वाभाविक स्थिति है। 'आदिपुराण' के वाक्य से ज्ञान होता है कि भक्त केवल भक्ति करने में सन्तोष मानता है। वह भवबन्धन से कोई सी मुक्ति नहीं चाहता। भाव यह है कि जो भक्ति के परायण है वह भवबन्धन में नहीं है, चाहे ऐसा प्रतीत भले ही हो।

भक्तगोष्ठी में श्रीमद्भागवत का आस्वादन

श्रीमद्भागवत वैदिकज्ञानरूपी कल्पबृक्ष का परिपक्व अमृतफल है। वेद शब्द ज्ञान के सम्पूर्ण समवाय का वाचक है। मानवसमाज के लिए जिस भी ज्ञान की अपेक्षा है, वह सब श्रीमद्भागवत में पूर्ण रूप से प्राप्त है। वैदिक शास्त्रों में समाजशास्त्र, राजनीति, आयुर्वेद, धनुर्वेद आदि ज्ञान के अनेक वर्ग हैं। ज्ञान के इन सभी वर्गों का वेदों में सांगोपांग प्रतिपादन हुआ है। वेद अध्यात्मविद्या में पूर्ण हैं और श्रीमद्भागवत को इस वेद रूप कल्पवृक्ष का परिपक्व अमृतफल कहा गया है। किसी भी वृक्ष की महिमा उसके फलों से ही होती है। उदाहरणार्थ, आम का पेड़ बड़ा मूल्यवान् समझा जाता है क्योंकि आम फलों का राजा है। पका हुआ आम उस वृक्ष का सर्वोत्तम उपहार है। श्रीमद्भागवत भी इसी प्रकार वेदकल्पतरु का पक्व फल हैं। जैसे तोते की चोंच से कटा हुआ फल अधिक मधुर हो जाता है, वैसे ही शुकदेव गोस्वामी के दिव्य मुखारविन्द से गायी जा कर भागवती कथा भी अधिक रसमयी हो गयी है।

श्रीमद्भागवत को अखण्ड शिष्यपरम्परा से ग्रहण करना चाहिए। पेड़ पर चढ़े मनुष्यों द्वारा एक शाखा से दूसरी शाखा पर क्रम से उतर कर भूमि पर गिरा हुआ पक्व फल नष्ट नहीं होता। परम्परा से ग्रहण करने पर श्रीमद्भागवत भी अखण्ड (अविकृत) रहती है। भगवद्गीता में उल्लेख है कि दिव्यज्ञान परम्परा से ही हो सकता है। शास्त्र के यथार्थ प्रयोजन को जानने वाले प्रामाणिक आचार्य ही ज्ञान का संचार कर सकते हैं।

भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि श्रीमद्भागवत को भागवत पुरुष के मुख से सीखना चाहिए। भागवत का अर्थ है—"भगवान् का।" अतः भक्त को भी भागवत कहा जाता है और भगवान् की भक्ति से सम्बन्धित ग्रन्थ को भी भागवत कहा जाता है। श्रीचैतन्य महाप्रभु का आग्रह है कि श्रीमद्भागवत का यथार्थ रसास्वादन करने के लिए उसे

भागवतपुरुष के मुखपद्म से ही सुने। श्रीमद्भागवत तो वास्तव में जीवन्मुक्तों के लिए भी आस्वाद्य हैं। स्वयं शुकदेव गोस्वामी ने कहा है कि यद्यपि वे माँ के गर्भ से मुक्त थे, परन्तु श्रीमद्भागवत का रसपान करने पर महाभागवत भक्त बने। अतएव जो कृष्णभावनाभावित होने का अभिलाषी हो, वह भक्तगोष्ठी में श्रीमद्भागवत की कथा का आस्वादन करे।

श्रीमद्भागवत (२.१.९) में शुकदेव गोस्वामी कहते हैं कि वे निर्विशेष ब्रह्म में अत्यन्त निष्ठ थे, परन्तु पिता व्यासदेव के मुख से जब उन्होंने श्रीभगवान् की दिव्य लीलाकथा सुनी तो श्रीमद्भागवत में अतिशय अनुरक्त हो गए। व्यासदेव भी आत्मज्ञानी थे और इस प्रकार दिव्यज्ञान की अपनी इस प्रौढ़ रचना को उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से शुकदेव गोस्वामी को प्रदान किया।

शुद्धभक्तों का संग

शुद्धभक्तों की गोष्ठी में श्रीमद्भागवत की वार्ता का माहात्म्य शौनक मुनि ने नैमिषारण्य की सभा में सूत गोस्वामी के सामने अभिव्यक्त किया है। शुद्धभक्त के क्षणभर के सत्संग की इतनी अधिक महिमा है कि स्वर्ग-मोक्षदायक पुण्य भी उसकी तुलना नहीं कर सकते। भाव यह है कि श्रीमद्भागवत के अनुरागीजन किसी प्रकार का स्वर्ग अथवा निर्विशेषवादियों द्वारा चिर अभिलाषित मुक्ति नहीं चाहते। अस्तु, शुद्धभक्त के सत्संग के दिव्य माहात्म्य के समान कोई भी प्राकृतसुख नहीं हो सकता।

'हरिभक्तिसुधोदय' में प्रह्लाद महाराज और उनके पिता हिरण्यकशिपु में एक संवाद है। वहाँ हिरण्यकशिपु प्रह्लाद से कहता है, "हे वत्स ! संग की बड़ी महिमा है। मनुष्य जिसका संग करता है, मणि के समान वह उसके गुण को धारण कर लेता है।" इस नियम के अनुसार यदि हम सुमन जैसे निर्मल भगवद्भक्तों का संग करेंगे और यदि हमारा हृदय स्वच्छ होगा तो हमसे भी वही कर्म बनेंगे। एक सन्दर्भ में एक अन्य दृष्टान्त यह है—यदि मनुष्य समर्थ है और स्त्री भी रुग्ण नहीं है तो दोनों के संग से गर्भाधान हो जायगा। इसी प्रकार, यदि अध्यात्मविद्या के दाता और ग्राहक दोनों सच्चे अधिकारी हैं तो अच्छा परिणाम होगा।

भगवन्नाम का कीर्तन

श्रीमद्भागवत (२.१.११) में **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** महामन्त्र के कीर्तन की बड़ी महिमा

है। शुकदेव गोस्वामी परीक्षित महाराज से कहते हैं—"हे राजन ! यदि हरेकृष्ण महामन्त्र के कीर्तन में किसी का सहज अनुराग हो तो समझना चाहिए कि वह परम संसिद्धि को प्राप्त हो गया है।" यह विशेष रूप से उल्लेख है कि कर्मफल के अभिलाषी सकाम कर्मी, परमेश्वर से एक होने की इच्छा वाले मुमुक्षु तथा सिद्धिकामी योगी केवल हरेकृष्ण महामन्त्र के कीर्तन से सम्पूर्ण संसिद्धियों को पा सकते हैं। शुकदेवजी ने इस कथन को 'निर्णीत' अर्थात् 'निश्चित' बताया है। शुकदेव मुक्तपुरुष थे; वे ऐसे किसी मत को स्वीकार नहीं करते, जो निर्णीत (सिद्ध) न हुआ हो। उन्होंने इस निर्णय पर बल दिया है कि जो मनुष्य दृढ़ता और स्थिरता से हरे-कृष्ण महामन्त्र का कीर्तन करने लगा है, वह सकामकर्म, मनोधर्म और ध्यानयोग को लाँघ चुका है।

'आदिपुराण' में श्रीकृष्ण ने भी यही कहा है। वे अर्जुन से कहते हैं—"हे अर्जुन ! जो मेरे दिव्य नाम का गान करता है, वह मेरे ही सांनिध्य में रहता है। हे सखे ! मैं सत्य कहता हूँ। वह मुझे खरीद लेता है।"

'पद्मपुराण' में उल्लेख है, "जिसने हजारों जन्मों तक भगवान् वासुदेव की सेवा की है, उसी की जिह्वा पर हरेकृष्ण महामन्त्र विराजता है।" पद्मपुराण में कहा है, "भगवान् के पावन नाम और स्वयं भगवान् में कुछ भी भेद नहीं है। अतः भगवन्नाम भगवान् के समान ही पूर्ण, शुद्ध एवं नित्यमुक्त है। चैतन्यरसविग्रह कृष्णनाम चिन्तामणि-स्वरूप है; वह कोई प्राकृत ध्वनि नहीं है और न विकारी है।" अतः जिसने अपनी इन्द्रियों को शुद्ध नहीं कर लिया है, ऐसा पुरुष कृष्णनाम का निरपराध उच्चारण नहीं कर सकता। भाव यह है कि प्राकृत विकारमयी कुंठित इन्द्रियाँ हरे-कृष्ण महामन्त्र का अच्छी प्रकार से उच्चारण नहीं कर सकतीं। परन्तु इस कीर्तन-पद्धति का सेवन करने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है, जिससे अति शीघ्र अपराधरहित जप होने लगता है।

भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु का आग्रह है कि मल से चित्तरूप दर्पण को स्वच्छ करने के लिए सब लोग हरेकृष्ण महामन्त्र का जप-कीर्तन करें। हृदयशुद्धि हो जाने पर ही कृष्णनाम की यथार्थ महिमा समझ में आती है। जो हृदय को अशुद्ध बनाए रखना चाहते हैं, वे हरेकृष्ण जप के दिव्य लाभ से वंचित रह जाते हैं। अतः भगवान् के प्रति सेवाभाव का उत्साह के साथ विकास करना चाहिए, क्योंकि उससे वह निरपराध जप कर सकेगा। इसलिए गुरुदेव के मार्गदर्शन में शिष्य को एक साथ भगवत्सेवा और हरे-कृष्ण जप करने की शिक्षा दी जाती है। हृदय में स्वरूपभूत रागानुगा

सेवाभाव की उद्भावना होते ही वह महामन्त्र कृष्णनाम के दिव्य स्वरूप को जान जाता है ।

श्रीमथुरामण्डल में स्थिति

'पद्मपुराण' में मथुरामण्डल, द्वारका आदि में वास के सम्बन्ध में एक वाक्य है, "अन्य तीर्थों की यात्रा का मुक्ति ही महाफल है। परन्तु यह मुक्ति परम संसिद्धि नहीं है। मुक्त होने के बाद भगवद्भक्ति के परायण होना है। ब्रह्मभूत हो जाने पर ही भक्तियोग की प्राप्ति होती है। अतः प्रेममयी भगवद्भक्ति ही जीवन का परम लक्ष्य है और क्षणभर के लिए भी मथुरावास करने वाले के लिए यह अत्यन्त सुलभ हो जाती है ।"

आगे कहा है, "ऐसा कौन बुद्धिमान है जो मथुरा का सेवन नहीं करेगा? मथुरा सकामकर्मियों और परमब्रह्म से एक होने जाने के अभिलाषी मुमुक्षुओं को सर्वाभीष्ट का दान करने वाली है। फिर भक्ति चाहने वाले भक्तों को भक्ति क्यों नहीं देगी, अर्थात् अवश्य देगी।" वैदिक शास्त्रों में अन्यत्र कहा है—"अहो! वैकुण्ठ से भी अतिशय महिमामयी यह मथुरा कितनी धन्या है। यहाँ एक दिन रहने से भी हृदय में कृष्णभक्ति उदित हो जाती है ।"

अध्याय १३

भक्ति के पाँच शक्तिशाली साधन

श्रील रूप गोस्वामी का कथन है कि मथुरावास, मूर्ति-अर्चन, श्रीमद्भागवत का आस्वादन, भक्तसेवन तथा हरेकृष्ण महामन्त्र का कीर्तन से भक्ति के ये पाँच साधन इतने शक्तिशाली हैं कि इनमें से किसी एक से तनिक सा सम्बन्ध भी कनिष्ठ भक्त तक में भक्तिभाव को उद्भावित कर देता है।

श्रीमूर्ति-अर्चन के सम्बन्ध में रूप गोस्वामी लिखते हैं—"हे सखे! यदि तुम्हें प्राकृत-जगत् में अपने बन्धु-बान्धवों की कुछ भी इच्छा है तो केशीघाट के समीप मुस्कराते हुए त्रिभंगललित मुद्रा में खड़े, तिरछी और दूर तक फैली हुई दृष्टि वाले, अधर पर वेणुवादन करते हुए और मोरपिच्छ के साथ चन्द्रके से चमकते हुए गोविन्द नामक कृष्णरूप को मत देखना।"

इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि यदि कोई घर में अर्चना करता हुआ श्रीमूर्ति के अनुरक्त हो गया तो तथाकथित घर, परिवार और समाज की सुध-बुध भूल कर उनकी भक्ति में ही डूब जायगा। प्रत्येक गृहस्थ का प्रधान कर्तव्य है कि घर में कृष्णमूर्ति स्थापित करके अपने सब बन्धु-बान्धवों के साथ उनकी आराधना करे। इससे सब क्लब, सिनेमा, नृत्य आदि में जाने और धूम्रपान, मद्यपान जैसे अनर्थों से बच जायेंगे। घर में मूर्ति-अर्चना पर बल देने से इन सब अनर्थों को दूर किया जा सकता है।

रूप गोस्वामी आगे लिखते हैं—"हे मूर्ख सखे! जान पड़ता है कि तुम श्रीमद्भागवत की पावन पद्यावली का कुछ-कुछ श्रवण कर चुके हो, जिसमें सकामकर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सब का निरादर है। अब क्रमश: भगवल्लीलामय दसवें स्कन्ध के श्लोक तुम्हारे कर्णविवरों में प्रविष्ट होकर हृदय में अमृत का संचार करेंगे।"

श्रीमद्भागवत के उपक्रम में ही कहा गया है कि जब तक कोई

सकामकर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को कूड़े-करकट की भाँति फेंक नहीं देता, तब तक वह श्रीमद्भागवत को हृदयंगम नहीं कर सकता। भागवत केवल भगवद्भक्ति को विषय करती है। अतः त्यागवृत्ति से भागवत का स्वाध्याय करने वाला ही दसवें स्कन्ध में वर्णित भगवच्चरित को समझ सकता है। भाव यह है कि भागवत में अनुराग के बिना दसवें स्कन्ध के रासलीला आदि परम गोपनीय प्रसंगों को समझने का प्रयास न करे। श्रीमद्भागवत के यथार्थ रूप का आस्वादन शुद्धभक्ति में स्थित होने पर ही हो सकता है।

श्रील रूप गोस्वामी के पूर्वोक्त दोनों श्लोकों में अलंकारों का प्रयोग है, जो परोक्ष रूप से सांसारिक संग, मित्रता और प्रेम की भर्त्सना करते हैं। लोग प्रायः समाज, मित्रता और प्रेम की ओर आकृष्ट रहते हैं और इन प्राकृत दोषों के विकास के लिए व्यापक आयोजन करते हैं। परन्तु श्रीराधाकृष्ण मूर्ति के दिव्य दर्शन से विषयसंग के ये सब उद्यम समाप्त हो जाते हैं। श्रीरूप गोस्वामी के श्लोक में विरोधाभास अलंकार है; लगता है मानो वे मित्रता, प्रेम आदि प्राकृत संगों की प्रशंसा और गोविन्द मूर्ति के दर्शन की निन्दा कर रहे हों। यह अलंकार इस प्रकार का होता है कि जो वस्तु प्रशंसित प्रतीत होती है, उसकी वास्तव में निन्दा हुई होती है और प्रशंसा के योग्य वस्तु निन्दित हुई लगती है। श्लोक का वास्तविक तात्पर्य यह है कि यदि कोई प्राकृत मित्रता, प्रेम और समाज रूपी अनर्थों को भुलाना चाहता हो तो गोविन्दरूप का दर्शन अवश्य करे।

श्रील रूप गोस्वामी ने इसी भाँति दिव्य कृष्णकथा का वर्णन किया है। एक भक्त के हृदय का उद्गार है, "बड़ा आश्चर्य है कि अपने आँसुओं से धुले हुए भगवान् के इस रूप को जबसे मैंने देखा है, मेरा तन पुलकावली से मण्डित हो गया है और अपने सांसारिक कर्तव्य को भूल बैठा हूँ। उन्हें देखकर अब मेरा मन चुपचाप घर में नहीं लगता है। न जाने क्यों सदा उनके पास जाने को उत्कण्ठित रहता हूँ।" इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि सौभाग्य से शुद्धभक्त का संग होने पर कृष्णकथा सुनने और कृष्ण-विषयक जानने को, अर्थात् पूर्णतः कृष्णभावनाभावित बनने के लिए उत्कण्ठित हो जाना चाहिए।

इसी प्रकार, महामन्त्र के श्रवण-कीर्तन के सम्बन्ध में एक वाक्य है—"कहा जाता है कि सन्तजनों को नारदजी के करों में बज रही वीणा की दिव्यध्वनि कर्णगोचर होती है। जब से इस शीतल नाद ने मेरे कानों में प्रवेश किया है, मैं निरन्तर श्रीभगवान् की संनिधि अनुभव कर रहा हूँ,

और किसी अनिर्वचनीय अपूर्व दशा को धारण करता हुआ मेरा मन विषयवासना से एकदम शान्त-सा हो चला है।"

पुनः मथुरामण्डल के माहात्म्य का प्रतिपादन करते हैं, "श्यामल यमुनातट पर त्रिभंगललित मुद्रा में खड़े श्यामसुन्दर की मुझे स्मृति हो रही है। जहाँ अपार शोभा छिटकाती हुई, खिले हुए कदम्ब के ऊपर बैठ कर गुंजारते हुए भौंरों से युक्त, निरवधि मधुरिमा से मण्डित यह वनश्री मेरे मन में न जाने किस अनिर्वचनीय भक्तिभाव को उदित कर रही है।" श्रील रूप गोस्वामी द्वारा वर्णित मथुरा-वृन्दावन की इस असमोर्ध्व माधुरी का अनुभव अभक्तों तक को हो सकता है। यमुना के किनारे चौरासी कोस के मथुरामण्डल के लीलास्थल इतने सुन्दर हैं कि एक बार जो वहाँ चला जायगा वह फिर कभी इस प्राकृत-जगत् में लौटना नहीं चाहेगा। श्रीरूप गोस्वामी के ये वाक्य मथुरा-वृन्दावन के यथार्थ स्वरूप की अनुभूति से ओतप्रोत हैं। इन सब चिद्गुणों से सिद्ध होता है कि मथुरा-वृन्दावन की स्थिति संसार से लोकोत्तर है। अन्यथा, इन स्थानों में जाने पर हृदय में दिव्य भावों की उद्भावना नहीं होती। मथुरा-वृन्दावन में चरण रखते ही तत्काल ये भाव निश्चित रूप से उद्दिप्त हो उठते हैं।

इन भक्तियोग विषयक वाक्यों को सुनकर कभी-कभी प्रतीत होता है कि फल बढ़ा-चढ़ा कर कहा गया है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। यद्यपि यह सब के लिए सम्भव नहीं है, परन्तु शास्त्रों का प्रमाण है कि बहुत से भक्तों को ऐसे सत्संग का तत्काल फल हुआ है। उदाहरणार्थ, मन्दिर में सौरभ का आघ्राण करने मात्र से सनकादि चारों कुमार तत्काल भक्त बन गए। बिल्वमंगल ठाकुर कृष्णकथा को सुनते ही वेश्या को त्याग कर वृन्दावन को चल पड़े और परम वैष्णव बन गए। अतः ये वाक्य अतिशयोक्ति अथवा गल्प नहीं हैं। ये वास्तविक तथ्य हैं, परन्तु ये विशेष भक्तों के लिए ही प्रकट होते हैं, सब पर नहीं घटते। ये वर्णन चाहे बढ़े-चढ़े लगें, पर अपने ध्यान को नश्वर विषय-सौन्दर्य से हटाकर शाश्वत् कृष्णभावना माधुर्य में लगाने के लिए हमें इन वर्णनों को इसी रूप में अंगीकार करना चाहिए। जो पहले ही कृष्णभावनाभावित हैं, उसके लिए इनमें कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है।

कतिपय विद्वानों का मत है कि केवल वर्णाश्रम-धर्म का पालन करने से भी शनैः-शनैः भक्तियोग के साधन की संसिद्धि हो सकती है। परन्तु महान् आचार्य इसे नहीं मानते। रामानन्द राय के साथ भक्ति के क्रमिक विकास से सम्बन्धित वार्ता में भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने भी इस विचार का

निराकरण किया है। उन्होंने रामानन्द राय द्वारा प्रतिपादित वर्णाश्रमधर्म की महिमा को अस्वीकार कर दिया। वे कहते हैं कि वर्ण और आश्रम का यह आचरण केवल बाह्य है। इससे ऊँचा सिद्धान्त भी है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने स्वयं अन्य सब साधनों को त्याग कर कृष्णभावना का पथ अंगीकार करने के लिए जीव का आह्वान किया है। जीवन की परम संसिद्धि का एकमात्र यही मार्ग है।

श्रीमद्भागवत (११.२०.९) में भी भगवान् कहते हैं, "वर्ण और आश्रम के कर्तव्यों का पालन तभी तक करे, जब तक मेरी लीलाकथा में राग और आसक्ति नहीं हो जाती।" भाव यह है कि वर्णाश्रमधर्मरूपी कर्मकाण्ड अर्थ, इन्द्रियतृप्ति और मोक्ष के लिए है। ये सब उनके लिए हैं, जो कृष्णभावनाभावित नहीं हुए हैं। वास्तव में शास्त्रों में इन सब क्रियाओं का विधान जीव को कृष्णभावना तक लाने के लिए ही है। जिसे श्रीकृष्ण के लिए रागानुगा आसक्ति हो गयी है, उसे शास्त्रविहित कर्तव्यों से प्रयोजन नहीं रहता।

अध्याय १४

भक्ति की योग्यता

कुछ विद्वानों का कहना है कि ज्ञान-वैराग्य भक्ति के अंग हैं; परन्तु यह सत्य नहीं है। वास्तव में भक्ति में प्रवेश के लिए उपयोगी होने पर ज्ञान-वैराग्य को प्रारम्भ में स्वीकार किया जा सकता है; पर अन्त में वह अवस्था भी आती है जब उन्हें त्याग दिया जाता है। भक्ति की लालसा के अतिरिक्त भक्ति का और कोई हेतु नहीं है। इसके लिए केवल सरल हृदय चाहिए।

दक्ष भक्तों के मत में मनोधर्म (ज्ञान) और योगाभ्यास के कृत्रिम वैराग्य का मार्ग भवबन्धन से मुक्ति के लिए उपयुक्त हो सकता है; परन्तु ये दोनों चित्त को उत्तरोत्तर कठोर बनाने वाले हैं। इनके द्वारा भक्तिभाव का बिल्कुल भी वर्धन नहीं हो सकता। अतः भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा में प्रवेश पाने के लिए ये साधन अनुकूल नहीं हैं। वस्तुतः कृष्णभावना-भक्तियोग ही भक्तियोग में प्रगति का एकमात्र मार्ग है। भक्ति अद्वय है, वही कारण है और वही कार्य है। श्रीभगवान् सबके परम कारण हैं। उन अद्वय की प्राप्ति के लिए भक्ति का अद्वय मार्ग ही अंगीकार करना होगा।

भगवद्गीता में स्वयं श्रीभगवान् इसकी पुष्टि करते हैं, "केवल भक्ति से ही मेरा तत्त्व जाना जा सकता है।" गीतोपदेश के प्रारम्भ में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं, "तू मेरा भक्त है, इसलिए तेरे से यह सम्पूर्ण रहस्य कहूँगा।" वैदिकज्ञान का अन्तिम लाभ भगवान् के तत्त्व को जानना है और उनके वैकुण्ठ धाम में प्रवेश का पथ है भक्तियोग। सभी प्रामाणिक शास्त्र इसमें एकमत हैं। मनोधर्मी लोग भक्तिपथ का तिरस्कार करके दूसरों को दार्शनिक अन्वेषण में परास्त करने में ही लगे रहते हैं, इसलिए उनके हृदय में भक्तिभाव प्रकट नहीं होता।

श्रीमद्भागवत (११.२०.३१) में श्रीकृष्ण कहते हैं, "हे उद्धव ! मेरे सच्चे भक्त के लिए ज्ञान-वैराग्य प्रायः श्रेयदायक नहीं होते। मेरा भक्त

अपनी भक्ति के प्रभाव से सकामकर्मों, तप, त्याग, दान, योग, ज्ञान, वैराग्य आदि के लाभ को अपने-आप प्राप्त कर लेता है; परतत्त्व के पर्याप्त ज्ञान से युक्त हो जाता है।" यह भक्ति की कसौटी है। भक्त अन्धकार में नहीं रहता भगवान् स्वयं विशेष कृपा का परिवर्षण करते हुए उसे अन्तर से प्रबुद्ध करते हैं।

श्रीमद्भागवत (११.२०.३२-३३) में श्रीकृष्ण उद्धव से आगे कहते हैं, "हे सखे ! मेरी सेवा में अनुरक्त मेरे भक्तों को तप, त्याग, दान, ज्ञान, वैराग्य आदि सम्पूर्ण सत्कर्मों का फल सुलभ हो जाता है। इस पर भी मेरी भक्ति के अतिरिक्त वे और कुछ नहीं चाहते। यदि कोई भक्त स्वर्ग में या मेरे वैकुण्ठधाम को जाना चाहे तो मेरी अहैतुकी कृपा उस से सारी कामनायें सहज ही पूरी हो सकती हैं।"

कृष्णभावना के सेवन में लगे पुरुष में यदि कुछ विषयवासना शेष भी हो तो सद्गुरु के आदेशानुसार नियमित रूप से भक्ति का साधन करते रहने से वह इस प्रवृत्ति से शीघ्र मुक्त हो जाता है।

श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं कि प्राकृत इन्द्रियतृप्ति में आसक्ति नहीं होनी चाहिए; परन्तु श्रीकृष्ण से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु का ग्रहण करे। जैसे भोजन आवश्यक है और यह स्वाभाविक ही है कि रसना स्वादिष्ट अन्न चाहती है। अतः जिह्वातृप्ति के स्थान पर श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए कुछ स्वादु पदार्थ बनाए जा सकते हैं और श्रीकृष्ण को उन का अर्पण किया जा सकता है। तब यह वैराग्य हो जायगा। स्वादिष्ट पदार्थ बनायें, परन्तु श्रीकृष्ण को अर्पण किए बिना उन्हें खाना नहीं चाहिए। जो श्रीकृष्ण को अर्पित न हुए हों, उन पदार्थों को ग्रहण न करने का यह नियम वास्तव में वैराग्य है। साथ ही, इस वैराग्य के द्वारा इन्द्रियों के वेग को शान्त किया जा सकता है।

निर्विशेषवादी, जो सब प्राकृत वस्तुओं से बचना चाहते हैं, चाहे कितना भी तप-त्याग क्यों न करें, पर भगवत्सेवा करने का अवसर कभी नहीं पाते। अतः उनका वैराग्य संसिद्धि के लिए पर्याप्त नहीं है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ भक्ति से सम्बन्धरहित कृत्रिम वैराग्य का अभ्यास करते हुए निर्विशेषवादी फिर भवबन्धन में गिर गए हैं। वर्तमान काल में भी बहुत से नामधारी त्यागी हैं, जो संन्यास लेकर 'ब्रह्म सत्यं' का दम्भ करते हैं। इस प्रकार वे प्राकृत-जगत् को त्यागने का ढोंग तो करते हैं, परन्तु भक्ति के स्तर तक न पहुँचने के कारण लक्ष्य को नहीं पा सकते और परिणामतः परोपकार; राजनीनिक संघर्ष जैसी प्राकृत क्रियाओं में

ही लौट आते हैं। कितने ही तथाकथित संन्यासी हुए हैं जिन्होंने जगत् को असत्य कहकर त्यागा था पर फिर प्राकृत-जगत् में ही लौट आए, क्योंकि उन्हें अपने यथार्थ आश्रय भगवान् के चरणकमलों की अभिलाषा नहीं थी।

ऐसी किसी भी वस्तु को त्यागना ठीक नहीं, जो भगवान् की सेवा में लग सकती हो। यह भक्तिमार्ग का गूढ़ रहस्य है। कृष्णभावना और भक्ति में प्रगति के अनुकूल कोई भी वस्तु स्वीकार कर लेनी चाहिए। उदाहरणार्थ, अपने इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन को बढ़ाने के लिए हम वायुयान आदि नाना यन्त्रों और अनेक उपकरणों का उपयोग कर रहे हैं। कभी-कभी लोग पूछते हैं—"जब आप प्राकृत सभ्यता की निन्दा करते हैं तो फिर प्राकृत पदार्थों का उपयोग क्यों कर रहे हैं? पर वास्तव में हम निन्दा नहीं करते। हम तो केवल इतना कहते हैं कि लोग जो कुछ काम करें वह कृष्णभावनाभावित होकर करें। इसी सिद्धान्त के आधार पर भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को भक्ति के लिए अपने शौर्य का सदुपयोग करने का परामर्श दिया है। हम भी इन यन्त्रों को कृष्णसेवा में लगा रहे हैं। श्रीकृष्ण के लिए इस भाव के साथ, अर्थात् कृष्णभावना-भावित होकर हम कुछ भी ग्रहण कर सकते हैं। यदि टाईप आदि किसी यन्त्र का सदुपयोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन को बढ़ाने में किया जा सकता हो तो हमें ऐसा अवश्य करना चाहिए। हमारी दृष्टि में श्रीकृष्ण सर्वरूप हैं। श्रीकृष्ण ही वस्तुमात्र के निमित्त और उपादान हैं, हमारा अपना कुछ भी नहीं है। अतः श्रीकृष्ण की वस्तुएँ श्रीकृष्ण की सेवा में ही लगें, ऐसी हमारी दृष्टि है।

इसका यह अर्थ नहीं कि हम भक्ति के साधन को छोड़ बैठें अथवा तत्सम्बन्धी विधि-विधान का तिरस्कार करें। भक्ति की कनिष्ठ (प्रारम्भिक) दशा में गुरुप्रमाण द्वारा नियमित सब सिद्धान्तों का अनुसरण करना चाहिए। कौन सी वस्तु त्यागी जाय और कौन सी अपनायी जाय, यह भक्ति के सिद्धान्तों के अनुसार होना चाहिए; ऐसा नहीं कि स्वतन्त्र रूप से निर्णय करे कि क्या त्यागना है और क्या अपनाना है। अतः भक्त का मार्गदर्शन करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण के प्रतिनिधि और बाह्य प्रकाश के रूप में सद्गुरु का आश्रय आवश्यक है।

गुरु को चाहिए कि धनसंचय और बहुशिष्यों के प्रवाह में बह न जाय। सद्गुरु ऐसा कभी नहीं करता। परन्तु कभी-कभी यदि गुरु भली-भाँति अधिकृत नहीं हो, स्वेच्छा से गुरु बना हो तो वह धनराशि और

शिष्यों की बड़ी संख्या को लेकर गिर सकता है। उसकी भक्ति अधिक उत्तम नहीं समझी जाती। यदि कोई ऐसी सफलताओं से विचलित हो जाय तो उसकी भक्ति शिथिल हो जायगी। अतः परम्परा के सिद्धान्तों का दृढ़ता के साथ पालन करना चाहिए।

कृष्णभावनाभावित पुरुष स्वभावतः शुद्ध है, इसलिए उसे मन-वाणी की शुद्धि के किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं। कृष्णभावना की दिव्य भावभूमि में आरूढ़ हो जाने के कारण उसमें सभी दैवी गुण आ जाते हैं; वह योगपद्धति की विधि का स्वतः पालन करता है। भक्तों द्वारा इन सब नियमों का अनुसरण अनायास हो जाता है। एक प्रत्यक्ष उदाहरण अहिंसा है, जो एक दिव्य गुण माना जाता है। भक्त स्वभाव से अहिंसाप्रिय होता है, उसे अलग से अहिंसा का अभ्यास नही करना पड़ता। कुछ लोग शुद्धि के लिए शाकाहारी संघों में सम्मिलित होते हैं; पर भक्त तो स्वभाव से ही शाकाहारी बन जाता है। उसे इसका पृथक् अभ्यास अथवा किसी शाकाहारी संघ का सदस्य नहीं बनना पड़ता। वह स्वाभाविक रूप में शाकाहारी है।

अनेक अन्य प्रकार से सिद्ध है कि कृष्णभावना के अतिरिक्त भक्त को किसी भी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रहती। सब दैवी गुणों का उसमें स्वतः विकास हो जाता है। जो अभ्यास के रूप में शाकाहारी अथवा अहिंसा का आचरण करते हैं उनमें लौकिक दृष्टि से कुछ सद्गुण हो सकता है; परन्तु भक्त बनने के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है। यह आवश्यक नहीं कि शाकाहारी अथवा अहिंसाप्रिय व्यक्ति भक्त भी हो। परन्तु भक्त स्वाभाविक रूप से शाकाहारी भी होता है और अहिंसाप्रिय भी। अस्तु, शाकाहार और अहिंसा के अंग (कारण) नहीं हैं।

इस सन्दर्भ में स्कन्दपुराण में एक व्याध की कथा है जो नारद मुनि के उपदेश से महाभागवत बन गया। भक्त हो जाने पर वही व्याध किसी चींटि को भी नहीं मारता था। नारदजी के सखा पर्वत मुनि भक्ति से व्याध में इस आश्चर्यमय परिवर्तन को आया देखकर कहने लगे, "हे व्याध! तेरे लिए चींटी तक की हिंसा न करना आश्चर्य का विषय नहीं है क्योंकि जो भगवद्भक्ति में लीन हैं, उनमें सब दैवी सद्गुणों का वास रहता हैं; भक्त कभी किसी को कष्ट नहीं देता।"

श्रील रूप गोस्वामी पुष्टि करते हैं कि अन्तःकरण और क्रियाओं की पवित्रता, शम, दम, आदि सब सद्गुण भक्तिपरायण पुरुष में स्वतः प्रकट हो जाते हैं।

श्रील रूप गोस्वामी का आगे उल्लेख है कि भक्ति के नौ अंग हैं— श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन। ये साधन इतने शक्तिसम्पन्न हैं कि इनमें से एक भी साधन का आचरण करने से निश्चित रूप से अभीष्ट-सिद्धि होती है। जो भगवत्कथा के श्रवण में अनुरक्त है और जो नामकीर्तन करता है, वे दोनों ही भक्ति के अभीष्ट लक्ष्य को पाते हैं। चैतन्यचरितामृत में इसका विशद प्रतिपादन है। कोई एक साधन करे, दो, तीन अथवा सब-के-सब साधन अंगीकार करे, अन्त में वह स्पृहणीय भक्तियोग में निष्ठ हो जायगा।

भक्ति के उपरोक्त साधनों में से एक भी साधन करने से संसिद्धि को प्राप्त हुए भक्तों के बहुत से उदाहरण हैं। श्रीमद्भागवत के श्रवण-मात्र से महाराज परीक्षित को, श्रीमद्भागवत के कीर्तन से शुकदेव गोस्वामी को, निरन्तर भगवत्स्मरण करने से प्रह्लाद जी को, भगवान् के चरणकमलों के सेवन से लक्ष्मी जी को, मन्दिर में अर्चन करने से राजा पृथु को, वन्दन से अक्रूर को, भगवान् राम के दास्य से हनुमान् को, श्रीकृष्ण के सख्य से अर्जुन को और श्रीकृष्ण के चरणों में सर्वस्व अर्पण करने से बलि महाराज को जीवन के परम फल की प्राप्ति हुई।

ऐसे भी भक्त हुए हैं जिन्होंने भक्ति के सब साधनों का आचरण किया। श्रीमद्भागवत (९.४.१८-२०) में अम्बरीष महाराज की सर्वांग भक्ति का वर्णन है। शुकदेव जी कहते हैं, "राजा अम्बरीष ने सब से पहले अपने मन को श्रीकृष्ण के पादपद्मों में एकाग्र किया; फिर वाणी को श्रीकृष्ण के गुणों और लीला के वर्णन में, हाथों को मन्दिर का मार्जन करने में तथा कानों को भगवत्कथा के श्रवण में लगाया; मन्दिर में सुन्दर श्रीमूर्ति के दर्शन में नेत्रों को और शुद्धभक्तों का संग करने में शरीर को नियोजित किया (जब किसी का संग किया जाता है तो उसके साथ उठना-बैठना और खाना पड़ता है। इस प्रकार उसके साथ अपने शरीर का स्पर्श अपरिहार्य सा होता है। अम्बरीष महाराज केवल शुद्धभक्तों का संग करते थे, किसी अन्य को अपने शरीर का स्पर्श नहीं होने देते)। उन्होंने अपनी घ्राणेन्द्रिय को श्रीकृष्ण के चरणारविन्द में समर्पित पुष्प और तुलसी को सूंघने में और जिह्वा को कृष्णप्रसाद का आस्वादन करने में; सिर को वन्दन में और चरणों को हरितीर्थों की यात्रा में लगा रखा था। वे राजा थे, धन का अभाव न था, अतः श्रीकृष्ण को अतिशय उत्तम भोग निवेदित करते और फिर उनका प्रसाद ग्रहण करते थे। उनका एक सुन्दर-सा मन्दिर था, जिसमें भगवान् का बहुमूल्य वस्त्र, अलंकार आदि से मनोहारी श्रृंगार किया जाता और

नाना व्यंजनों का भोग लगता। इस प्रकार वे निरन्तर पूर्णरूपेण कृष्ण-भावना के परायण थे।'' इस सम्पूर्ण विवरण का भाव यह है कि हमें महा-भागवतों के चरणचिह्नों का अनुसरण करना चाहिए। यदि कोई भक्ति के सब साधनों को न कर सके तो कम से कम एक तो अवश्य ही करे, जैसे पूर्वाचार्यों के उदाहरण से प्रत्यक्ष है। यदि अम्बरीष महाराज के समान भक्ति के सब साधन किए जायें तो फिर इन सभी के द्वारा भक्तियोग की सिद्धि निश्चित है। पूर्ण रूप से भक्ति के परायण होते ही विषयों से निवृत्ति हो जाती है और मुक्ति भक्त की अनुचरी बन जाती है। बिल्व-मंगल ठाकुर इसके प्रमाण हैं। भगवान् में अनन्य भक्ति होने पर मुक्ति सेविका के समान भक्त के पीछे-पीछे चला करती है।

श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं कि वैधीभक्ति को आचार्यगण ऐश्वर्य (मर्यादा) का मार्ग भी कहते हैं।

अध्याय १५

रागानुगाभक्ति

रागानुगाभक्ति के उदाहरण वृन्दावन में श्रीकृष्ण के पार्षदों में सहज से दर्शनीय हैं। श्रीकृष्ण के साथ व्रजवासियों के रागात्मक (रागमय) स्वाभाविक व्यवहार को रागानुगा कहते हैं। उन्हें भक्ति सीखनी नहीं पड़ती, वे पहले ही विधि-विधान में पूर्ण हैं और रागमय भगवत्सेवा को प्राप्त कर चुके हैं। उदाहरणार्थ, श्रीकृष्ण के साथ क्रीड़ामग्न गोपबालकों को यह तप, त्याग अथवा योगाभ्यास के द्वारा नहीं सीखना पड़ता। पूर्वजन्मों में वे सब विधि-विधानों का पालन कर चुके हैं, इसलिए अब उन्हें साक्षात् श्रीकृष्ण का परम प्रिय सखारूप पार्षदपद प्राप्त हुआ है। इस स्वाभाविक आकर्षण का नाम ही रागानुगाभक्ति है।

श्रील रूप गोस्वामी के अनुसार इष्ट के चिन्तन में तन्मयता और राग की परम आविष्टा के साथ उसके प्रति जो स्वाभाविक आकर्षण होता है, उसे रागानुगाभक्ति कहते हैं। रागानुगाभक्ति—१. कामरूपा और २. सम्बन्धरूपा—दो प्रकार की होती है।

इस सन्दर्भ में नारदजी युधिष्ठिर से श्रीमद्भागवत (७.१.३०) में कहते हैं, "हे राजन् ! बहुत से भक्त पहले-पहल काम से, द्वेष से, भय से अथवा स्नेहवश भी भगवान् की ओर आकृष्ट हुआ करते हैं। परन्तु अन्त में उनका यह आकर्षण सम्पूर्ण पापों से शुद्ध हो जाता है और शनैः-शनैः भगवत्प्रेम को प्राप्त होकर आराधक जीवन के उस परमलक्ष्य को पा जाता है, जो शुद्धभक्तों द्वारा अभिलाषित है।

गोपीजन काममय राग और आकर्षण की प्रत्यक्ष मूर्ति हैं। गोपियाँ युवती हैं और श्रीकृष्ण नवकिशोर हैं। बाह्य दृष्टि से लगता है कि श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों का आकर्षण काम पर आधारित है। इसी प्रकार कंस भय से कृष्ण के प्रति आकृष्ट रहता था। श्रीकृष्ण के हाथों अपने मरण की भविष्यवाणी के कारण उसे सदा श्रीकृष्ण का भय बना रहता था।

शिशुपाल सदा श्रीकृष्ण के लिए द्वेषभाव से भरा रहा। तथा राजा यदु के वंशज कुलसम्बन्ध के कारण उन्हें अपना बान्धव समझते रहे। इन नाना प्रकार के भक्तों में नाना रूपों में श्रीकृष्ण के लिए सहज राग रहता है और उन्हें जीवन का वही अभिलाषित लक्ष्य प्राप्त होता है।

श्रीकृष्ण में गोपियों का काम और यदुवंशियों का स्नेह दोनों रागानुगा हैं। श्रीकृष्ण से कंस के भय और शिशुपाल के द्वेष को भक्ति में नहीं गिना जाता, क्योंकि उनका भाव अनुकूल नहीं है। भक्ति अनुकूलभाव से ही होती है। अत: श्रील रूप गोस्वामी के अनुसार भय आदि प्रतिकूल आकर्षण भक्ति के अंतर्गत नहीं आते। फिर वे यादवों के स्नेह की मीमांसा करते हैं। यदि वह सख्य के स्तर पर है तो रागानुगा है और यदि विधि के स्तर पर है तो रागानुगा भक्ति के अन्तर्गत नहीं आयगा। रागानुगा-भक्ति के स्तर पर ही सख्य को शुद्ध भक्ति की श्रेणी में गिना जाता है।

यह समझने में कुछ कठिनाई हो सकती है कि गोपियों और कंस दोनों को एक ही लक्ष्य की प्राप्ति हुई, क्योंकि कंस, शिशुपाल आदि का भाव गोपीजनों से भिन्न था। अत: इस बात का भलीभाँति विवेचना करना आवश्यक है। यद्यपि उपरोक्त सब उदाहरणों में केन्द्र श्रीकृष्ण ही हैं और अनुकूल-प्रतिकूल सब को वैकुण्ठ-जगत् की प्राप्ति होती है, फिर भी दोनों प्रकार के जीवों में भेद रहता है। श्रीमद्भागवत, प्रथम स्कन्ध में उल्लेख है कि परतत्त्व एक (अद्वय) है; वही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् इन तीन प्रकारों से प्रकट है। यहाँ अप्राकृत भेद है। यद्यपि ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् एक ही परतत्त्व हैं, पर कंस, शिशुपाल जैसे भक्तों को ब्रह्म-ज्योति की ही प्राप्ति हुई, वे परमात्मा अथवा भगवान् को प्राप्त नहीं कर सके। यही भेद है।

इस सन्दर्भ में सूर्यमण्डल और सूर्यज्योति की उपमा दी जा सकती है। सूर्यज्योति में रहने का यह अर्थ नहीं कि सूर्यमण्डल में भी प्रवेश हो गया है। सूर्यमण्डल का तो ताप भी सूर्यज्योति के बराबर नहीं होता। यदि किसी ने अन्तरिक्षयान से सूर्यज्योति में विचरण किया है तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह सूर्यमण्डल में भी हो आया है। सूर्यज्योति और सूर्य-मण्डल एकतत्त्व होने पर भी भिन्न हैं—एक शक्ति है तो दूसरा शक्तिमान् है। इसी प्रकार परतत्त्व श्रीकृष्ण और उनकी अंगकांति ब्रह्मज्योति में भी भेद-अभेद है। कंस और शिशुपाल को ब्रह्मप्राप्ति हुई, पर गोलोक वृन्दा-वन धाम में उनका प्रवेश नहीं हो सका। निर्विशेषवादियों और भगवान् के द्वेषियों का भगवान् में एक प्रकार का आकर्षण होता है; इस कारण

उन्हें भगवान् के राज्य में तो प्रवेश करने दिया जाता है; परन्तु श्रीभगवान् के वैकुण्ठ धामों अथवा गोलोक-वृन्दावन धाम में नहीं। राज्य में प्रवेश करना और राजमहल में जाना एक वस्तु नहीं है।

यहाँ श्रील रूप गोस्वामी निर्विशेषवादियों और भक्तों की भिन्न-भिन्न गति का वर्णन करने का प्रयास कर रहे हैं। सामान्यत: निर्विशेष-वादी और भगवान् से द्वेष करने वाले जब कभी यदि अपनी आध्यात्मिक सिद्धि तक पहुँचते हैं, तो केवल निर्विशेष ब्रह्मज्योति में ही प्रवेश कर सकते हैं। निर्विशेष दार्शनिक इस दृष्टि से भगवान् के शत्रुओं की श्रेणी में हैं कि दोनों को केवल ब्रह्मज्योति में प्रवेश करने दिया जाता है। वास्तव में भी निर्विशेषवादी भगवान् के शत्रु ही हैं, क्योंकि वे भगवान् के अतुलनीय ऐश्वर्य को सहन नहीं कर सकते। वे सदा अपने को श्रीभगवान् के समान कहते हैं। यह उनके द्वेषभाव का ही परिणाम है। इसीलिए भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु ने निर्विशेषवादियों को भगवत्-अपराधी घोषित किया है। परन्तु भगवान् इतने अतिशय दयामय हैं कि अपने शत्रुओं को भी परव्योम में प्रवेश करके निर्विशेष ब्रह्मज्योति में रहने देते हैं।

कभी-कभी कोई निर्विशेषवादी शनैः-शनैः प्रगति करता हुआ भगवान् की सविशेष धारणा में स्थित हो जाता है। भगवद्गीता में इसका प्रमाण है, "बहुत जन्म-जन्मान्तरों के बाद यथार्थ ज्ञानी मेरी शरण लेता है।" इस शरणागति से निर्विशेषवादी वैकुण्ठधाम को प्राप्त हो सकता है, जहाँ शरणागत जीव के रूप में उसे भगवान् का सारूप्य मिलता है।

'ब्रह्माण्डपुराण' में लिखा है, "ब्रह्म में लीन सिद्ध और भगवान् के हाथों मरे दैत्य ब्रह्मलीन होकर ब्रह्मज्योति में निवास करते हैं।" भगवद्गीता में भी प्रमाण है कि वह सनातन सिद्धलोक प्राकृत-जगत् से अति परे है। भगवान् के शत्रुओं और निर्विशेषवादियों का केवल ब्रह्मज्योति में प्रवेश हो सकता है, परन्तु कृष्णभक्त सीधे वैकुण्ठधामों में प्रविष्ट हो जाते हैं। शुद्धभक्तों में भगवान् की रागानुगाभक्ति रहती है, इसलिए भगवान् के सान्निध्य में दिव्यआनन्दरस का आस्वादन करने के लिए दिव्य धामों में उन्हें प्रवेश मिलता है।

श्रीमद्भागवत (१०.८७.२३) में श्रीभगवान् का स्तवन करते हुए मूर्तिमान् वेद कहते हैं, "हे नाथ! योगीगण आपकी एकदेशीय विभूतियों का ध्यान करके निर्विशेष ब्रह्मज्योति में लीन हो जाते हैं। आपके रिपु भी ध्यान किए बिना इस सिद्धि को पाते हैं। कामवती व्रजगोपियों ने आपकी

सर्प जैसी भुजाओं के आलिंगन से यही गति पाई है। वैदिक ज्ञान के विविध अंगों के अधिपति हम देवता निरन्तर व्रजगोपियों के ही अनुगामी हैं। अतः इसमें सन्देह नहीं कि उन्हीं की गति को प्राप्त होंगे।" इस सन्दर्भ में हमें सूर्य एवं सूर्यज्योति का उदाहरण स्मरण रखना चाहिए। निर्विशेषवादी ब्रह्मज्योति में लीन होते हैं, जबकि भगवत्प्रेमीजन भगवान् के परमधाम गोलोक वृन्दावन में प्रवेश करते हैं।

गोपियों के 'कामभाव' का किसी प्रकार के मैथुन से कोई सम्बन्ध नहीं है। श्रील रूप गोस्वामी स्पष्ट करते हैं कि इस 'कामभाव' का अभिप्राय श्रीकृष्ण के संग में भक्त का भाव-विशेष ही है। सिद्धावस्था में प्रत्येक भक्त में श्रीकृष्ण के प्रति रागमय आकर्षण रहता है। इसी आकर्षण को कदाचित् भक्त का 'कामभाव' कह दिया जाता है। वस्तुतः भक्त में किसी विशेष रूप में भगवान् की सेवा करने की गाढ़ तृष्णा ही कामरूपाभक्ति है। ऐसे काम से भगवान् को भोगने की इच्छा प्रतीत हो सकता है, परन्तु वास्तव में तो उस रूप में श्रीकृष्ण के सुख के लिए ही यत्न किया जाता है। जैसे कोई भक्त भगवान् से ग्वालसखा के रूप में संग करना चाहे। उसकी इस अभिलाषा के मूल में गो चारण में श्रीकृष्ण की साहाय्य करने की उत्कण्ठा है। यह भगवान् के संग को भोगने की कामना लग सकती है, पर वास्तव में तो यह रागानुगाभक्ति है—दिव्य गोधन के चारण में उनकी सेवा की लालसा।

कामरूपा

भगवान् के सेवन की यह तृष्णा दिव्य व्रजधाम में प्रकट है तथा गोपियों में अतिशय प्रसिद्ध रूप में विराजित है। गोपीप्रेम इतना अनिर्वचनीय एवं हमारे मन-वाणी से अतीत है कि इसी कारण उसे कभी-कभी 'काम' कह दिया जाता है।

श्री चैतन्यचरितामृत के रचयिता कृष्णदास कविराज गोस्वामी ने कामविकार और प्रेममय सेवाभाव के भेद को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है, "काम का अर्थ अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने की इच्छा है, जबकि प्रेम का तात्पर्य है भगवान् की इन्द्रियों को तृप्त करने की अनन्य अभिलाषा।" प्राकृत-जगत् में ऐसा कोई प्रेमी नहीं है जो अपने प्रियतम की इन्द्रियों का सुखविधान करने को आतुर हो; सब अपनी ही इन्द्रियों की तृप्ति चाहते हैं। परन्तु गोपीजन श्रीकृष्ण की इन्द्रियतृप्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहतीं। ऐसा कोई उदाहरण प्राकृत-जगत् में नहीं है। इसीलिए श्रीकृष्ण

के लिए गोपियों के भावमय प्रेम को कभी-कभी विद्वानों द्वारा प्राकृत-जगत् के काम जैसा कह दिया जाता है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। यह तो अनिर्वचनीय स्थिति को समझाने की एक भंगी मात्र है।

उद्धव जैसे महाभागवत भगवान् श्रीकृष्ण के प्राणप्रिय हैं। वे भी गोपियों की अनुगति को लालायित रहते हैं। अतः गोपियों का कृष्णप्रेम प्राकृत काम कदापि नहीं हो सकता। अन्यथा उद्धव जी उनके चरणचिह्नों का अनुगमन करना क्यों चाहते ? स्वयं श्रीचैतन्य महाप्रभु इसके अन्यतम-धन्यतम उदाहरण हैं। संन्यास आश्रम ग्रहण करने के बाद वे स्त्रीसंग-त्याग के सम्बन्ध में बड़े ही कठोर थे। फिर भी उन्होंने सिखाया है कि गोपियों द्वारा प्रवर्तित मार्ग श्रीकृष्ण की आराधना का सर्वोत्तम पथ है। इस प्रकार कामप्रेरित दीखने वाली गोपियों के श्रीकृष्ण-आराधना के मार्ग की श्रीचैतन्य महाप्रभु ने बड़ी महिमा गायी है। इस सत्य से स्पष्ट है कि यद्यपि श्रीकृष्ण में गोपियों का आकर्षण कामप्रेरित प्रतीत होता है, परन्तु वह प्राकृत बिलकुल नहीं है। पूर्ण रूप से शुद्धसत्त्व में स्थित हुए बिना तो श्रीकृष्ण से गोपीजनों के दिव्य सम्बन्ध को जाना भी नहीं जा सकता। परन्तु सामान्य युवक-युवतियों का कामक्रीड़ा में लगने के कारण उसे कभी-कभी मिथ्या रूप से प्राकृत-जगत् का काम समझ लिया जाता है। दुर्भाग्य-वश, जो गोपीजनों और श्रीकृष्ण के प्रेममय सम्बन्ध के दिव्य स्वरूप को समझने में असमर्थ हैं, वे लोग यह पूर्वाग्रह कर बैठते हैं कि श्रीकृष्ण और गोपियों का प्रेमविनिमय प्राकृत क्रिया है। इसीलिए वे आधुनिक कला में उसपर मनमाने चित्र बनाने का दुस्साहस भी कर बैठते हैं।

दूसरी ओर, कुब्जा की रति को विद्वानों ने 'कामप्राया' कहा है। कुब्जा, अर्थात् कुबड़ी को भी श्रीकृष्ण की प्रगाढ़ तृष्णा थी। परन्तु श्रीकृष्ण के लिए उसकी अभिलाषा प्रायः प्राकृत ही थी, अतएव उसकी रति की गोपीप्रेम से तुलना नहीं हो सकती। इसीलिए श्रीकृष्ण में उसकी रति को 'कामप्राया', अर्थात् 'गोपीप्रेम जैसी' कहा गया है।

अध्याय १६

रागानुगाभक्ति (२)

सम्बन्धरूपा

नन्दमहाराज और यशोदा मैया आदि वृन्दावनवासियों में आदिपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण के पितृत्व-मातृत्व के अभिमान का दिव्य भाव पाया जाता है। वास्तव में कोई भी श्रीकृष्ण का माता-पिता नहीं बन सकता; परन्तु भक्त से इस भाव का आश्रय वात्सल्यप्रेममय कृष्णप्रेम कहा जाता है। द्वारका में श्रीकृष्ण के बान्धव वृष्णिवंशी भी इसी भाव से भावित रहते हैं। अतएव वात्सल्यरति में श्रीकृष्ण की भक्ति व्रजवासियों और द्वारिकावासी वृष्णियों, दोनों में पायी जाती है।

वृष्णियों और व्रजवासियों में प्रकट रागानुगाभक्ति उन-उन आश्रयों में नित्यसिद्ध है। साधनभक्ति के सम्बन्ध में इस रागानुगाप्रेम के वर्णन का प्रयोजन नहीं है, क्योंकि अधिक उन्नत अवस्था में यह स्वयं प्रकट होगा।

रागानुगा भक्ति के पात्र

वृष्णियों और व्रजवासी आदि नित्यसिद्ध भगवद्भक्तों की अनुगति के लोभी पुरुष रागानुगा भक्त कहलाते हैं, अर्थात् वे उन-उन भक्तों की संसिद्धि को प्राप्त करने के लिए यत्नशील हैं। ये रागानुग भक्त भक्ति के विधि-विधान का दृढ़ता से अनुसरण नहीं करते; वरन् सहज स्वभाव से ही नन्द, यशोदा आदि नित्य भक्तों के भाव के लोभी हो जाते हैं और फिर स्वतः ही उनकी अनुगति करने लगते हैं। किसी भक्त-विशेष के भाव की प्राप्ति का यह लोभ शनैः-शनैः बढ़ता जाता है। इसी क्रिया का नाम 'रागानुगा' है।

यह सदा स्मरणीय है कि व्रजवासियों की अनुगति की यह लालसा तब तक सम्भव नहीं जब तक भवदोषों की निवृत्ति नहीं हो जाती। विधि-भक्ति के आचरण में एक अनर्थ-निवृत्ति नामक अवस्था आती है, जब सारे प्राकृत अनर्थ दूर हो जाते हैं। कदाचित् देखने में आता है कि अनर्थों

से मुक्त न होते हुए भी कोई इस रागानुगाभक्ति का दम्भ करता है। ऐसा नामधारी भक्त अपने को नन्द, यशोदा अथवा गोपियों का अनुग बताता है; पर साथ ही उसमें मैथुन के लिए निन्दनीय आकर्षण भी दृष्टिगोचर होता है। दिव्य प्रेम की ऐसी अभिव्यक्ति तुच्छ कपटमात्र है। जिसमें गोपीप्रेम के प्रति यथार्थ राग है, उनके चरित्र में किसी प्राकृत दोष की गन्ध भी शेष नहीं रह सकती।

अतः प्रारम्भ में सब को शास्त्र और गुरु के आज्ञानुसार विधिभक्ति का दृढ़ता से पालन करना चाहिए। प्राकृत विकारों से मुक्ति के अनन्तर ही व्रजवासियों की अनुगति की यथार्थ लालसा का उदय हो सकता है।

श्रील रूप गोस्वामी का वाक्य है, "जब साधक यथार्थ में भवबन्धन से मुक्त हो जाता है, तब वह श्रीकृष्ण के किसी व्रजवासी नित्यभक्त का सदा स्मरण कर सकता है, जिससे वह भी उसी रूप में श्रीकृष्ण से प्रेम कर सके। इस भाव के उद्भावित होने पर वह मन द्वारा सदा व्रजवास करता है।" भाव यह है कि यदि सम्भव हो तो शरीर से ही व्रजवास करता हुआ वृन्दावन के भक्तों की अनुगति में निरन्तर भगवत्सेवा के परायण रहे। यदि शरीर से वृन्दावन में न रह सके तो कहीं भी रहते हुए वृन्दावन में रहने का ध्यान किया जा सकता है। जहाँ भी रहना हो, सदा व्रजधाम के जीवन और भगवत्सेवा में किसी भक्त-विशेष की अनुगति का चिन्तन करना चाहिए।

जो वास्तव में कृष्णभावना में उन्नति कर चुका है और निरन्तर भक्ति में तत्पर रहता है, उस भक्त को पूर्णतः सिद्ध हो जाने पर भी अपने को प्रकट नहीं करना चाहिए। भाव यह है कि जब तक प्राकृत देह है, वह निरन्तर कनिष्ठ साधन के अनुसार ही साधन करता रहे। शुद्धभक्त को भी विधि भक्ति का आचरण करते रहना चाहिए। परन्तु जब श्रीभगवान् के सम्बन्ध में अपने यथार्थ स्वरूप की अनुभूति हो जाती है, तब विधिभक्ति के साथ ही किसी भगवद्भक्त-विशेष के मार्गदर्शन में वह अपने अन्तर में भगवान् का चिन्तन करता हुआ उसी भक्त की अनुगति में अपने दिव्य भाव को विकसित कर सकता है।

इस सन्दर्भ में तथाकथित 'सिद्धिप्रणय' से सावधान रहना चाहिए। 'सिद्धिप्रणय' के पथ का अनुगमन एक प्रकार के अप्रामाणिक लोग करते हैं, जिन्होंने भक्ति का अपना ही मार्ग कल्पित कर रखा है। उनकी कल्पना है कि अपने को भगवान् का पार्षद समझने मात्र से उन्होंने यह पद प्राप्त कर लिया है। यह बाहरी आचरण विधि-विधान के बिल्कुल प्रतिकूल है।

इस 'सिद्धिप्रणय' नामक पद्धति का आचरण प्राकृत सहजिया नामक तथाकथित वैष्णवों का कपट-संप्रदाय करता है । श्रील रूप गोस्वामी के अनुसार ऐसी क्रियायें आदर्श भक्ति के मार्ग में उत्पातकारी ही सिद्ध होती हैं ।

श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं कि सभी मनीषी आचार्यों के मत में रागानुगा कृष्णभक्ति का उदय होने पर भी विधि-विधान का पालन करना चाहिए । जैसा पूर्ववर्णन है, विधिभक्ति के नौ अंग हैं; इनमें भी उस साधन का आचरण विशेष रूप से करना चाहिए जिसमें अपनी स्वाभाविक रुचि हो । किसी की श्रवण में विशेष रुचि होती है तो किसी की जप अथवा मूर्ति-अर्चन में । अतः श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, वन्दन, अर्चन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन आदि भक्ति के किसी भी अंग का पूर्ण निष्ठा के साथ पालन करना चाहिए । इस प्रकार सब अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भक्ति का साधन करें ।

माधुर्यरति

वृन्दावन धाम की गोपियों अथवा द्वारका की महिषियों की अनुगति करने वाली भक्ति को माधुर्यरति कहते हैं।" इसके दो वर्ग हैं, एक अप्रत्यक्ष माधुर्यरति और दूसरा प्रत्यक्ष माधुर्यरति । इन दोनों ही प्रकारों में गोलोक-वृन्दावन में उस-उस सेवा में लगी हुई उस-उस गोपीविशेष की अनुगति करनी होती है । माधुर्य में श्री श्रीभगवान् से सीधी रति को 'केलि' कहा जाता है । केलि का अर्थ साक्षात् भगवान् की सेवा में लग जाना है । ऐसे अन्य भक्त भी हैं जो पुरुषोत्तम से सीधा संपर्क तो नहीं चाहते, पर गोपियों के साथ उनके माधुर्यप्रेम सम्बन्ध का आस्वादन करते हैं । इस श्रेणी के भक्त गोपीजनों और श्रीकृष्ण की लीलाकथा के श्रवण में ही रमण करते हैं ।

इस माधुर्य का उदय उसी में हो सकता है, जो विधि-भक्ति का आचरण कर रहा हो, विशेषतः जो मन्दिर में राधाकृष्ण की अर्चना में संलग्न हो । इन भक्तों में शनैः-शनैः मूर्ति में रागानुगाभक्ति का विकास होता है; फिर गोपियों और भगवान् के प्रेमरस-विनिमय की कथा सुनकर वे इन लीलाओं में अनुरक्त हो जाते हैं । इस रागानुगा आकर्षण का उच्च कोटि तक विकास होने पर भक्त उपरोक्त दोनों श्रेणियों में से एक में स्थान पाता है ।

माधुर्यरति का प्रकाश केवल स्त्रियों में ही नहीं होता । दिव्य प्रेमलीला का प्राकृत देह से कोई सम्बन्ध नहीं है । स्त्री में श्रीकृष्ण के सखाभाव का और पुरुष में वृन्दावन में श्रीकृष्ण की सखी गोपी बनने के भाव का

उदय हो सकता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण पद्मपुराण में है—"पूर्वकाल में दण्डकारण्य के निवासी सारे ऋषि-मुनि भगवान् श्रीराम की रूपमाधुरी को देखकर इतने लुब्ध हो गए कि स्त्रीरूप में उनका आलिंगन करने की इच्छा करने लगे। कालान्तर में गोलोक वृन्दावन में श्रीकृष्ण का अवतरण होने पर ये ऋषिगण भी गोपियों के रूप में वहाँ उत्पन्न हुए। इस प्रकार भगवान् को प्राप्त होकर उनका जीवन सिद्ध हो गया।"

दण्डकारण्य के ऋषियों की कथा इस प्रकार है। जब भगवान् रामचन्द्र जी दण्डकारण्य में विराज रहे थे तो वहाँ भक्तियोग में लगे हुए तपस्वी मुनिजन उनकी रूपमाधुरी पर मुग्ध होकर श्रीकृष्ण के साथ माधुर्य-प्रेमलीला का आस्वादन करने वाली गोपियों के चिन्तन में मग्न हो गये। यहाँ स्पष्ट है कि यह जानते हुए भी कि श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्ण एक ही परमेश्वर हैं, उन्होंने गोपियों की ही माधुर्यरति की इच्छा की। उन्हें ज्ञात था कि रामचन्द्र आदर्श राजा होने के कारण एक से अधिक पत्नी अंगीकार नहीं कर सकते; परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावन में उन सब की अभिलाषा पूर्ण कर सकते हैं। उन ऋषियों ने यह भी निर्णय किया कि कृष्णरूप श्रीराम के रूप से अधिक मधुरिमामय (आकर्षक) है। अतः उन्होंने भावी जन्म में गोपी बनकर श्रीकृष्ण का संग पाने के लिए प्रार्थना की। भगवान् राम ने उनके इस निवेदन को मौन सम्मति प्रदान की थी। श्रीराम के इस वर के फलस्वरूप अगले जन्म में वे भगवान् श्रीकृष्ण का संग करने के हेतु गोकुल की गोपियों के गर्भ से स्त्रीरूप में जन्मे और अपनी पूर्व अभिलाषा के अनुसार गोकुल वृन्दावन में विराजमान भगवान् श्रीकृष्ण के संग का आस्वादन किया। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण के साथ माधुर्य-प्रेम के विनिमय की दिव्य भावना को उद्भावित करके उन्होंने अपने मानव जीवन को कृतार्थ कर लिया।

माधुर्यरति के दो भेद हैं--पति-पत्नी का स्वकीया प्रेम और प्रियतम में होने वाला परकीया प्रेम। जिसमें श्रीकृष्ण का स्वकीया प्रेम का उदय होता, वह भक्त द्वारका में उनकी महिषी बनता है। श्रीकृष्ण से परकीया प्रेम वाले गोलोक-वृन्दावन में प्रविष्ट होकर गोपियों के साथ श्रीकृष्ण से प्रेमरस का विनिमय-आस्वादन करते हैं। यह ध्यान रहे कि गोपी अथवा महिषी के रूप में भी यह कृष्णप्रेम स्त्रियों तक ही सीमित नहीं है। पुरुष भी इस भाव का सेवन कर सकते हैं, जैसे दण्डक वन के ऋषियों ने किया था। यदि कोई माधुर्यप्रेम तो चाहता है पर गोपियों के चरणचिह्नों की अनुगति नहीं करता, तो वह द्वारका में श्रीकृष्ण का महिषी-पद पाता है।

'महाकूर्मपुराण' में उल्लेख है, "अग्निपुत्र महात्माओं ने श्रीकृष्ण के माधुर्यप्रेम की प्राप्ति के लिए बड़ी दृढ़ता से विधिभक्ति का आचरण किया। परिणामतः पुनर्जन्म में वे सम्पूर्ण सृष्टि के कारण वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण का संग कर सके। उनमें से प्रत्येक को पतिरूप में श्रीकृष्ण की प्राप्ति हुई।"

वात्सल्य और सख्य

अपने को माता-पिता अथवा सखा मान कर श्रीकृष्ण के प्रति आकृष्ट हुए भक्तों को क्रमशः नन्दमहाराज और सुबल आदि का अनुसरण करना चाहिए। नन्दमहाराज श्रीकृष्ण के पिता हैं और व्रजभूमि में श्रीकृष्ण के सारे सखाओं में सुबल सबसे अंतरंग हैं।

वात्सल्य अथवा सख्य के विकास के दो प्रकार हैं। एक विधि तो स्वयं श्रीकृष्ण का पिता बन जाने की चेष्टा करना है और दूसरी विधि नन्दमहाराज की अनुगति करते हुए श्रीकृष्ण के पितृत्व की कामना रखना है। इनमें स्वयं श्रीकृष्ण का पिता बनने का प्रयास निषिद्ध है। यह विधि वास्तव में मायावाद से दूषित है। मायावादी समझते हैं कि वे स्वयं कृष्ण हैं। इसी प्रकार यदि कोई यह समझे कि वह स्वयं नन्दमहाराज बन गया है तो उसका वात्सल्यप्रेम मायावाद से कलंकित हो जायगा। मायावाद की विधि से मनन करना अपराध माना गया है और कोई भी अपराधी वैकुण्ठ जगत् में जाकर श्रीकृष्ण का संग नहीं कर सकता।

'स्कन्दपुराण' में पाण्डवों की राजधानी हस्तिनापुर के एक वृद्ध निवासी की कथा है, जो श्रीकृष्ण को अपने प्रिय बालक के रूप में चाहता था। नारदजी ने उसे नन्दमहाराज की अनुगति का उपदेश किया और इस प्रकार वह परम सिद्ध हो गया।

नारायणव्यूहस्तव में कहा गया है कि जो नित्य-निरन्तर पति, पुत्र, सुहृद, मित्र, पिता के रूप में भगवान् का चिन्तन करते हैं, वे सदा सब के आराध्य हैं। इस रागानुगा कृष्णभक्ति का उदय केवल श्रीकृष्ण अथवा उनके शुद्धभक्त की कृपा से ही हो सकता है। इसे पुष्टिमार्ग भी कहते हैं (पुष्टि अर्थात् वर्धन)। भावों का इस प्रकार का विकास भक्ति को सर्वोच्च स्तर तक बढ़ाता है। इसीलिए इसकी 'पुष्टिमार्ग' संज्ञा है। विष्णु स्वामी वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत वल्लभ सम्प्रदाय इसी पुष्टिमार्ग से श्रीकृष्ण की उपासना करता है। गुजरात के भक्तों में प्रायः पुष्टिमार्ग से बालकृष्ण की उपासना प्रचलित है।

अध्याय १७

भाव

विधिभक्ति करने पर अपरा प्रकृति से परे शुद्ध सत्त्वमयी अवस्था की प्राप्ति होती है। उस समय हृदय सूर्य के समान आलोकित हो उठता है। आकाशगामी सूर्य ग्रहों से अति परे है और किसी भी मेघ द्वारा आच्छन्न नहीं हो सकता। इसी भाँति, सूर्य के समान शुद्धभक्त के अमलधवल हृदय से सूर्यज्योति से भी विशेष उज्ज्वल भावराशि विकीर्णित हो उठती है। उसी अवस्था में श्रीकृष्ण में आसक्ति पूर्णता को प्राप्त होती है। भाव से भावित हुआ भक्त स्वाभाविक रूप से भगवत्सेवा के लिए उत्कण्ठित हो उठता है और भक्ति का उत्तम अधिकारी हो जाता है। ऐसे भक्त में विषयासक्ति का कोई उद्वेग नहीं रहता, बस राधाकृष्ण के पादपद्मों की सेवा में रुचि रहती है।

स्पष्टीकरण के लिए पूर्व अध्यायों में भक्ति के लक्षणों का वर्णन किया गया है। साथ में, यह भी बताया गया है कि अपनी वर्तमान इन्द्रियों के द्वारा भक्ति के साधनों का आचरण किस प्रकार किया जा सकता है, जिससे शनैः-शनैः रागानुगाभक्ति हो जाय। विधिभक्ति एवं रागानुगा-भक्ति का विवेचन भी हुआ। विधिभक्ति में दो अवान्तर भेद हैं, साधन-भक्ति और सिद्धभक्ति। सिद्ध विधिभक्ति का ही नाम 'भाव' है। इस सन्दर्भ में तन्त्रों में उल्लेख है कि भाव शुद्ध भगवत्प्रेम की प्रथम अवस्था है; उसमें रोमांच, अश्रु, आदि सात्त्विक विकार स्वल्प मात्रा में कभी-कभी प्रकट होते हैं। जब महाराज अम्बरीष को दुर्वासा ने संकट में डाल दिया तो वे भगवान् के चरणकमलों का बार-बार ध्यान करने लगे। इसी अवस्था में उनके शरीर में कतिपय विकार प्रकट हो गए और नेत्रों से अश्रुधारा झरने लगी। ये लक्षण भाव के कार्य हैं। रोमांच, अश्रुमोचन आदि के रूप में ये प्रकट होते हैं। कुछ काल तक बाह्य रूप में प्रकट रहकर ये लक्षण चित्तवृत्ति में ही आविर्भूत रहते हैं। भाव के इस अविच्छिन्न

प्रवाह का नाम समाधि है। आस्वाद की यह अवस्था श्रीकृष्ण के साथ प्रेम की आदान-प्रदानरूप भावी क्रीड़ा की हेतु होती है।

भाव की प्राप्ति के दो साधन हैं। एक तो निरन्तर शुद्धभक्तों का संग करना है और दूसरा साधन अतिधन्य व्यक्तियों पर होने वाली श्रीकृष्ण अथवा श्रीकृष्ण के शुद्धभक्तों की विशेष कृपा है। भाव की उपलब्धि प्रायः शुद्धभक्तों के संग से ही होती है; श्रीकृष्ण अथवा उनके शुद्ध-भक्तों के विशेष अनुग्रह से उसकी प्राप्ति होना तो बड़ा ही दुर्लभ है। तात्पर्य यह है कि भक्तों के सत्संग में बड़ी दृढ़ता से विधिभक्ति करनी चाहिए, जिससे भाव की प्राप्ति बिल्कुल निश्चित हो जाय। यह अवश्य है कि विशेष अवसरों पर श्रीकृष्ण की असाधारण कृपा होती है। हमें सदा उसकी आशा तो करनी चाहिए, पर श्रीकृष्ण के विशेष अनुग्रह की प्रतीक्षा में हाथ पर हाथ धर कर निष्क्रिय नहीं बैठना चाहिए। विधि के कर्तव्यों का पालन अवश्य करता रहे। यह वैसा ही है जैसे कभी-कभी देखा जाता है कि जिसने कभी विद्यालय का दर्शन नहीं किया, उस को भी महापण्डित मान लिया जाता है अथवा विश्वविद्यालयों की सम्मानार्थ उपाधियों से विभूषित किया जाता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि जानबूझ कर विद्यालय न जाय और यह आशा करे कि किसी विश्वविद्यालय से स्वतः डिग्री मिल जायगी। इस न्याय से विधिभक्ति का पूरी निष्ठा के साथ आचरण करना चाहिए; परन्तु साथ ही, श्रीकृष्ण अथवा उनके भक्त की कृपा के लिए उत्कण्ठित रहे।

विधिभक्ति से भावप्राप्ति का एक अन्यतम उदाहरण नारदजी की वह कथा है, जिसका वर्णन व्यासदेव ने श्रीमद्भागवत में किया है। वहाँ नारदजी ने स्वयं अपने पूर्वजन्म और भावप्राप्ति की कथा सुनाई है। वे महाभागवतों की सेवा करते और उनके वार्तालाप और कीर्तन को सुनते। इस प्रकार शुद्धभक्तों के मुखारविन्द से श्रीकृष्ण की लीलाकथा और कीर्तन को सुनने का अवसर मिलने के कारण उनका हृदय इस भक्ति पर मुग्ध हो गया। वे भगवत्कथा का श्रवण करने में अतिशय रुचि लेने लगे और इस प्रकार शनैः-शनैः उनमें कृष्ण के लिए भाव उद्बुद्ध हो गया। यह भाव शुद्ध कृष्णप्रेम से पहले होता है, क्योंकि अगले ही श्लोक में नारदजी कहते हैं कि ऋषियों से श्रवण करने की क्रमिक पद्धति के द्वारा उनमें भगवत्प्रेम उदित हुआ। श्रीमद्भागवत (१.५.२८) में नारदजी कहते हैं, "वर्षाऋतु के दिन मैंने उन महात्माओं के साथ व्यतीत किए। प्रतिदिन प्रातः और संध्या को उनका हरेकृष्ण कीर्तन सुनते-सुनते शनैः-शनैः मेरा हृदय शुद्ध

हो गया। ध्यान से श्रवण करने पर रजोगुण और तमोगुण का प्रभाव जाता रहा और मैं भगवद्भक्ति में निष्ठ हो गया।''

यह प्रत्यक्ष उदाहरण है कि शुद्धभक्तों का संग करने मात्र से भाव अवस्था प्राप्त हो सकती है। अतः यह आवश्यक है कि निरन्तर प्रातः-सायं हरेकृष्ण कीर्तन करने वाले शुद्धभक्तों का सदा संग करे। इससे हृदय की शुद्धि होकर कृष्णप्रेम का भाव उत्पन्न हो जायगा।

इस वाक्य की पुष्टि श्रीमद्भागवत(३.२५.२५) में भी है। भगवान् कपिल कहते हैं "हे जननि! शुद्धभक्तों के संग में मेरी भक्ति की दिव्य शक्ति की अनुभूति होती है।'' अर्थात्, जब कोई शुद्धभक्त बोलता है तो उसके वाक्य श्रोताओं के हृदय पर शाश्वत् प्रभाव छोड़ जाते हैं। यही श्रवण-कीर्तन का रहस्य है। एक व्यावसायिक कथावाचक सुननेवालों के हृदय में दिव्य भाव नहीं जगा सकता; परन्तु जब भगवत्सेवानिष्ठ आत्मज्ञानी पुरुष बोलता है तो उसमें ऐसी शक्ति होती है कि श्रोताओं में भक्तिभाव का संचार कर देता है। अतः ऐसे अनन्य शुद्ध भक्तों का ही सत्संग करना चाहिए। इन पुरुषों के संग और सेवन से कनिष्ठ भक्त अवश्य भगवान् में श्रद्धा, रति और भक्ति को प्राप्त कर सकेगा।

'पद्मपुराण' में एक कनिष्ठ भक्त की कथा है, जिसने भाव अवस्था के लिए भगवत्कृपा पाने हेतु सारी रात्रि नृत्य में बिता दी।

कदाचित् देखा जाता है कि भक्ति की किसी भी पद्धति का आचरण किए बिना सहसा ही भाव का उदय हो जाता है। इसका कारण भी श्रीकृष्ण अथवा उनके भक्त की विशेष कृपा होती है। श्रीकृष्ण की कृपा से सहसा फूटे भाव के तीन भेद हैं—वाचिक प्रसादज, आलोक दानज तथा हार्दिक।

'नारदीयपुराण' में वाचिक प्रसादज भाव का वर्णन है। भगवान् श्रीकृष्ण नारदजी से कहते हैं, "हे विप्रवर! सर्वमंगलमयी एवं पूर्णानन्द से ओतप्रोत मेरी अनन्य भक्ति तुम्हें प्राप्त हो।''

'स्कन्दपुराण' में आलोक दानजनित भाव का विवरण है, "श्रीकृष्ण के अपूर्व रूप को देखकर जंगलवासी इतने अतिशय भावविभोर हो गए कि उन पर से अपनी दृष्टि नहीं हटा सके।''

हार्दिक प्रसाद के सम्बन्ध में 'शुकसंहिता' में नारदजी श्रील व्यासदेव से कहते हैं, "आपके महाभागवत पुत्र (शुकदेव) उत्पन्न हुआ है, उसे बिना किसी उपाय के वह भगवत्प्रसादजनित भक्ति मिली हुई है, जो अनेक जन्मान्तरों में भी दुर्लभ रहती है।''

श्रीकृष्णभाव के सम्वन्ध में श्रीमद्भागवत (७.४.३६) में नारदजी युधिष्ठिर महाराज से कहते हैं, "हे राजन्! प्रह्लादजी के चरित्र का बखान करना बड़ा कठिन है; श्रीकृष्ण में उनकी नैसर्गिकी रति थी; इस लिए मैं उनका जो कुछ भी वर्णन करूँगा, वह केवल शब्दों का प्रपंच होगा। उनका वास्तविक चरित्र तो सर्वथा अनिर्वचनीय है।" स्वयं नारद जी ने स्वीकार किया कि प्रह्लाद में स्वाभाविक भाव का उदय श्रीकृष्ण का प्रसाद था।

श्रीकृष्ण में प्रह्लाद की इस स्वाभाविक रति का एकमात्र कारण नारद की कृपा थी। जिस समय प्रह्लाद महाराज माँ के गर्भ में थे, तब नारदजी उनकी माता को भक्ति का सांगोपांग उपदेश कर रहे थे। साथ में, उनकी हार्दिक अभिलाषा थी कि गर्भगत बालक भक्ति के उपदेश से लाभान्वित हो। इस प्रकार भगवान् के प्रामाणिक भक्त एवं महान् पार्षद नारद के हार्दिकप्रसाद से प्रह्लाद महाराज में उत्तम भक्त के सभी गुणों एवं लक्षणों का प्रादुर्भाव हुआ। इसी का नाम नैसर्गिकी रति है, जो भगवान् श्रीकृष्ण अथवा उनके नारद जैसे महाभागवत की विशेष कृपा से होती है।

स्कन्दपुराण में पर्वत मुनि नारदजी से कह रहे हैं, "हे नारदजी! सब सन्त महर्षियों में भी आपकी महिमा का क्या कहना। आपके हार्दिक आशीर्वाद से एक अधमजाति तक वधिक महान् कृष्णभक्त बन गया है।"

श्रीकृष्ण के लिए यह भाव पाँच प्रकार का माना गया है, जिनका वर्णन श्रील रूप गोस्वामी आगे करेंगे।

अध्याय १८

भाव के लक्षण (अनुभाव)

श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं कि जिसमें भाव अंकुरित हो गया है, उस पुरुष में निम्नलिखित अनुभाव पाए जाते हैं :

१. वह निरन्तर अपने समय का भगवद्भक्ति में सदुपयोग करने को आतुर रहता है; निष्क्रिय नहीं बैठना चाहता। उसे दिन में चौबीस घण्टे विचलित हुए विना सेवा की ही अभिलाषा रहती है।
२. वह सदा गम्भीर और सहनशील बना रहता है।
३. वह विषयों के सब प्रकार के आकर्षणों से सदा विरक्त रहता है।
४. अपनी सेवाक्रियाओं के बदले किसी प्रकार का सांसारिक सम्मान नहीं चाहता।
५. उसे सदा यह दृढ़ आशा रहती है कि श्रीकृष्ण मुझ पर अवश्य कृपा करेंगे।
६. सदा श्रद्धाभाव से भगवत्सेवा के लिए उत्कण्ठित रहता है।
७. उसकी नामकीर्तन में सदा रुचि रहती है।
८. निरन्तर भगवान् के दिव्य गुणगान में आसक्त रहता है।
९. मथुरा, वृन्दावन, द्वारका आदि भगवान् के लीलास्थलों के वास में सदा प्रीति रखता है।

अव्यर्थकालत्व

भगवद्भाव को प्राप्त अनन्य भक्त अपनी वाणी को निरन्तर भगवान् से प्रार्थना करने में लगाए रखता है, मन से श्रीकृष्ण के चिन्तन में मग्न रहता है और शरीर से श्रीमूर्ति को दण्डवत् प्रणाम करता रहता है अथवा कुछ अन्य सेवा करता है। इन भावमयी क्रियाओं में कभी-कभी अश्रु भी झरने लगते हैं। इस विधि से उसका सारा का सारा जीवन भगवत्सेवा में समर्पित रहता है, क्षणभर भी किसी अन्य कार्य में व्यर्थ नहीं जाता।

सहिष्णुता (क्षान्ति)

जो क्षोभ के नाना कारण होने पर भी क्षुब्ध नहीं होता, वह धीर-गम्भीर और सहनशील है। सहिष्णुता का उदाहरण श्रीमद्‌भागवत (१.१९.१५) में महाराज परीक्षित के व्यवहार में है। मरणासन्न राजा ने वहाँ उपस्थित ऋषियों से कहा था— "हे विप्रो ! आप सदा मुझे एक शरणागत जीव जानें। भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों में अपने अन्तरात्मा को अर्पित कर देने के लिए ही मैं गंगातट पर आया हूँ। अतएव मुझ पर कृपा करें, जिससे मैं माँ गंगा का भी अनुग्रहभाजन बनूँ। ब्राह्मण के शाप से मेरा नाश हो जाय, मुझे भय नहीं। मैं तो बस यही चाहता हूँ कि मेरे जीवन के अन्तिम क्षणों में आप सब पावन विष्णुनाम का गान करें जिससे मैं उनके दिव्य गुणों का साक्षात्कार कर सकूँ।"

महाराज परीक्षित का यह व्यवहार—जीवन के अन्त में भी धीर बने रहना तथा चित्त की शान्ति—सहिष्णुता का प्रतीक है। जिसमें श्रीकृष्ण के भाव का उदय हो गया है, उसमें यह लक्षण प्रकट रहता है।

वैराग्य

इन्द्रियों को सदा विषयभोग चाहिए। परन्तु श्रीकृष्ण के दिव्य भाव का उदय हो जाने पर भक्त की इन्द्रियाँ फिर विषयवासना में रुचि नहीं लेतीं। मन की यह अवस्था विरक्ति कहलाती है। राजा भरत के चरित्र में इसका दृष्टान्त है। श्रीमद्‌भागवत (५.१४.४३) में उल्लेख है, "महाराज भरत का मनमधुकर श्रीकृष्ण के चरणकमलों की माधुरी में इतना अनुरक्त हो गया था कि यौवन में ही उन्होंने परिवार, पुत्र, मित्र, राज्य आदि सब दुस्त्यज्य विषयों को अस्पृश्य मल समझकर त्याग दिया।"

अस्तु, महाराज भरत वैराग्य के आदर्श हैं। उन्हें प्राकृत-जगत् के सभी सुखदायक विषय उपलब्ध थे; पर उन्होंने उन सब को ठुकरा दिया। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वैराग्य का अर्थ कृत्रिम रूप से आसक्ति के कारणों से असंग और अलग रहना नहीं है। विषयलोभ के मध्य भी अनासक्त भाव से रहे, यही वैराग्य है। प्रारम्भ में निस्सन्देह कनिष्ठ भक्त को सभी मोहकारी विषयों से दूर रहना चाहिए, परन्तु उत्तम भक्त की स्थिति ऐसी परिपक्व हो जाती है, विषयों के मध्य भी वह कदापि आकृष्ट नहीं होता। यह वैराग्य की यथार्थ कसौटी है।

मानशून्यता

सब प्रकार से उत्कृष्ट होते हुए भी भक्त का अपनी स्थिति पर

अभिमान न करना मानशून्यता है। पद्मपुराण में उल्लेख है कि चक्रवर्ती सम्राट् भगीरथ में श्रीकृष्ण के लिए ऐसे अतिशय भाव का उदय हुआ कि वे अपने शत्रुओं के राज्य में भिक्षा माँगते हुए दीनभाव से चाण्डालों तक को नमस्कार करने लगे।

इतिहास में भक्तों के ऐसे बहुत से उदाहरण हैं। केवल दो सौ वर्ष पहले कलकत्ते का लालबाबू नामक बहुत बड़ा जमींदार वैष्णव हो गया और बृन्दावन में वास करने लगा। वह घर-घर जाकर, यहाँ तक कि अपने पूर्व के शत्रुओं के घर भी भिक्षा माँगता। भिक्षुक को सब प्रकार का अपमान सहना पड़ता है। यह स्वाभाविक है। परन्तु श्रीकृष्ण के लिए इन अपमानों को सहन करना चाहिए। कृष्णभक्त श्रीकृष्ण ही सेवा के लिए तुच्छ से तुच्छ पद भी ग्रहण करने में संकोच नहीं करता।

आशाबन्ध

भगवान् की कृपा अवश्य होगी—यह दृढ़ विश्वास आशाबन्ध कहलाता है। भक्त की निरन्तर यही भावना रहती है—"मैं विधिभक्ति के लिए प्राणपण से यत्नशील हूँ; इसलिए भगवान् को फिर से अवश्य प्राप्त हो जाऊँगा।"

इस सन्दर्भ में श्रीमत् सनातन गोस्वामी की एक प्रार्थना से आशाबन्ध का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। वे कहते हैं, "मुझमें न कृष्णप्रेम है और न कृष्णप्रेम के श्रवण, कीर्तन आदि साधनों में ही मेरी प्रीति है तथा जिस भक्तियोग के द्वारा निरन्तर श्रीकृष्ण का चिन्तन करते हुए हृदय उन्हीं के चरणकमलों में एकाग्र रहता है, उसका भी मुझ में अभाव है। मेरे लिए ज्ञान अथवा शुभ कर्म की भी कोई सम्भावना नहीं है। इसलिए हे गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण मैं तो बस आपके सामने रुदन (प्रार्थना) ही कर सकता हूँ। मेरी एकमात्र अभिलाषा है कि जिस किसी प्रकार आपके चरणकमलों की मुझे प्राप्ति हो जाय। यह इच्छा मुझे व्यथित कर रही है, क्योंकि जीवन को उस दिव्य लक्ष्य की प्राप्ति के मैं सर्वथा अयोग्य समझता हूँ।" तात्पर्य यह है कि घोर निराशा में भी यह आशा बनाए रखनी चाहिए कि जैसे-तैसे भगवान् के चरणसरोज की प्राप्ति तो मुझे हो ही जायगी।"

समुत्कण्ठा

भक्तियोग में सिद्धि-लाभ के लिए अतिशय लुब्धता का नाम समुत्कण्ठा है। भक्ति के लिए पूर्ण लोभ होना आवश्यक है। वास्तव में यह लोभ

ही कृष्णभावना में सफलता प्राप्ति का मूल्य है। किसी भी वस्तु की उपलब्धि उसका मूल्य देने पर ही होती है। वैदिक शास्त्रों में उल्लेख है कि परम मूल्यवान् वस्तु—कृष्णभावना को खरीदने के लिए अर्थात् सिद्धि-लाभ के हेतु प्रगाढ़ उत्कण्ठा को उदित करना होगा। बिल्वमंगल ठाकुर ने स्वरचित कृष्णकर्णामृत में उत्कण्ठा का अत्यन्त सजीव सुन्दर चित्रांकन किया है। वे कहते हैं, "मेरे नेत्र व्रजकिशोर की काली भौहों से परिवेष्टित, कमलदल के समान सघन और उन्नत नेत्रों से युक्त, अनुरागभरी और चचलतामयी दृष्टि से भक्तों को निहारती हुई, मृदु वचनों में आर्द्रता ओतप्रोत, अधरामृत पर रक्तवर्ण और मधुर वंशीरव में अलौकिक मदभरी जगत् को मोहित करने वाली मूर्ति को वृन्दावन में देखने को आतुर हैं।"

नामगान में सदा रुचि

कृष्णकर्णामृत में ही सखी राधारानी का यह वर्णन सुनाती है, "हे गोविन्द ! अपने नयनकमलों से अश्रुबिन्दुरूपी मकरन्द को निस्यन्दित करती हुई वृषभानुनन्दिनी बाला आज आप की नामावली को मधुरस्वर से गा रही है।"

भगवान् के दिव्य गुणों का गान

भगवान् के गुणगान में आसक्ति का वर्णन कर्णामृत में इस प्रकार है—"ओह ! मन्मथ-मथन श्रीकृष्ण का माधुर्य से भी अधिक मधुर और चापल्य से भी अधिक चपल अनिर्वचनीय कैशोर बलात् मन को हरण किए जा रहा है। अरे ! मैं क्या करूँ ?"

श्रीकृष्ण के लीलास्थलों में प्रीति

श्रील रूप गोस्वामी की पद्यावली में वृन्दावन का यह विवरण है, "यहाँ पर नन्दमहाराज के घर नन्दनन्दन रहते थे; यहाँ श्रीकृष्ण ने उस शकट का भंजन किया जिसमें शकटासुर छिपा हुआ था और यहाँ भव-बन्धन से मुक्तिदाता दामोदर को यशोदा मैया ने रस्सी से बाँधा था।"

श्रीकृष्ण का शुद्धभक्त मथुरामण्डल अथवा वृन्दावन में वास करता हुआ श्रीकृष्ण की सारी लीलास्थलियों का दर्शन करता है। इन परम पावन स्थलों पर श्रीकृष्ण ने ग्वालबाल और यशोदा मैया के साथ भाँति-भाँति की लीलायें की थीं। कृष्णभक्तों में इन स्थानों की परिक्रमा करने की परिपाटी अद्यावधि प्रचलित है और मथुरा-वृन्दावन को जाने वाले

सदा दिव्य आनन्द का आस्वादन करते हैं। वस्तुतः यदि कोई वृन्दावन जाय तो तत्काल श्रीकृष्ण के विरहसागर में डूब जायगा, क्योंकि अपने अवतरणकाल में उन्होंने वहाँ कैसे अद्‌भुत लीलारस का परिवेषण किया था। श्रीकृष्ण के लीला-स्मरण में ऐसी रति वास्तव में कृष्णरति ही है। परन्तु बहुत से ऐसे निर्विशेषवादी और योगी हैं जो वाह्य रूप से भक्ति तो करते हैं, पर उसके द्वारा अन्त में भगवान् में लीन हो जाना चाहते हैं। कदाचित् वे श्रीकृष्ण के लीलास्थलों को जाने सम्बन्धी शुद्धभक्तों में भाव का अनुकरण भी करते पाये जाते हैं। फिर भी उनकी क्रियाओं को रति नहीं माना जा सकता है, क्योंकि वे यह सब केवल सायुज्य मुक्ति के लिए करते हैं।

श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं श्रीकृष्ण के लिए शुद्धभक्तों में प्रकट होने वाली रति कर्मियों और ज्ञानियों के हृदय में सिद्ध नहीं हो सकती। वास्तव में शुद्धकृष्णभावना में होने वाली यह रति बड़ी दुर्लभ है, मुक्तजन भी इसे खोजते फिरते हैं। जैसा भगवद्‌गीता का सिद्धान्त है, भवबन्धन से मुक्ति होना वह अवस्था है, जब भक्ति की उपलब्धि हो सकती है। जो केवल मुक्त होकर ब्रह्मज्योति में लीन होना चाहता है, उसके लिए कृष्ण-रति की प्राप्ति असम्भव है। श्रीकृष्ण इस रति को अतिशय छिपाकर रखते हैं और केवल शुद्धभक्तों को देते हैं। साधारण भक्त भी शुद्ध कृष्णरति नहीं पा सकते। फिर मुक्ति और भुक्ति की कामना से दूषित हृदय वाले सकामकर्मी और ज्ञानियों को तो भगवान् की वह रति कैसे मिल सकती है।

बहुत से नाममात्र के भक्त श्रीकृष्ण की अष्टकालिक लीला का ध्यान करते हैं। ऐसे लोगों का मिथ्या अनुकरण करते हुए कभी-कभी अन्य व्यक्ति भी यह दम्भ करने लगते हैं कि श्रीकृष्ण बालरूप में उनसे बोल रहे हैं अथवा राधाकृष्ण दोनों आकर उनसे वार्तालाप कर रहे हैं। निर्विशेष-वादी भी इन लक्षणों का कपट करके उन भोले-भाले लोगों को मोह लेते हैं जिन्हें भक्तिविद्या का ज्ञान नहीं होता। परन्तु अनुभवी भक्त तो इन सब विकृतियों को देखते ही समझ जाता है कि यह केवल कपट-व्यापार है। ऐसे कपटी में जो रति दृष्टिगोचर होती है, वह रत्याभास है, यथार्थ रति नहीं। रत्याभास वाले कपटी के लिए यह आशा अवश्य है कि काला-न्तर में कभी वह शुद्धभक्ति के स्तर पर आरूढ़ हो सकता है।

इस अनुकृत रति के दो भेद हैं—रत्याभास और परा रति। यदि कोई विधिभक्ति के आचरण अथवा सद्‌गुरु के मार्गदर्शन के बिना ऐसी

अनुकृत रति दिखाये, तो उसे रत्याभास कहते हैं। कभी-कभी भोग के अभिलाषी को भी दैवात् भगवन्नाम के कीर्तन परायण शुद्धभक्तों के सत्संग का अवसर मिलता है। भगवान् की कृपा से ऐसा व्यक्ति भी कीर्तन में सम्मिलित हो सकता है। तब शुद्धभक्तों के हृदयाकाश में स्थित भावचन्द्रिका की छाया उस पर भी पड़ती है; तथा शुद्धभक्तों के प्रभाव से उसमें कुतुहलमयी चंचल रति की छाया सी उदित होती। जब इस रत्याभास से सम्पूर्ण प्राकृत दुःख दूर हो जाते हैं तो उसे परा रति कहते हैं।

उपरोक्त रत्याभास अथवा परारति का उदय शुद्धभक्तों के सत्संग अथवा वृन्दावन-मथुरा आदि तीर्थ स्थानों की यात्रा से हुआ करता है। जो भाग्यवान् इस कृष्णरति को पा कर शुद्धभक्तों के संग में भक्ति-साधन करता है, वह भी शुद्धभक्ति कर सकता है। निष्कर्ष यह है कि परारति इतनी शक्तिशाली है कि यदि किसी साधारण मनुष्यों में इस का आभास भी हो, तो वह शुद्धभक्तों के संग से संसिद्धि-लाभ कर सकता है। शुद्धभक्तों के सत्संग रूपी पर्याप्त प्रसाद के विना श्रीकृष्ण के लिए ऐसी रति अथवा भाव का उदय नहीं हो सकता।

जैसे शुद्धभक्तों के सत्संग से रति का उदय होता है, वैसे ही शुद्धभक्तों के चरणकमलों का अपराध करने से रति का अभाव भी हो सकता है। अर्थात्, शुद्धभक्तों के संग से कृष्णरति उद्‌बुद्ध हो सकती है और यदि शुद्धभक्तों के चरणों का अपराध हो जाय तो रत्याभास अथवा परा रति का क्षय भी हो सकता है, उसी प्रकार जैसे पूर्ण चन्द्रमा क्रमशः क्षीण होकर अन्धकार में विलीन हो जाता है। अतः शुद्धभक्तों का संग करते हुए यह निरन्तर ध्यान रखना चाहिए कि उनके चरणों का अपराध न बन बैठे।

शुद्धभक्तों के अपराध के अनुपात में रत्याभाव अथवा परारति का क्षय होता जाता है। यदि अपराध बहुत गम्भीर हो तो रति बिलकुल न्यून हो जाती है और यदि गम्भीर न हो तो रति की श्रेणी मध्यम अथवा कनिष्ठ हो जाती है।

मोक्ष अथवा ब्रह्मज्योति में लीन होने के अभिलाषी का भाव या तो शनैः शनैः भावाभास को प्राप्त हो जाता है अथवा अहंग्रहोपासना में परिवर्तित हो जाता है, जिससे जीव अपने को परमेश्वर से अभिन्न समझने लगता है। आत्मसाक्षात्कार की इस अवस्था का नाम अद्वैतवाद है। अद्वैतवादी के मत में उसमें और परमेश्वर में भेद नहीं है; अतः वह समझता है कि अपनी उपासना से पूर्ण परतत्त्व की उपासना हो जाती है।

कभी-कभी कोई कनिष्ठ भक्त बड़े उत्साह से श्रवण-कीर्तन और

नृत्य में भाग लेता हुआ पाया जाता है; परन्तु उसके हृदय की धारणा यही रहती है कि मैं परमब्रह्म से एक हो गया हूँ। यह अद्वैत धारणा शुद्धभक्ति से बिल्कुल भिन्न है। जिसके भीतर विधि-साधन किए बिना ही अकस्मात् भाव दिखाई देने लगता है, उसने पूर्वजन्म में भक्ति का साधन किया था, ऐसा समझना चाहिए। किसी विघ्नवश, प्रायः भक्त-अपराध के कारण वह कुछकाल के लिए प्रतिहत-शक्ति हो गया होगा। अब फिर अवसर आने पर प्रकट हो गया है। निष्कर्ष यह है कि शुद्धभक्तों के संग से ही भक्तिपथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर हुआ जा सकता है।

लोकोत्तर चमत्कारकारी और सब शक्तियों को प्रदान करने वाले भाव की प्राप्ति श्रीकृष्णकी अहैतुकी कृपा से ही होती है। जिस पुरुष में भाव का उदय हो गया है और जो विषयों से पूर्णतः विरक्त हो गया है, उसमें यदि भक्ति के आदर्श के विरुद्ध कोई विगुणता पाई जाय तो भी उससे द्वेष न करे। भगवद्गीता में प्रमाण है कि जिसकी भगवान् में अनन्य श्रद्धा-भक्ति है, वह यदि कभी अकस्मात् शुद्धभक्ति के लक्षणों से गिर भी जाय, तो भी उसे शुद्ध ही समझना चाहिए। भक्ति, भगवान् और गुरु में अनन्य श्रद्धालु पुरुष भक्ति की क्रियाओं में उच्च स्थान पाता है।

'नृसिंहपुराण' का वाक्य है "जो मन, वाणी और शरीर से अनन्य भाव के साथ भगवान् की सेवा के परायण है, वह यदि बाह्य रूप से मलिन क्रियाओं में प्रवृत्त दिखाई दे, तो भी उसकी बलवती भक्ति के प्रभाव से ऐसी दूषित क्रियायें अति शीघ्र समाप्त हो जायेंगी।" पूर्ण चन्द्र पर कुछ काले धब्बे दिखाई देते हैं, फिर भी पूर्ण चन्द्रमा की ज्योत्स्ना प्रतिहत नहीं होती। इसी प्रकार, भक्ति के भण्डार के सामने छोटी सी भूल भूल नहीं समझी जाती। कृष्णरति दिव्य आनन्दरूपा और आह्लादिनी है। अनन्त दिव्य आह्लाद के बीच छोटे प्राकृत दोष का कुछ भी प्रभाव नहीं होता।

अध्याय १९

प्रेमभक्ति

जब अपने विशेष सम्बन्ध में श्रीकृष्ण की प्रीति का भाव अतिशय तीव्र हो जाता है तो उसे शुद्ध प्रेम कहते हैं। प्रारम्भ में भक्त गुरु-आज्ञा के अनुसार विधिभक्ति में तत्पर रहता है। फिर इस साधन के द्वारा सम्पूर्ण प्राकृत विकारों से पूर्ण शुद्ध हो जाने पर भक्ति में रुचि और आसक्ति का उदय होता है। यही रुचि और आसक्ति शनैः-शनैः तीव्र होकर कालान्तर में 'प्रेम' का रूप धरती है। 'प्रेम' शब्द का प्रयोग वास्तव में केवल भगवान् के सम्बन्ध में ही हो सकता है प्राकृत-जगत् में तो प्रेम का प्रश्न ही नहीं बनता। वहाँ जिसे भ्रमपूर्वक प्रेम समझा जाता है वह केवल काम है। प्रेम और काम में स्वर्ण और लोहे का सा भेद है। 'नारदपंचरात्र' में स्पष्ट उल्लेख है कि जब काम और ममता पूर्ण रूप से भगवान् में होते हैं, उस भक्ति को ही भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव और नारद आदि आचार्यों ने प्रेम कहा है।

भीष्म जैसे महाभागवतों ने अन्य सभी व्यक्तियों में ममता त्याग देने को भगवत्प्रेम बताया है। उनके अनुसार, अन्य सब से सम्बन्ध-विच्छेद करके केवल एक ही पुरुष (भगवान्) में अपने सम्पूर्ण ममत्व को स्थापित कर देना प्रेम है। वह प्रेम भाव से उत्पन्न और भगवान् की अहैतुकी कृपा से उत्पन्न, ऐसे दो प्रकार का होता है।

भावोत्थ

सद्गुरु के मार्गदर्शन में शास्त्रों में वर्णित विधिभक्ति करने मात्र से भावोत्थ प्रेम हो जाता है। विधिभक्ति से उत्पन्न भाव से हुई प्रेमभक्ति का उदाहरण श्रीमद्भागवत (११.२.४०) में इस प्रकार है, "विधिभक्ति करते-करते भक्त अपनी स्वाभाविक कृष्णभावना को प्राप्त हो जाता है। नामकीर्तन का अनुरागी और द्रवीभूत चित्त होकर वह कभी हँसता है, कभी रोने लगता है, कभी चिल्लाता है, कभी गाता है और कभी लोक-लज्जा के बिना उन्मत्त की भाँति नाच उठता है।"

पद्मपुराण में रागानुगाभक्ति से उत्पन्न भाव द्वारा हुए प्रेम का दृष्टान्त है। चन्द्रकांति नामक सुमुखी ने श्रीकृष्ण को पतिरूप में पाने के लिए कठोरता से ब्रह्मचर्यव्रत रखा। वह निरन्तर उन्हीं की दिव्य मूर्ति के ध्यान और कीर्तन में तन्मय रहती। श्रीकृष्ण से भिन्न किसी अन्य को पतिरूप में वरण न करने का उसका दृढ़ निश्चय था।

भगवान् की अशेष-विशेष कृपा से उत्पन्न प्रेम

जब कोई प्रेमभाव सहित निरन्तर भगवान् के संग में रहता है तो यह समझना चाहिए कि अपनी अहैतुकी विलक्षण कृपा से प्रेरित होकर भगवान् ने स्वयं उसे इस अवस्था का दान किया है। ऐसी विलक्षण कृपा का उदाहरण श्रीमद्भागवत (११.१२.७) में है। भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं, "वृन्दावन में गोपियों ने मेरी प्राप्ति के लिए न वेदों का स्वाध्याय किया, न तीर्थाटन किया, न किसी विधि-विधान अथवा तप का आचरण किया। केवल मेरे सत्संग से ही उन्हें भक्ति की परम संसिद्धि प्राप्त हो गयी।"

पद्मपुराण में चन्द्रकान्ति और श्रीमद्भागवत में गोपियों के उदाहरण से प्रतीत होता है कि जो भक्त अपनी परिस्थिति की चिन्ता किए बिना नित्य-निरन्तर श्रीकृष्ण का चिन्तन करता है और प्रेमभाव से उनकी कीर्ति का गान करता है, वह भगवान् श्रीकृष्ण की अति कृपा के फलस्वरूप अनन्य भक्ति की परम संसिद्धि को प्राप्त हो जायगा। यह स्वयं श्रीमद्-भागवत से प्रमाणित है, "जो भगवान् हरि को उपासता, भजता और प्रेम करता है, वह तप, त्याग आदि स्वरूप-साक्षात्कार के सभी साधनों को कर चुका है। दूसरी ओर, यदि सब प्रकार के तप, त्याग और योग करने पर भी हृदय में हरि के लिए ऐसा प्रेम नहीं होता तो सारा साधन समय का अपव्यय मात्र है। जो निरन्तर बाहर-भीतर श्रीकृष्ण को देखता है, उसने स्वरूप-साक्षात्कार के सब तप-त्याग का उल्लंघन कर लिया है और यदि सब प्रकार का तप-त्याग करने से बाद भी श्रीकृष्ण का भीतर-बाहर दर्शन न हो तो सब साधन निष्फल है।"

श्रीकृष्ण की अति कृपा से उदित प्रेम दो प्रकार का होता है—१. भगवान् के माहात्म्य ज्ञान से युक्त तथा २. किसी बाह्य हेतु के बिना श्रीकृष्ण में स्वतः अनुरक्त हो जाना। 'नारदपंचरात्र' में कहा है कि यदि भगवान् के माहात्म्य-ज्ञान के कारण भगवान् में अतिशय स्नेह और अचल प्रेम हो जाय तो चार प्रकार की वैष्णव मुक्तियों (सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सार्ष्टि) की प्राप्ति निश्चित है। वैष्णव मुक्ति उस मायावादी

मुक्ति से सर्वथा भिन्न है, जिसमें जीव भगवान् की ब्रह्मज्योति में लीन हो जाता है।

'नारदपंचरात्र' में शुद्ध अनन्य भक्ति को स्वार्थवासना से शून्य कहा गया है। भक्त का भगवान् के विषय में अन्य अभिप्राय से रहित निरन्तर प्रेममयी मनोवृत्ति बनाए रखना ही भगवान् को वश में करने वाली भक्ति है। अर्थात्, जो निरन्तर भगवान् श्रीकृष्ण के रूप का चिन्तन करता है, वह शुद्ध वैष्णव है।

महिमाज्ञानयुक्त प्रभुप्रसाद प्रायः विधिमार्ग का अनुसरण करने वालो को होता है और रागानुगाभक्ति के अनुगामियों को प्रायः माहात्म्य ज्ञान रहित हेतुरहित भगवत्प्रसाद प्राप्त होता है। विधिभक्ति के द्वारा भगवत्कृपा को प्राप्त हुआ भक्त भगवान् की असमोर्ध्व महिमा, दिव्य रूप-माधुरी और रागानुगाभक्ति की ओर भी आकृष्ट हो सकता है। अर्थात्, विधिभक्ति के आचरण से वह भगवान् की दिव्य रूपमाधुरी का पूर्ण रूप से आस्वादन करने के योग्य हो जाता है। उपरोक्त दोनों ही प्रकार की उत्कृष्ट अवस्थायों की प्राप्ति केवल भक्त पर भगवान् की अति कृपा से सम्भव है।

शुद्धभक्तों का सत्संग

यद्यपि यहाँ तक प्रेम-प्राप्ति की नाना पद्धतियों का उल्लेख हो चुका है, श्रीरूप गोस्वामी अब इस दिव्य अवस्था को पाने की सामान्य प्रक्रिया का वर्णन करते हैं। प्रेमभक्ति का प्रारम्भ मूल रूप से श्रद्धा है। शुद्धभक्तों के बहुत से संघ और सत्संग हैं। यदि कोई लेशमात्र श्रद्धा के साथ इन संघों का संग करने लगे तो शुद्धभक्ति के मार्ग पर द्रुतगति से अग्रसर होगा।

शुद्धभक्त का प्रभाव इतना अतिशय होता है कि यदि कोई अल्प श्रद्धा से भी उसका संग करने आए तो भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, आदि प्रामाणिक शास्त्रों से भगवत्कथा सुनने को मिलेगी। इस प्रकार अन्तर्यामी भगवान् की कृपा से उपरोक्त शास्त्रों में उसकी श्रद्धा दृढ़ होती जायगी। शुद्धभक्तों के सत्संग की यह पहली अवस्था है। फिर अधिक उन्नत और परिपक्व हो जाने पर शुद्धभक्त के आश्रय में विधि भक्ति का आचरण करने के लिए वह स्वतः आत्मसमर्पण करके उन्हें गुरु बना लेता है। इसके बाद, तीसरी अवस्था में गुरुदेव के मार्गदर्शन में वह विधिभक्ति का आचरण करता है और परिणामस्वरूप सम्पूर्ण अनर्थों से मुक्त हो जाता है। अनर्थ-निवृत्ति होने पर उसमें निष्ठा उत्पन्न होती है और फिर क्रमशः भक्ति में

रुचि, आसक्ति, भाव का तथा अन्त में प्रेम का उदय होता है। शुद्ध भगवत्प्रेम के उद्बोधन की ये भिन्न-भिन्न अवस्थायें हैं।

जिस परम सौभाग्यशाली के चित्त में यह अपूर्व प्रेमरूप दिनमणि उदित होता है, उसकी मुद्रा को भलीभाँति समझने में विद्वान् भी असफल रहते हैं। इसीलिए भगवान् शिव ने 'नारदपंचरात्र' में पार्वती से कहा है—"हे महेश्वरी ! भगवान् हरि के प्रेम में मत्त होकर परमानन्द में निमग्न हुए पुरुष को शरीर और मन के सुख-दुःख को कुछ भी अनुभव नहीं होता।"

स्नेह आदि प्रेम के व्यवहार प्रेमरूप मूल वृक्ष के ही शाखारूप विलास हैं। इनका प्रकाश भी नाना भाँति से होता है; अतः इन भेदों का विशद विवेचन यहाँ नहीं किया गया। इनका वर्णन श्रील सनातन गोस्वामी ने भागवतामृत में किया है। यद्यपि स्नेह आदि प्रेम के विलासों का विषय अतिशय गूढ़ है, तथापि सनातन गोस्वामी ने इन्हें भली प्रकार से स्पष्ट कर दिया है।

इस प्रकार भक्तिरसामृतसिन्धु के पूर्व विभाग का समापन करते हुए श्रील रूप गोस्वामी अपनी रचना को भक्तिसिद्धान्त की माधुरी के प्रतिष्ठाता सनातन गोस्वामी, तथा गोपाल भट्ट गोस्वामी श्रीरघुनाथ भट्ट गोस्वामी तथा रघुनाथदास गोस्वामी के दिव्य आस्वाद में समर्पित करते हैं। इस वाक्य से प्रतीत होता है कि महान् आचार्य श्रील जीव गोस्वामी भक्तिरसामृत सिन्धु के रचनाकाल तक प्रसिद्ध नहीं हुए थे।

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ रसोपयोगिस्थायिभावोपपादनो नाम पूर्वो विभागः ॥१॥

इति भक्तिवेदान्तभाष्ये पूर्वो विभागः ॥१॥

अथ दक्षिणो विभागः

सामान्य भगवद्भक्तिरस

अध्याय २०

रस

भक्तिरसामृतसिन्धु के इस द्वितीय विभाग के प्रारम्भ में ग्रन्थकार 'श्रीसनातन' की सादर वन्दना करते हैं। इससे उन्होंने अपने आराध्यदेव श्रीकृष्ण तथा अपने अग्रज और गुरु सनातन गोस्वामी, दोनों का स्मरण किया है। उन्होंने श्रीकृष्ण को 'सनातन' कहकर उनकी वन्दना की है, क्योंकि वे स्वरूपतः परम सौन्दर्य मूर्ति हैं और अघासुर का नाश करने वाले हैं। इस पद से वे सनातन गोस्वामी का भी स्मरण करते हैं, जो रूप गोस्वामी के अतिशय प्रीतिपात्र हैं और उन (श्रील रूप) के द्वारा सदा सेवित हैं एवं जो सब प्रकार के पापकर्मों का अन्त करते हैं। भक्तिरसामृतसिन्धु के इस दक्षिण विभाग में रचयिता महोदय भगवद्भक्तिरस के सामान्य लक्षणों का निरूपण करना चाहते हैं।

भक्तिरसामृतसिन्धु के इस विभाग में पाँच लहरियाँ हैं : १. विभाव-लहरी, २. अनुभाव लहरी, ३. सात्त्विकभाव लहरी, ४. व्यभिचारिभाव लहरी तथा ५. स्थायिभाव लहरी।

भगवान् से प्रेम के आदान-प्रदान में जो दिव्य आस्वादन होता है, उसे रस कहते हैं। विविध प्रकार के रसों का मिलन होने पर दिव्य आनन्द की परम अवधि तक भक्तिरस का आस्वादन होता है। यद्यपि ऐसी स्थिति हमारे अनुभव से सर्वथा परे है, तथापि श्रील रूप गोस्वामी की अनुगति करते हुए इस प्रकरण में उसका यथाशक्ति वर्णन किया जायगा।

अपनी क्रियाओं में किसी प्रकार के रस का अनुभव किए विना कोई भी उन्हें नहीं कर सकता। इसी प्रकार कृष्णभावना और भक्तियोग के दिव्य जीवन में भी कोई रस-विशेष अवश्य है। सामान्यतः इस रस का अनुभव मन्दिर में श्रवण, कीर्तन और अर्चन करने तथा भगवत्सेवा के उन्मुख रहने से होता है। अतः जब कोई परमानन्द में निमग्न हो जाता जाता है तो समझना चाहिए कि वह रस का आस्वादन कर रहा है।

अधिक स्पष्टतः, भक्तियोग के आचरण से उत्पन्न होने वाली आनन्द की विविध अनुभूतियों को 'भक्तिरस' की संज्ञा दी जा सकती है।

भक्तियोग के रस का यह आस्वादन सब कोटि के मनुष्यों को नहीं हो सकता, क्योंकि इस मधुर प्रेममय वृत्ति की उद्भावना पूर्वजन्म के संस्कार से अथवा शुद्धभक्तों के सत्संग से ही होती है। पूर्ववर्णन के अनुसार, शुद्ध-भक्तों के सत्संग से ही भक्तियोग में श्रद्धा का श्रीगणेश होता है। किसी शुद्धभक्त के आश्रय में इस श्रद्धा को बढ़ाने पर या पूर्वजन्म के भक्ति-संस्कारों के कारण ही वास्तव में भक्तिरस का आस्वादन होता है। दूसरे शब्दों में, इस परमानन्द की उपलब्धि साधारण जनों को नहीं हो सकती; वे दुर्लभ भाग्यवाले ही इसका आस्वादन कर पाते हैं जो भक्तों के संगी हों अथवा पूर्वजन्म से भक्तियोग का अभ्यास करते आ रहे हों।

भक्तियोग की शनैः-शनैः प्राप्ति के पथ का वर्णन श्रीमद्भागवत, प्रथम स्कन्ध में है, "इस पथ का आरम्भ उन भक्तों के संग में कृष्णकथा सुनने से होता है, जो स्वयं सत्संग के द्वारा हृदय की निर्मलता को प्राप्त हो गए हों। दिव्य भगवच्चरित की कथा का श्रोता निरन्तर परमानन्द में निमग्न रहता है।" भगवद्गीता में भी उल्लेख है कि वास्तव में ब्रह्मभूत हुए पुरुष का पहला लक्षण यह है कि वह सदा प्रसन्न रहता है। इस आनन्दमय जीवन की उपलब्धि भगवद्गीता या श्रीमद्भागवत का श्रवण करने से होती है अथवा उन पुरुषों का सत्संग करने से होती है, जो कृष्णभावना के दिव्य जीवन में बड़ी रुचि रखते हैं, विशेष रूप से वे जो श्रीकृष्ण (गोविन्द) के चरणकमलों की प्रेममयी सेवा के परायण रहकर उनकी कृपा प्राप्त करने के लिए कृतसंकल्प हैं। इस भाव से उत्साहित होकर जो सदा भगवान् की प्रसन्नता का विधान करनेवाली विधिभक्ति के परायण रहता है, उसमें 'आलम्बन' और 'उद्दीपन' नामक दो प्रकार के विभाव का उदय होता है। इस प्रकार वह परमानन्द में निमज्जित हो जाता है।

इस प्रेम-विभाव के सात हेतु हैं, जैसे स्वयं श्रीकृष्ण, कृष्णभक्त, कृष्ण का मुरलीनाद इत्यादि। इनका कार्य कभी स्मित होता है तो कभी स्तब्धता।

भाव में शरीर पर आठ सात्त्विक लक्षण प्रकट होते हैं। वे सब पूर्वोक्त पाँच प्रकार के भाव-भेदों के मिश्रण से ही सम्भव होते हैं। इन पाँच प्रकार के भावों के किसी-न-किसी मिश्रण के बिना रसास्वादन नहीं हो सकता। रस के आस्वादन के जो कारण हैं, वे विभाव कहलाते हैं। विभाव के दो भेद हैं—आलम्बन और उद्दीपन। 'अग्निपुराण' में विभाव

का वर्णन इस प्रकार है—"रति आदि की जिससे उत्पत्ति होती है, वह विभाव-आलम्बन और उद्दीपन—ऐसे दो प्रकार का होता है। अर्थात्, विभाव के दो भेद हैं। कृष्ण और उनके भक्त भक्तिरस के आलम्बन विभाव हैं। श्रीकृष्ण भक्ति के विषय-आलम्बन हैं और उनका शुद्धभक्त आश्रय-आलम्बन है। किसी वस्तु को देखकर होने वाले कृष्णस्मरण से उत्पन्न विभाव उद्दीपन कहा जाता है।"

भगवान् श्रीकृष्ण, जो अचिन्त्य शक्तियों और ज्ञान, आनन्द, आदि सम्पूर्ण महागुणों के नित्य निधान हैं, वे ही भक्तिरस के आलम्बन कारण हैं। अपने अन्य रूपों और सब अवतारों से वे भक्तिरस के उद्दीपन भी बन जाते हैं। श्रीमद्भागवत में ब्रह्मविमोहनलीला के संदर्भ में एक वाक्य है जिससे भक्तिरस के इस उद्दीपनरूप का स्पष्टीकरण होता है । जब ब्रह्मा को मोहित करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं सब गोपबालकों, गायों और गोवत्सों का रूप धारण कर लिया तो श्रीकृष्ण के अग्रज श्रीबलदेव (जो श्रीकृष्ण के स्वयंप्रकाश हैं) विस्मित होकर कहने लगे—"अहो ! यह कैसा आश्चर्य है कि इन सब गोपबालकों, गोवत्सों और गायों के प्रति मेरा कृष्णप्रेम उमड़ रहा है।" इसका निश्चय न कर सकने के कारण बलदेव विस्मय से स्तब्ध हो गए। यह एक उदाहरण है, जब श्रीकृष्ण उद्दीपन पक्ष से भक्तिरस के आश्रय-आलम्बन और विषय-आलम्बन दोनों बन जाते हैं।

अध्याय २१

श्रीकृष्ण के दिव्य गुण

श्रीकृष्ण स्वरूप आवृत और प्रकट, दो प्रकार का है। जब श्रीकृष्ण अन्य वेष आदि में छिपे हैं तो उनका स्वरूप आवृत कहलाता है। श्रीमद्भागवत की द्वारकालीला में उनके आवृत स्वरूप का दृष्टान्त है। कभी-कभी श्रीकृष्ण स्त्री वेष को धारण करके क्रीड़ा करते थे। उनके इस रूप को देखकर उद्धव ने कहा, "अहो ! कैसा आश्चर्य है कि यह स्त्री ठीक श्रीकृष्ण के समान ही मेरे भक्तिरस को आकर्षित कर रही है। अच्छा समझ गया, कौतुक के लिए श्रीकृष्ण ने ही स्त्रीरूप धारण कर रखा है।"

श्रीकृष्ण के प्रकट स्वरूप को देखकर एक भक्त उनकी रूपमाधुरी की स्तुति करता है, "भगवान् श्रीकृष्ण का स्वरूप कितना अतिशय मधुर है। उनकी शंख-सी ग्रीवा, कमल का मानमर्दन करने वाली नेत्र-लालिमा, श्यामतमाल शरीर, छत्रयुक्त शिर---यह सब बस देखते ही बनता है। उनके वक्षःस्थल पर श्रीवत्स हैं और हाथों में शंख-चक्र धारण किए हुए हैं। इस प्रकार सुन्दर रूप में प्रकट श्रीमाधव अपने दिव्य गुणों के दर्शनों से मुझे दिव्य आनन्द प्रदान कर रहे हैं।"

श्रील रूप गोस्वामी ने नाना शास्त्रों के आधार पर श्रीकृष्ण के निम्नांकित दिव्य गुणों का उल्लेख किया है—१. सुन्दर अंग वाले, २. सम्पूर्ण शुभ लक्षणों से युक्त, ३. अतिशय रुचिर, ४. तेजोमय, ५. बलवान् ६. नित्य कैशोर्यमय, ७. विविध और अद्भुत भाषाओं के ज्ञाता, ८. सत्यवादी, ९. प्रियभाषी, १०. वावदूक (सब भाषाओं को बोलने में दक्ष), ११. परम पण्डित, १२. बुद्धिमान्, १३. अपूर्व प्रतिभाशाली, १४. विदग्ध (कलाओं में पारंगत) १५. चतुर, १६. परम दक्ष, १७. कृतज्ञ, १८. अत्यन्त दृढ़ व्रतधारी, १९. देश, काल और पात्र को अच्छी प्रकार से जानने वाले, २०. शास्त्रों को देखने-कहने वाले, २१. पवित्र, २२. आत्मसंयमी, २३. स्थिर रहने वाले, २४. सहनशील (जितेन्द्रिय), २५. क्षमाशील, २६. गम्भीर, २७. धैर्यवान्, २८. समदृष्टि वाले, २९. उदार, ३०. धार्मिक, ३१. शूरवीर, ३२. करुण,

३३. सम्मान करने वाले, ३४. विनीत, ३५. उदार, ३६. लज्जावान्, ३७. शरणागत जीवों के रक्षक, ३८. सुखी, ३९. भक्तों के हितैषी, ४०. प्रेम के वशीभूत, ४१. सर्वमंगलमय, ४२. परम प्रतापी, ४३. परम यशस्वी, ४४. लोकप्रिय, ४५. भक्तवत्सल; ४६. सब स्त्रियों के चितचोर, ४७. सब के आराध्य, ४८. सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त, ४९. वरेण्य (सम्मान्य) तथा ५०. परम ईश्वर। भगवान् श्रीकृष्ण में ये सभी पचास गुण समुद्र की गाहता के समान पूर्ण रूप में विराजते हैं। भाव यह है कि उनके गुणों की अवधि-परिधि अचिन्त्य है।

जीव भगवान् के भिन्न-अंश हैं, अतः यदि वे भगवान् के शुद्धभक्त बन जायें तो उनमें भी ये गुण विन्दुरूप में आ सकते हैं। भाव यह है कि भक्तों में ये गुण अत्यन्त अल्प मात्रा में रह सकते हैं, जबकि पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण में ये सब परिपूर्ण रूप से विराजते हैं।

इनके अतिरिक्त, कतिपय अन्य दिव्य गुण भी हैं जिनका वर्णन पद्मपुराण में शिवजी ने पार्वती से किया है। इनका विवरण पृथ्वी और धर्म के संवाद-प्रसंग में श्रीमद्भागवत भी है। श्रीमद्भागवत में उल्लेख है, "महापुरुष बनने के अभिलाषियों को सदा निम्नलिखित गुणों से विभूषित रहना चाहिए—सत्य, शौच, दया, सहनशीलता, त्याग, सन्तोष, सरलता इन्द्रियसंयम, मन का निग्रह, तप, समता, तितिक्षा, शान्ति, वैराग्य, विद्या, ज्ञान, ऐश्वर्य, शूरता, तेज, बल, स्मृति, मृदुता, करुणा, दक्षता, शील, दृढ़ता, स्वतन्त्रता, कौशल, कान्ति, धैर्य, कोमलता, बोलने की क्षमता, ऐश्वर्य, सम्पूर्ण ज्ञान में पूर्णता, गम्भीरता, स्थिरता, आस्तिक्य, यश, कीर्ति दूसरों का सम्मान, अहंकारहीनता। जिन्हें महत्त्व की अभिलाषा है, वे इन में से किसी भी गुणों के विना नहीं हो सकते; अतएव यह निश्चित है कि ये गुण परम-आत्मा श्रीकृष्ण में अवश्य रहते हैं।

उपरोक्त पचास गुणों के अतिरिक्त, भगवान् श्रीकृष्ण में पाँच अतिरिक्त गुण हैं, जो एक अंश में ब्रह्मा और शिव में भी प्रकाशित होते हैं ५१. सदा एकस्वरूप; ५२. सर्वज्ञ; ५३. नित्यनूतन; ५४. सच्चिदानन्द सांद्र अंग तथा ५५. समस्त सिद्धियों द्वारा सेवित।

श्रीकृष्ण के पाँच गुण और भी हैं, जो नारायण विग्रह में प्रकाशित रहते हैं—५६. अचिन्त्य महाशक्ति से युक्त; ५७. जिनके विग्रह से कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड प्रकट होते हैं : ५८. सब अवतारों के स्रोत; ५९. अपने द्वारा मारे गए शत्रुओं को मुक्ति के दाता; ६०. आत्मारामों को अपनी ओर आकर्षित करने वाले।

इन साठ दिव्य गुणों के अतिरिक्त श्रीकृष्ण में चार ऐसे गुण भी हैं जो देवों-जीवों में तो क्या, स्वयं नारायण में भी नहीं हैं। ये हैं— ६१. सब प्रकार की अद्‌भुत और चमत्कारमयी लीलाओं (विशेषतः बाललीला) के सागर; ६२. अतुल मधुर प्रेममण्डित प्रिय भक्तों से विभूषित; ६३. अपनी मुरली के कलकूजन से त्रिभुवनगत प्राणियों के चित्त को हरने वाले; ६४. जिससे अधिक अथवा जिसके तुल्य कोई रूप नहीं है, ऐसी रूपश्री से सम्पूर्ण चराचर जगत् को विस्मित करनेवाले—ये चार गुण (लीलामाधुरी, प्रेममाधुरी, वंशीमाधुरी तथा रूपमाधुरी) विशेषतः गोविन्द में विलक्षण रूप से पाये जाते हैं।

पूर्वोक्त गुणों के साथ इन चार असाधारण गुणों की गणना करने पर श्रीकृष्ण के कुल गुण चौंसठ बनते हैं। श्रील रूप गोस्वामी ने श्री-परमेश्वर के स्वरूप में इन सब गुणों को सिद्ध करने हेतु नाना शास्त्रप्रमाण प्रस्तुत किए हैं

१. सुरम्यांग

भगवान् के विग्रह के विविध अंगों की प्राकृत वस्तुओं में कोई उपमा नहीं है। भगवत्-रूप के उत्कर्ष को समझने में असमर्थ साधारण लोगों के बोध के लिए ही उन्हें लौकिक उपमा दी जाती है। कहा जाता है कि श्रीकृष्ण का मुखमण्डल चन्द्रमा के समान है; जंघायें गज जैसी बलवती हैं; भुजायें स्तम्भ जैसी हैं; दोनों कर कमलदल के समान विकसित हैं; वक्षःस्थल कपाट जैसा है; नितम्ब एक दूसरे से सटे हुए हैं तथा शरीर का मध्य-भाग पतला है।

२. सब शुभ लक्षणों से युक्त

शरीर के नाना अंगों में पाए जाने वाले सभी मंगल-लक्षण चिह्न भगवान् के विग्रह में हैं। इस सन्दर्भ में, भगवान् श्रीकृष्ण के शरीर में प्रकट शुभ लक्षणों के सम्बन्ध में नन्द महाराजा के एक मित्र ने कहा है, "हे सखे, गोपेन्द्र ! तुम्हारा बालक ३२ शुभ लक्षणों से युक्त है। ऐसा बालक गोपों में कहाँ हो सकता है ?" भगवान् श्रीकृष्ण जब भी राम आदि के रूप में अवतीर्ण होते हैं, प्रायः क्षत्रियकुल का वरण करते हैं और कभी-कभी ब्राह्मणकुल में भी प्रकट होते हैं। परन्तु श्रीकृष्ण ने नन्दमहाराज के पुत्ररूप में लीला की, जो वैश्य थे। वैश्य जाति का कार्य कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य है। अतः उनके ब्राह्मणकुल के मित्रों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि

ऐसा महापुरुष बालक वैश्य-परिवार में कैसे हो सकता है। उन्होंने नन्दजी से बालक के शरीर पर विद्यमान सभी शुभ लक्षणों का उल्लेख किया।

वे बोले, "इस बालक के नेत्रप्रान्त, पाद, करतल, तालू, अधरोष्ठ, जिह्वा और नख-इन सात अंगों में मंगलसूचक रक्तता है। इसके वक्षःस्थल, कटि और ललाट, इन तीनों अंगों में विस्तार पाया जाता है। ग्रीवा, जंघा और लिंग में लघुता है, वाणी, बुद्धि और नाभि में गम्भीरता है, नासिका, स्कन्ध, कर्ण, ललाट, नख और कटि में तुंगता है; नासिका, भुजा, नेत्र, हनु, जंघाओं में लम्बाई है तथा त्वचा, केश, अंगुलि, दन्त और अंगुलिपर्व में सूक्ष्मता पाई जाती है। इन सम्पूर्ण लक्षणों का प्रकाश केवल महापुरुषों में होता है।"

हाथ आदि में रेखाओं से बने हुए चक्रादि चिह्न भी मंगल लक्षण हैं। एक वृद्धा गोपी नन्दजी से कहती है—"हे गोपेश ! अपने पुत्र के करों में स्पष्ट रेखाओं से बने हुए कमलों और चक्रों को तथा पदपल्लवों में ध्वज, वज्र, मीन, कुश, और कमल के मंगलमय चिह्नों को देखिए।"

३. रुचिर

नेत्रों को आनन्द प्रदान करने वाले सौन्दर्य को रुचिर कहते हैं। श्रीकृष्ण का स्वरूप अतिशय रुचिर है। श्रीमद्भागवत (३.२.१३) में उल्लेख है, "भगवान् श्रीकृष्ण अपने नेत्रानन्ददायी रूप में महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में पधारे। वहाँ उपस्थित ब्रह्माण्ड के सारे महापुरुषों ने उन्हें देखकर समझा कि श्रीकृष्ण के इस विग्रह की रचना में विधाता की सारी शिल्प कुशलता समाप्त हो गई है।"

कहा जाता है कि श्रीकृष्ण का विग्रह—मुख, दो नेत्र, दो हाथ, नाभि तथा दो पैर—इन आठ कमलों से युक्त है। इन में से किसी एक अंग-कमल पर गोपीजन अथवा व्रजवासियों की भ्रमरपंक्ति एक बार पड़ने पर फिर द्युतिमधु से पंकिल उस नीलकमल (कृष्णा) से उठ नहीं पाती थी।

४. तेजोमय

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जगत् में व्याप्त तेज भगवान् श्रीकृष्ण की ही किरण राशि है। श्रीकृष्ण का परमधाम ब्रह्मज्योति विकीर्ण करता रहता है, जो उनके विग्रह से निःसृत है।

श्रीहरि के वक्षःस्थल पर स्थित सूर्य की कान्ति का तिरस्कार करने वाली कौस्तुभ मणि की प्रभा भी भगवान् के श्रीविग्रह की दीप्ति के सामने आकाश में तारे के समान ही मन्द-मन्द स्फुरित होती है। अतः श्रीकृष्ण का

दिव्य प्रभाव इतना अतिशय है कि सब को जीत लेता है। जब श्रीकृष्ण अपने शत्रु कंस के यज्ञ में गए तो वहाँ के मल्ल कोमल अंग वाले उन कृष्ण को देखते हुए भी उनके साथ युद्ध करने के विचार से भयभीत और संत्रस्त हो उठे।

५. बलवान्

असाधारण पौरुष वाला बलीयान् कहलाता है। श्रीकृष्ण द्वारा अरिष्टासुर का वध करने पर कुछ गोपियाँ कहने लगीं, "हे सखि ! देखो कृष्ण ने पर्वत से भी भयंकर अरिष्टासुर को रुई के पिण्ड के समान उड़ा कर मार डाला।" एक अन्य पद्य है, "हे कृष्णभक्तो ! कमलनयन श्रीकृष्ण का वह वाम भुजदण्ड तुम्हारी सब भयों से रक्षा करे, जिसने गोवर्धन पर्वत को खेल-खेल में गेंद की भाँति उठा लिया था।"

६. नित्य किशोर

श्रीकृष्ण शैशव, कौमार, पौगण्ड, कैशोर, आदि सभी आयु-वर्गों में सुन्दर और मधुर हैं। परन्तु इन सब में भी कैशोर ही अखिल रसराज है और इसमें भक्ति के नित्य नाना विलास होते हैं। किशोरावस्था में श्रीकृष्ण सम्पूर्ण चिन्मय गुणों से परिपूर्ण लीलारस-निरत रहते हैं। अतः भक्तों ने उनके पूर्व-कैशोर को प्रेम में सर्वाकर्षक माना है।

श्रीकृष्ण की इस वय का वर्णन इस प्रकार है, "श्रीकृष्ण के तारुण्य का बल उनकी मधुर मुस्कराहट से मिलकर पूर्ण चन्द्र के मद को भी विमर्दित करने वाला हो गया। वे कामदेव को भी विनिन्दित करनेवाले सौन्दर्य-लावण्य के शृंगार से विभूषित रहते और निरन्तर गोपियों के मन को उन्मत्त करते हुए प्रेमामृत का पान करा रहे थे।"

७. विविध-अद्भुत भाषाविद्

श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं कि जो पुरुष नाना देशों की भाषाओं, विशेषतः देवभाषा संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं को तथा पशुओं तक की बोली जानता हो, वह अद्भुत भाषाविद् कहा जाता है। इस वाक्य से इंगित होता है कि श्रीकृष्ण पशुओं की भाषाओं को भी बोल-समझ सकते हैं। श्रीकृष्ण के लीलाविहार को देखकर वृन्दावन की एक वृद्धा गोपी आश्चर्य व्यक्त करती हुई बोली, "अहो ! व्रजगोपियों के हृदयवल्लभ श्रीकृष्ण गोपियों से भलीभाँति व्रजभाषा में बोलते हैं, देवताओं से संस्कृत में वार्तालाप करते हैं, यहाँ तक कि पशुओं की भाषा में गाय-भैंस से भी

बोल सकते हैं। इसी प्रकार काश्मीरी में, शुक आदि विहंगों की भाषा में और प्राकृत में भी कृष्ण बड़े ही वाचाल हैं।" उसने गोपियों से विस्मय व्यक्त किया कि इतनी भाषाओं को बोलने में श्रीकृष्ण इतने दक्ष कैसे हो गए।

८. सत्यवाक्

जिस पुरुष का वचन कभी झूठा सिद्ध न हो, वह सत्यवाक् कहा जाता है। कृष्ण ने एक बार पाण्डवों की माता को वचन दिया था कि वे उसके पाँचों पुत्रों को कुरुक्षेत्र की रणभूमि से जीवित लौटा लायेंगे। युद्ध के अन्त में पाँचों पाण्डवों के घर वापस आ जाने पर कुन्ती ने अपने वचन को सत्य करने के लिए श्रीकृष्ण की स्तुति की। वह बोली, "सूर्य भले ही शीतल हो जाय और चन्द्रमा भले ही ऊष्ण हो जाय पर फिर भी हे मुरारि! आपका वचन असत्य नहीं हो सकता।" इसी प्रकार जब श्रीकृष्ण भीम-अर्जुन के साथ जरासन्ध से युद्ध करने गये तो उन्होंने उसे स्पष्ट कह दिया कि दो पाण्डवों सहित छद्मवेष में वहाँ उपस्थित हुए वे स्वयं सनातन पुरुषोत्तम कृष्ण हैं। श्रीकृष्ण तथा भीम-अर्जुन क्षत्रिय थे। जरासन्ध भी क्षत्रिय था और इसलिए ब्राह्मणों को उदारता से दान देता था। अतः जरासन्ध के वध की योजना बनाकर श्रीकृष्ण भीम-अर्जुन के साथ ब्राह्मण वेष में उसके पास गए। उदारदानी जरासन्ध ने उनसे अपना अभीष्ट माँगने को कहा तो उन्होंने उससे युद्ध करने की इच्छा व्यक्त की। उसी समय श्रीकृष्ण ने घोषित किया कि ब्राह्मण-वेष में वे उसके सदा के शत्रु ही आए हैं।

९. प्रियभाषी

जो अपने शत्रु को भी प्रिय वचनों से शान्त कर सकता है, वह पुरुष प्रियभाषी है। श्रीकृष्ण तो प्रियभाषण की अवधि ही हैं। यमुना जल में कालिय नाग का मान-मर्दन करके उन्होंने कहा—"हे नागराज! यद्यपि मैंने आपको कष्ट पहुँचाया है, फिर भी मुझमें दोष-दृष्टि न करें। देवताओं के लिए भी आराध्य गोधन की रक्षा मेरा कर्तव्य है। आपकी उपस्थिति से गायों की रक्षा के लिए ही मैं आपको यहाँ से निष्कासित कर रहा हूँ।"

कालिय के निवास के कारण यमुनाजल विष से दूषित हो गया था। उसे पीकर कितनी ही गायें कालकवलित हो गई थीं। अतः बालकृष्ण

ने जल में प्रवेश किया और कालिय का शासन करके उसे वहाँ से अन्यत्र चले जाने का आदेश दिया।

इस अवसर पर श्रीकृष्ण ने गोधन को देवों के लिए भी आराध्य कहा और साथ में गोरक्षा का आदर्श भी स्थापित किया। कम से कम कृष्णभावनाभावित पुरुषों को तो उनकी अनुगति में गोधन की सब प्रकार से रक्षा करनी चाहिए। गायें देवों की ही आराध्य नहीं हैं, स्वयं श्रीकृष्ण ने गोपाष्टमी, गोवर्धनपूजा आदि अवसरों पर गोपूजन किया है।

१०. बावदूक

कानों को प्रिय लगने वाले और विनय आदि वाणी के सम्पूर्ण गुणों से युक्त वचन कहने वाला बावदूक अर्थात् बोलने में निपुण कहलाता है। श्रीकृष्ण की श्रुतिप्रिय विनीत वाणी का उदाहरण श्रीमद्भागवत में है। जब श्रीकृष्ण ने नन्द बाबा से वर्षा के देवता इन्द्र का यज्ञ न करने का विनम्र निवेदन किया तो एक गोपगृहिणी मुग्ध हो उठी। बाद में कहने लगी, "हे सखी ! जो सरस और कोमल पदावली से युक्त होने के कारण मनोहर है और जिसके एक-एक अक्षर से अक्षय अमृतधारा झरती है, सब लोगों के कानों के लिए रसायन जैसी श्रीकृष्ण की वाणी ने किस का मन नही हर लिया ?"

श्रीकृष्ण की वाणी ब्रह्माण्डभर के सारे वाग्गुणों से विभूषित है; इस के प्रमाण में उद्धव का यह वाक्य है—"शत्रुओं के हृदय को भी तत्काल बदल देने वाली, संसार के सारे संशय-दु:खों का अन्त करने वाली तथा मात्रा में अल्प होने पर विविध अर्थ वाली श्रीकृष्ण की वाणी मेरे हृदय को अतिशय प्रिय है।"

११. सुपण्डित

विद्वान् और नीतिज्ञ पुरुष को सुपण्डित कहा जाता है। अखिल विद्याओं का ज्ञाता विद्वान् कहलाता है और यथोचित कार्य करने वाला नीतिज्ञ है। इन दोनों गुणों के समुच्चय का नाम सुपाण्डित्य है।

श्रीकृष्ण के सान्दीपनि मुनि से शिक्षा ग्रहण करने का वर्णन नारद जी ने इस प्रकार किया है, "ब्रह्मादिक उन मेघों के समान हैं, जो कृष्णरूप महासागर के जल से बने हैं। सागर से जैसे मेघ को जल मिलता है, वैसे सर्वप्रथम ब्रह्माजी ने श्रीकृष्ण से वैदिक ज्ञान पाया। ब्रह्मा द्वारा जगत् में प्रवर्तित वही वैदिक ज्ञान फिर सान्दीपनि मुनि रूप शैल में रहा। सान्दीपनि का श्रीकृष्ण को उपदेश करना पर्वत से उस नदीरूप में जल

प्रवाहित होने जैसा है, जो वापस जाकर सागररूपी श्रीकृष्ण को प्राप्त हो जाय।" भाव यह है कि वास्तव में श्रीकृष्ण को कोई उपदेश नहीं कर सकता, जैसे सागर को प्राप्त होने वाली सारी जलराशि का मूल स्रोत सागर स्वयं है। देखने में प्रतीत होता है कि नदियाँ सागर को जल से भर रही हैं। श्रीकृष्ण ने ब्रह्मा में वैदिक ज्ञान का संचार किया और ब्रह्मा से आगे शिष्य-परम्परा के द्वारा इस ज्ञान का प्रसारण हुआ। इसलिए सान्दीपनि मुनि के विद्या-उपदेश को उस नदी की उपमा दी गई है जो वापस जाकर कृष्णरूपी मूल सागर में मिल जाती है।

सिद्धचारण श्रीकृष्ण की वन्दना करते हुए कहते हैं, "हे गोविन्द! विद्या के चौदह गुणों से अलंकृत, जिसकी बुद्धि चारों वेदो में व्यापिनी है, जो मनु आदि की स्मृतियों से सदा युक्त हैं, जो शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—वेद के इन छः अंगरूप परिधान से विभूषित है, पुराण जिसके सुहृद हैं, ऐसी मीमांसा से मण्डित सरस्वती को गुरुकुल में आप का संग सुलभ हो गया है। अब यह आपकी सेवा में संलग्न है।"

भगवान् श्रीकृष्ण को किसी विद्या का अभाव नहीं है, वे तो केवल विद्यादेवी सरस्वती को अपनी सेवा का अवसर प्रदान करते हैं। श्रीकृष्ण पूर्णकाम हैं; अतः यद्यपि उनके असंख्य भक्त हैं, फिर भी उन्हें किसी भी जीव की सेवा अपेक्षित नहीं है। यह उनकी अहैतुकी करुणा और कृपा ही है कि वे सब को अपनी सेवा करने का अवसर देते हैं, मानो उन्हें अपने भक्तों से अपनी सेवा कराने की आवश्यकता हो।

उनकी नीतिज्ञता के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत में कहा है, "तस्करों के लिए मृत्यु के समान, पुण्यात्मा पुरुषों के लिए आनन्ददायी वसन्त वायु के समान, रमणियों में परम मनोहर कामदेव के समान, बन्धु-बान्धवों के लिए आह्लादकारी पूर्ण चन्द्र के समान, दीनों में कल्याण के कल्पवृक्ष के समान, शत्रुओं के लिए भगवान् शिव के मुख की कालाग्नि के समान, व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण मथुरा पुरी का शासन कर रहे हैं।" अस्तु, नाना प्रकार के लोगों के साथ व्यवहार करने में श्रीकृष्ण पूरे नीतिज्ञ हैं। जब उन्हें चोरों के लिए कालरूप कहा जाता है तो इसका अर्थ नहीं कि वे नीतिरहित अथवा निर्दयी हैं। वे तब भी कृपामय ही हैं क्योंकि अपराधियों को मृत्यु-दण्ड देना सब प्रकार से नीतिसंगत है। भगवद्गीता में भी श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो उनसे जैसा व्यवहार करता है, वे भी उसके साथ वैसा ही करते हैं। उनका व्यवहार भक्तों और अभक्तों के साथ भिन्न-भिन्न होता है, परन्तु ये दोनों बराबर मंगलमय हैं। श्रीकृष्ण मंगलायतन

हैं, इसलिए सब के साथ उनके व्यवहार में भी मंगल ही मंगल है।

१२. बुद्धिमान्

तीक्ष्ण स्मृति और सूक्ष्म बुद्धि वाले को बुद्धिमान् कहा जाता है। श्रीकृष्ण की स्मृति की तीक्ष्णता के विषय में कथन है कि अवन्तीपुर में स्थित सान्दीपनि मुनि के आश्रम में अध्ययन करते हुए श्रीकृष्ण गुरु से एक बार जो शिक्षा सुन लेते थे, तत्काल उस विषय में पूर्ण निष्णात् हो जाते थे। वास्तव में तो सान्दीपनि के गुरुकुल में जाकर वे जगत् के सामने यह आदर्श रखना चाहते थे कि चाहे कोई कितना भी महान् अथवा दक्ष क्यों न हो, पर विद्या के लिए किसी बड़े के पास अवश्य जाना पड़ेगा। महान् से महान् व्यक्ति के लिए भी गुरुशरण में जाना अनिवार्य है।

श्रीकृष्ण की सूक्ष्म बुद्धि तब प्रकट हुई जब वे मथुरापुरी पर आक्रमणकारी म्लेच्छराज से युद्ध कर रहे थे। वैदिक विधान है कि क्षत्रिय राजाओं को म्लेच्छों को मारने के लिए भी स्पर्श नहीं करना चाहिए। अतः जब उस म्लेच्छराज ने मथुरा को घेर लिया तो श्रीकृष्ण ने उसे अपने हाथों मारना अच्छा नहीं समझा। पर उसे मारना भी अवश्य है; इसलिए अपनी सूक्ष्म बुद्धि का परिचय देते हुए श्रीकृष्ण ने युद्धभूमि से भागने का निश्चय किया, जिससे यवनराज उनका पीछा करे। तब वे उसे उस कन्दरा में ले गए जहाँ मुचुकुन्द निद्रामग्न था। मुचुकुन्द को शिवजी से यह वर था कि निद्राभग्न होने पर उसकी दृष्टि जिस पर पड़ जायगी, वह तत्क्षण भस्म हो जायगा। अतः श्रीकृष्ण बुद्धिमानी से म्लेच्छराज को उस कन्दरा में ले गए जहाँ मुचुकुन्द निद्रामग्न था और इस प्रकार उसे भस्म करा दिया।

१३. प्रतिभाशाली

जो तुरन्त नए-नए तर्कों से किसी भी विपक्ष का प्रतिकार करने में कुशल हो, उसे प्रतिभाशाली कहते हैं। इस सन्दर्भ में पद्यावली में श्रीराधा-कृष्ण का यह संवाद है। एक दिन प्रातः जब श्रीकृष्ण राधारानी के पास गए तो वे पूछने लगीं—"हे केशव! आजकल तुम्हारा वास कहाँ है?" संस्कृत में 'वास' शब्द के तीन अर्थ हैं—निवास, सुगन्ध तथा वस्त्र।

श्रीराधारानी का अभिप्राय था, "हे कृष्ण! तुम्हारा वस्त्र कहाँ है?" परन्तु श्रीकृष्ण ने उसे निवास मानकर उत्तर दिया—"हे प्रिये! इस क्षण मेरा वास तुम्हारे चंचल नेत्रों में है।"

इस पर राधारानी ने कहा—"अरे शठ! मैं निवास-स्थान को नहीं, तुम्हारे वास (वस्त्र) को पूछ रही हूँ।"

अब श्रीकृष्ण 'वास' का अर्थ सुगंध समझकर बोले—"हे सुभगे ! तुम्हारे अंगों के संसर्ग से मुझे यह सुवास प्राप्त हुआ है।"

श्रीमती राधारानी ने श्रीकृष्ण से फिर पूछा—"हे धूर्त ! तुमने रात्रि कहाँ बितायी ?" (यामिन्यामुषितः यामिन्याम्=रात्रि; उषितः=व्यतीत की)। परन्तु श्रीकृष्ण ने उस 'यामिन्यामुषितः' का प्रकारान्तर से 'यामिन्या मुषितः' पदच्छेद किया, जिसका अर्थ यह हो गया कि रात्रि ने उनका हरण किया। वे कहने लगे—"हे राधे ! भला क्या रात्रि भी चोरी करती है ?" इस प्रकार राधारानी के सब प्रश्नों का छलपूर्वक उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण इस परमप्रिया गोपी को आनन्दित कर रहे थे।

१४. विदग्ध

कला तथा विलास में अतिशय कुशल को विदग्ध कहा जाता है। यह विशेष गुण श्रीकृष्ण के स्वरूप में प्रकाशित हैं, राधारानी कहती हैं, "हे सखि ! कृष्ण कभी गीत रचते हैं, कभी विनोद करते हैं, कभी वंशी बजाते हैं, कभी नाचते हैं, मालायें गूंथते हैं और कभी ऐसा मधुर श्रृंगार करते हैं मानो उन्होंने द्यूत में सब खिलाड़ियों को जीत लिया हो। इस प्रकार परमोच्च कला का विलास करते हुए श्रीहरि अद्भुत क्रीड़ा कर रहे हैं।"

१५. चतुर

एक साथ अनेक कार्य करने की सामर्थ्य वाले को चतुर कहते हैं। एक गोपी कहती है, "हे सखियो ! कृष्ण की चातुरी भरी क्रियाओं को तो देखो। वे नाना गोपगीतों की रचना करके गोधन को आह्लादित कर रहे हैं तथा नेत्रप्रान्तों के संचालन से गोपियों को प्रसन्न और अरिष्ट आदि असुरों को भयभीत कर रहे हैं। इस प्रकार नाना जीवों के साथ नाना प्रकार से वे पूरा आनन्द उठा रहे हैं।"

१६. दक्ष

कठिन कार्य को भी सरलता से तत्काल कर देने वाला दक्ष है। श्रीकृष्ण की दक्षता के सम्बन्ध में शुकदेवजी श्रीमद्भागवत में परीक्षित से कहते हैं, "हे कुरुश्रेष्ठ ! श्रीकृष्ण ने सब योद्धाओं के नाना अस्त्रों को खण्ड-खण्ड कर दिया।" प्राचीन काल में जब धनुष-बाण से युद्ध होते थे, एक दल बाण चलाता और विपक्ष अन्य बाण से उसका प्रतिकार करके परास्त करता। उदाहरण के लिए, यदि एक दल आकाश से जल की वर्षा करने

वाले पर्जन्य-अस्त्र का प्रयोग करता तो दूसरे दल को ऐसा अस्त्र चलाना पड़ता, जिससे जल तत्काल मेघों में परिणत हो जाता। अतएव उपरोक्त वाक्य से प्रकट होता है कि श्रीकृष्ण शत्रु के बाणों का प्रतिकार करने में बड़े ही दक्ष हैं। इसी प्रकार रासलीला में जब प्रत्येक गोपी ने उनसे अपने ही साथ नृत्य करने की प्रार्थना की तो श्रीकृष्ण ने जितनी गोपियाँ थीं, उतने ही रूप धारण कर लिये। परिणामतः प्रत्येक गोपी ने उन्हें अपने साथ नाचते पाया।

१७. कृतज्ञ

जो मित्र के उपकार को मानता है और उसकी सेवा को कभी नहीं भूलता, उसे कृतज्ञ कहते हैं। महाभारत में श्रीकृष्ण का उद्‌गार है, चीरहरण के समय द्रौपदी ने जो दूर होने पर भी मुझे, 'हे गोविन्द !' कहकर पुकारा था, उसका यह ऋण मेरे हृदय से उतर नहीं सकता, निरन्तर बढ़ता ही जाता है।'' श्रीकृष्ण का यह वचन इस बात का प्रमाण है कि केवल 'हे कृष्ण। हे गोविन्द !', ऐसा कहने से उन्हें प्रसन्न किया जा सकता है।

महामन्त्र **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** भी श्रीभगवान् और उनकी शक्ति का सम्बोधन है। जब एक बार पुकारने से भी भगवान् चिरऋणी हो जाते हैं तो जो नित्य-निरन्तर भगवान् और उनकी शक्ति का नाम लेता रहता है, उसके वे कितने ऋणी हो जाते हैं—इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। भगवान् उस भक्त को कभी नहीं भूल सकते। श्लोक से स्पष्ट है कि भगवान् को पुकारने वाला तत्काल भगवान् के ध्यान को आकर्षित कर लेता है; वे उसके सदा के ऋणी बन जाते हैं।

श्रीकृष्ण की कृतज्ञता का एक अन्य उदाहरण जाम्बवान् से उनके व्यवहार में दृष्टिगोचर होता है। जब वे रामरूप में प्रकट हुए थे तो ऋषराज जाम्बवान् ने उनकी बड़ी ही श्रद्धापूर्वक सेवा की थी। अतः फिर जब वे कृष्णरूप में प्रकट हुए तो उन्होंने जाम्बवान् की कन्या का पाणिग्रहण कर उसका गुरुजनों के सदृश सम्मान किया। साधुजन अपने प्रति किए अल्प उपकार को भी कभी नहीं भूलते; फिर साधुओं की कोटि के मुकुट-मणि श्रीकृष्ण का तो कहना ही क्या है, अर्थात् वे अपने सेवक को कैसे भुला सकतें हैं।

१८. सुदृढ़व्रत

जिसके नियम और प्रतिज्ञा, दोनों सदा सत्य रहें, वह सुदृढ़व्रत है।

श्रीकृष्ण के सत्यप्रतिज्ञ होने का उदाहरण हरिवंश में है। इसका सम्बन्ध श्रीकृष्ण और इन्द्र के उस युद्ध से है, जब श्रीकृष्ण ने नन्दनकानन से बलपूर्वक पारिजात का हरण किया था। एक समय सत्यभामा ने पारिजात के पुष्पों की इच्छा की तो श्रीकृष्ण ने वचन दिया कि वे उसे अवश्य लायेंगे। परन्तु इन्द्र ने पारिजात को देना स्वीकार नहीं किया। इस पर घोर युद्ध हुआ। पाण्डवों सहित श्रीकृष्ण एक ओर थे और दूसरी ओर सारे देवता थे। अन्त में श्रीकृष्ण उन सब को हरा कर पारिजात को ले गए तथा रानी सत्यभामा को भेंट किया। इसी घटना के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण नारदजी से कहते हैं, "हे देवर्षि नारदजी ! तुम सब भक्तों में और अभक्तों में यह घोषणा कर दो कि पारिजात-हरण में सब देवताओं ने मुझे हराने का प्रयत्न किया, परन्तु अपनी रानी को दिए मेरे वचन को कोई भी असत्य नहीं कर सका। वास्तव में मेरी प्रतिज्ञा को मिथ्या करने में न गन्धर्व समर्थ हो सकते हैं, न राक्षस, न यज्ञ, न असुर और न पन्नग ही समर्थ हो सकते हैं।"

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण की यह प्रतिज्ञा भी है कि उनके भक्त का कभी नाश नहीं होता। अत: निरन्तर भगवत्सेवा में लगे सच्चे भक्त को दृढ़ विश्वास रखना चाहिए कि श्रीकृष्ण अपनी प्रतिज्ञा को कदापि भंग नहीं करेंगे। चाहे जो हो, वे सदा अपने भक्त की रक्षा करेंगे।

सत्यभामा को पारिजात भेंट कर, द्रौपदी की लाज बचाकर तथा अर्जुन की सब शत्रुओं से रक्षा करके श्रीकृष्ण ने इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण दिए हैं कि वे सत्यप्रतिज्ञ हैं।

गोवर्धनलीला में परास्त हो जाने पर इन्द्र ने भी भगवान् की इस प्रतिज्ञा को सत्य स्वीकार किया है कि उनके भक्त का कदापि नाश नहीं होता। जब श्रीकृष्ण ने व्रजवासियों को इन्द्र की उपासना से रोका तो इन्द्र क्रुद्ध होकर वृन्दावन को मूसलाधार वर्षा से प्लावित करने लगा। परन्तु गोवर्धन पर्वत को छत्र के समान हाथ में उठाकर श्रीकृष्ण ने वृन्दावन के सारे वासियों और पशुओं को बचा लिया। इस घटना के बाद इन्द्र उनकी शरण में आकर नाना प्रकार से स्तुति करने लगा। उसने कहा, "गोवर्धन पर्वत को धारण कर व्रजवासियों की रक्षा करके आपने अपनी इस प्रतिज्ञा को सत्य किया है कि मेरे भक्तों का कभी नाश नहीं होता।

१९. देशकालसुपात्रज्ञ

श्रीकृष्ण देश, काल, सामग्री और पात्र के अनुसार लोगों से व्यवहार

करने में अतिशय कुशल हैं। वे देश, काल और पात्र से किस प्रकार पूर्ण लाभ लेते, इसका एक उदाहरण श्रीमद्भागवत में उद्धव से गोपियों के सम्बन्ध में कहा गया स्वयं उनका एक वाक्य है, "हे सखे ! आज की शारदीय पूर्णिमा की रात्रि जैसा उत्तम समय नहीं हो सकता; त्रिभुवन में वृन्दावन से बढ़कर कोई स्थान नहीं मिल सकता तथा गोपियाँ अप्रतिम सुन्दरी हैं। इसलिए हे उद्धव ! मेरा मन रासोत्सव के लिए बारम्बार उत्कण्ठित हो रहा है।"

२०. शास्त्रचक्षु

जो शास्त्र के अनुसार ही सब कर्म करता है, वह शास्त्रचक्षु है, —जो प्रामाणिक शास्त्रों की दृष्टि से देखे। वास्तव में किसी भी ज्ञानी तथा अनुभवी व्यक्ति को सम्पूर्ण तत्त्व इन्हीं ग्रन्थों की दृष्टि से देखना चाहिए। उदाहरण के लिए, साधारण नेत्रों से देखने पर सूर्यमण्डल केवल एक छोटा सा देदीप्यमान् पिण्ड प्रतीत होता है; परन्तु प्रामाणिक वैज्ञानिक पुस्तकों की दृष्टि से ज्ञात होता है कि सूर्य इस पृथ्वी से अनेक गुणा बड़ा और शक्तिशाली है। अतः चर्म-चक्षुओं से देखना यथार्थ देखना नहीं हैं। प्रामाणिक पुस्तक अथवा प्रामाणिक शिक्षक के माध्यम से देखना ही यथार्थ देखना है। इसलिए यद्यपि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं और भूत, वर्तमान् और भविष्य को पूर्ण रूप से जानते हैं, फिर भी लोकशिक्षा के हेतु वे सदा शास्त्र का आश्रय लेते हैं। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा है, वह अधिकारी के रूप में कहा है। फिर भी उन्होंने वेदान्तसूत्र का प्रमाण दिया। श्रीमद्भागवत में किसी का परिहास है कि कंस के शत्रु श्रीकृष्ण को शास्त्रचक्षु कहा जाता है। परन्तु अपनी प्रामाणिकता को स्थापित करने के लिए वे गोपियों को ही देख रहे हैं, जिससे उन गोपियों को उन्माद हो चला है।

२१. शुचि

शुचिता दो प्रकार की होती है। एक अपनी शुचिता से दूसरों के पाप का नाश करके उन्हें शुद्ध बना देना और दूसरा प्रकार स्वयं पापों से रहित होना। इनमें से किसी भी कोटि का शुचि व्यक्ति पावन कहा जाता है। श्रीकृष्ण में ये दोनों गुण हैं। वे सारे पापात्मा बद्ध जीवों का उद्धार कर सकते हैं और साथ ही स्वयं कभी कोई पापकर्म नहीं करते।

इस सन्दर्भ में धृतराष्ट्र को परिवार की आसक्ति से निवृत्त करने के लिए प्रयत्न करते हुए विदुर का वाक्य है, "हे अग्रज ! ऋषि-मुनि उत्तम श्लोकों में जिनकी धवल कीर्ति का गान करते हैं, उन पावनों के भी पावन भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों में ही अपने मन को एकाग्र करो। निःसन्देह शिव, ब्रह्मा, आदि बहुत से देवता हैं, परन्तु उनकी पावनता नित्य श्रीकृष्ण की कृपा पर ही निर्भर है।" विदुर ने धृतराष्ट्र को परामर्श दिया कि वह एकाग्रचित्त से केवल श्रीकृष्ण की आराधना करे। यदि कोई पावन कृष्णनाम का जप करे तो यह नामरूपी देदीप्यमान् सूर्य हृदय में उदित होकर तत्काल सम्पूर्ण पापरूप अंधकार को दूर कर देगा। अतः विदुर ने धृतराष्ट्र से निरन्तर कृष्ण का ही चिन्तन करने को कहा, जिससे पापपुंज तत्क्षण भस्म हो जाये। भगवद्गीता में अर्जुन भी श्रीकृष्ण को **परं ब्रह्म परं धाम पवित्रम्**—परम पवित्र कहता है। श्रीकृष्ण की परम पावनता के और भी अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं।

२२. वशी

जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है, उसे वशी, अर्थात् जितेन्द्रिय कहा जाता है। श्रीमद्भागवत में उल्लेख है, "श्रीकृष्ण की सभी १६००० स्त्रियाँ इतनी अनिन्द्य सुन्दरी थीं कि उनके उद्दाम भाव, मनोहर हास और लज्जा को देखकर शिव आदि देवों का मन भी मोहित हो जाता था। परन्तु अपने इस कमनीय हाव-भाव से भी वे श्रीकृष्ण के चित्त को तनिक भी विचलित नहीं कर सकीं।" श्रीकृष्ण की १६००० स्त्रियों में से प्रत्येक यही समझती थी कि वे उसकी कमनीयता पर मुग्ध हैं; पर वास्तव में ऐसा न था। अतः श्रीकृष्ण सर्वोत्तम जिनेन्द्रिय हैं और यह भगवद्गीता में भी स्वीकृत है; वहाँ उन्हें हृषिकेश—इन्द्रियों का स्वामी कहा गया है।

२३. स्थिर

जो अभीष्ट फल की प्राप्ति होने तक निरन्तर कार्यशील रहता है, वह स्थिर है। स्यमन्तमणि को खोजते समय श्रीकृष्ण न तो वन में घुसने से घबराए और न ॠक्षराज जाम्बवान् के स्थान में घुसने के भय से उन्हें चिन्ता हुई। वरन् स्थिरतापूर्वक मणि को प्राप्त करके की द्वारका को लौटे।

२४. दान्त

जो पुरुष उचित होने पर दुःसह कष्ट को भी सहन कर लेता है, वह दान्त है।

जिस समय श्रीकृष्ण गुरुकुल में निवास कर रहे थे, तो कोमलांग होते हुए उन्होंने गुरुसेवा में होने वाले क्लेश को सहर्ष सहन किया। शिष्य का कर्तव्य है कि कष्टों को गिने बिना निश्छल भाव के साथ सब प्रकार से गुरु की सेवा करे। गुरुकुल में रहते हुए शिष्य को द्वार-द्वार से भिक्षा करके गुरु को समर्पित करनी होती है। प्रसाद ग्रहण के समय गुरु एक-एक शिष्य को पुकारते हैं। यदि किसी कारणवश वे किसी शिष्य को प्रसाद के लिए बुलाना भूल जायें तो शास्त्रों में विधान है कि अपने-आप भोजन करने के स्थान पर उस दिन उपवास ही करना चाहिए। ऐसे बहुत से विधान हैं। श्रीकृष्ण कभी-कभी वन में ईंधन लाने भी जाते थे।

२५. क्षमाशील

जो अपने विरोधी के सब अपराधों को सहन करता है, वह क्षमाशील कहलाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण की क्षमा का वर्णन महाभारत में है, जब उन्होंने शिशुपाल का वध किया था। शिशुपाल चेदि का राजा था। श्रीकृष्ण का मौसेरा भाई होते हुए भी वह उनसे सदा द्वेष करता रहता। जब भी वे मिलते, शिशुपाल श्रीकृष्ण का अपमान करता और यथाशक्ति अपशब्द कहता। महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भी उसने ऐसा ही किया; परन्तु श्रीकृष्ण ने उपेक्षापूर्वक उसे कोई उत्तर नहीं दिया। वहाँ उपस्थित कुछ लोग शिशुपाल का वध करने को उद्यत हुए तो भी श्रीकृष्ण ने उनका भी निषेध कर दिया। वे स्वभाव से ही क्षमाशील थे। प्रसिद्ध है कि सिंह मेघ की गर्जना को सुनकर हुंकार करता है, मूर्ख श्रृंगालों के शब्द को सुनकर नहीं।

श्रीयामुनाचार्य श्रीकृष्ण की क्षमाशीलता की स्तुति करते हुए कहते हैं, "हे रघुवर ! शरणागत समझ कर आप जानकी के चरण में चोंच मारने वाले उस काक के प्रति भी दयालु बन गए।" एक समय देवराज इन्द्र ने काक रूप में भगवान् राम की अर्धांगिनी जानकी के चरण में घाव कर दिया। जगन्माता सीता के इस अपमान को देखकर श्रीराम तत्काल उस उद्धत काक का वध करने को उद्यत हो गए। परन्तु वह त्राहि-त्राहि करता हुआ उनके चरणों में गिर पड़ा; अतः भगवान् ने उसे क्षमादान दिया। श्रीयामुनाचार्य आगे कहते हैं कि श्रीकृष्ण की क्षमाशीलता भगवान् राम से भी विशेष है। शिशुपाल तीन जन्मों से लगातार उनका अपमान कर रहा था; फिर भी श्रीकृष्ण इतने क्षमाशील हैं कि उन्हें शिशुपाल को सायुज्य

मुक्ति प्रदान की। इससे सिद्ध हो जाता है कि भगवान् की ब्रह्मज्योति में लीन होना, जो अद्वैतवादियों का लक्ष्य है, बहुत कठिन कार्य नहीं है। शिशुपाल जैसे लोग, जो जन्म-जन्म में श्रीकृष्ण का अपराध करते हैं, उन्हें तक यह मुक्ति मिल सकती है।

२६. गम्भीर

जो पुरुष अपने मनोभाव को सब से प्रकट नहीं करता, अथवा जिसके मन का आशय जानना बड़ा कठिन हो, वह गम्भीर कहा जाता है। जब ब्रह्मा से भगवान् श्रीकृष्ण का अपराध बन बैठा तो उसने क्षमा-याचना की। परन्तु उत्तम स्तुति करने पर भी वह यह नहीं समझ सका कि श्रीकृष्ण तुष्ट हो गए या अब भी रुष्ट हैं। भाव यह है कि श्रीकृष्ण ने गम्भीरता का परिचय देते हुए ब्रह्मस्तुति पर ध्यान नहीं दिया। गम्भीरता का एक अन्य उदाहरण राधारानी से श्रीकृष्ण के प्रेमविलास में है। श्रीकृष्ण राधा से अपने प्रेम के विषय में इतने गम्भीर रहते कि उनके अग्रज और चिरसंगी बलरामजी तक उनके मन के भाव को नहीं जान पाते।

२७. धृतिमान्

जिसकी सब इच्छायें पूर्ण हो चुकी हैं, इसलिए जो आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है और क्षोभ का महान् कारण होने पर भी शान्त बना रहता है, वह धृतिमान् है।

श्रीकृष्ण की पूर्णस्पृहत्व का एक उदाहरण वह घटना है जब वे अर्जुन-भीम के साथ मगधराज जरासन्ध को चुनौति देने गए और श्रीकृष्ण ने जरासन्ध-वध का पूर्ण श्रेय भीम को दिया। इससे स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण यश की इच्छा कभी नहीं करते, यद्यपि वास्तव में उन सा यशोमय दूसरा कोई नहीं हो सकता।

क्षोभ का कारण होने पर भी शान्त रहने का गुण तब प्रकट हुआ जब शिशुपाल उन्हें अपशब्द कह रहा था। इस पर वहाँ विद्यमान सभी राजा और ब्राह्मण क्षुब्ध हो कर तत्काल उत्तम स्तुतियों से श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने लगे। परन्तु उन सब को श्रीकृष्ण में कुछ भी क्षोभ दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

२८. समता

जो राग-द्वेष से मुक्त हो उसे सम कहते हैं।

श्रीकृष्ण की समता का उदाहरण श्रीमद्भागवत (१०.१६.३३) में

कालियदमन-लीला में है। जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण कालिय को दण्डित कर रहे थे, तब उसकी स्त्रियाँ भगवान् के आगे कर यह विनती करने लगीं, "हे नाथ ! हमारे इस पापात्मा पति कालिय नाग को आपने जो दण्ड दिया है वह सर्वथा योग्य ही है, क्योंकि सब प्रकार के आसुरी जीवों का निग्रह करने के लिए आपका अवतार हुआ है। हम जानती हैं कि आप अपने शत्रुओं और पुत्रों को समान समझते हैं। इसलिए हे प्रभो ! आपने इस अधम का दमन इसके कल्याण के लिए ही किया है।"

एक अन्य स्तुति में कहा है, "हे कृष्ण ! हे यदुवर ! आप इतने समद्रष्टा हैं कि यदि शत्रु योग्य हो तो उसका भी सम्मान करते हैं और पुत्र भी दुष्ट है तो उसके लिए भी दण्ड का विधान करते हैं। यही आपका कार्य है क्योंकि आप सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों के रचयिता हैं। आप सब प्रकार के पक्षपात से रहित हैं। यदि किसी को आपकी कोई चेष्टा विषम प्रतीत हो तो निश्चित रूप से यह केवल उसका भ्रम है।"

२९. वदान्य

दानवीर पुरुष, जो उदारता से दान देता है, वह वदान्य कहलाता है।

जब श्रीकृष्ण द्वारका में राज्य कर रहे थे, तब उनकी उदारता तथा दानवीरता की कोई अवधि न थी। वस्तुतः उनकी उदारता इस सीमा पर थी कि चिन्तामणि, सुरभि तथा कल्पवृक्षों आदि ऐश्वर्यों से युक्त वैकुण्ठ-जगत् का भी द्वारका में अतिक्रमण हो गया। श्रीकृष्ण के गोलोक-वृन्दावन नामक दिव्य धाम में सुरभि नामक गायें अपरिमित मात्रा में दुग्धामृत प्रदान करती हैं। वहाँ ऐसे असंख्य कल्पतरु हैं जिनसे सब प्रकार के फल यथेष्ट संख्या में प्राप्त किए जा सकते हैं। भूमि उस चिन्तामणि से रचित है, जिसके संसर्ग से लोहा भी स्वर्ण बन जाता है। भाव यह है कि श्रीकृष्ण के दिव्य धाम में सब कुछ अद्भुत ऐश्वर्यमय है। फिर भी जब श्रीकृष्ण द्वारका में विराजमान थे तो उनकी उदारता गोलोक-वृन्दावन के ऐश्वर्य से कहीं बढ़-चढ़ कर थी। श्रीकृष्ण जहाँ भी रहते हैं, गोलोक-वृन्दावन का अनन्त ऐश्वर्य स्वतः रहता है।

यह भी उल्लेख है कि द्वारका में श्रीकृष्ण १६१०८ रूपों में प्रत्येक महिषी के साथ अलग महल में रहते थे। वे अपनी रानियों के साथ उन महलों में सुख से रहते ही नहीं थे, अपितु प्रत्येक महल से नित्य नियम से सुन्दर वस्त्र और अलंकारों से युक्त १३०५४ गौओं का दान भी करते थे

इस प्रकार वे प्रतिदिन कुल १६१०८×१३०५४ गौओं का दान करते थे। इतने विशाल गोधन के दान के मूल्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती; परन्तु द्वारका पर राज्य करते हुए श्रीकृष्ण का तो यह साधारण दैनिक कार्य था।

३०. धार्मिक

जो स्वयं शास्त्र-विहित धर्म का आचरण करता है और दूसरों को भी उसकी शिक्षा देता है, वह धार्मिक है। केवल किसी मत में विश्वास होना धार्मिकता का द्योतक नहीं है। यह आवश्यक है कि स्वयं धर्म का आचरण करे और अपने निजी उदाहरण से दूसरों को भी शिक्षित करे। ऐसा व्यक्ति ही यथार्थ में धार्मिक है।

इस धराधाम पर श्रीकृष्ण की उपस्थिति के काल में यहाँ अधर्म का नाम भी नहीं था। इस सन्दर्भ में नारदजी ने एक बार श्रीकृष्ण से परिहास में कहा था, "हे गोपेन्द्र ! आपके बैलरूपी धर्म के चारों चरण इस प्रकार बढ़े कि उसने अधर्म रूप सारी जात-पात को खा डाला।" भाव यह है कि श्रीकृष्ण की कृपा से धर्म का इस अच्छी प्रकार से रक्षण होता था, जिससे अधर्म देखने को भी दुर्लभ हो गया।"

प्रसिद्ध है कि श्रीकृष्ण निरन्तर नाना यज्ञों में देवताओं का आह्वान करते रहते थे, जिससे वे देवता अपनी स्त्रियों से सदा दूर रहते। अतः पतियों के वियोग से संतप्त उनकी स्त्रियाँ कलियुग में प्रकट होने वाले भगवान् श्रीकृष्ण के नौवें अवतार बुद्धदेव के लिए प्रार्थना करने लगीं। भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार से प्रसन्न होने के स्थान पर वे बुद्धदेव से अवतीर्ण होने की याचना करने लगीं, क्योंकि पशु-हिंसा रोकने के लिए बुद्धदेव वैदिक यज्ञों का निषेध कर देते हैं। देवांगनाओं ने विचार किया कि यदि बुद्धदेव का अवतार हो गया तो यज्ञ बन्द हो जायेंगे, जिससे उनका अपने पतियों से विछोह नहीं होगा।

कभी-कभी जिज्ञासा होती है कि आजकल देवगण स्वर्ग से पृथ्वी पर क्यों नहीं आते ? इसका सीधा सा उत्तर यह है कि जब से भगवान् बुद्ध ने प्रकट होकर पशु-हिंसा रोकने के लिए यज्ञानुष्ठान का निषेध किया है, तब से यज्ञ-विधि का लोप सा हो गया है। अतः अब देवता यहाँ नहीं आते।

अध्याय २२

श्रीकृष्ण के गुण (२)

३१. शूर

जो युद्ध करने में उत्साही और नाना अस्त्रों के प्रयोग में दक्ष हो उसे शूर कहा गया है।

श्रीकृष्ण की शूरवीरता के सम्बन्ध में एक वाक्य है, "हे रिपुनाशन! सरोवर में नहाता गजराज जैसे सूंड के वेग से जल में सभी कमलों का उच्छेद कर देता है, वैसे ही गजतुण्ड-तुल्य अपनी भुजाओं के उत्तोलन से आपने कितने ही शत्रु रूपी कमलों का मर्दन कर दिया है।"

श्रीकृष्ण की अस्त्र-प्रयोग-दक्षता के विषय में यह उल्लेखनीय है कि जब जरासन्ध ने १६,००० अक्षौहिणी सेना के साथ श्रीकृष्ण के दल पर आक्रमण किया तो वह उनके एक भी सैनिक को आहत नहीं कर सका। यह श्रीकृष्ण की दक्ष युद्धशिक्षा के कारण हुआ, जो युद्धकला के इतिहास में अद्वितीय है।

३२. करुण

जिसके लिए दूसरे का दुःख असह्य हो, वह करुण है।

श्रीकृष्ण का कारुण्य उस समय प्रकट हुआ जब उन्होंने मगधेन्द्र के बन्दी राजाओं का मोचन किया। अपनी मरण-शय्या पर श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए भीष्मपितामह ने कहा कि वे उस सूर्य के समान हैं जो अज्ञानरूप अन्धकार को हरता है। मगधेन्द्र ने अपने बन्दी राजाओं को अंधकारमय कक्षों में डाल रखा था। श्रीकृष्ण के वहाँ प्रकट होते ही अंधकार तत्काल दूर हो गया, मानो सूर्य उदित हो गया हो। भाव यह है कि मगधेन्द्र ने जितने भी राजा बन्दी बनाए थे, वे सब श्रीकृष्ण के वहाँ आते ही मुक्त हो गए। राजाओं पर अपनी अहैतुकी करुणा से अभिभूत होकर ही श्रीकृष्ण ने ऐसा किया।

श्रीकृष्ण की करुणा तब भी अभिव्यंजित हुई थी जब पितामह भीष्म बाणविद्ध अवस्था में पड़े थे। इस अवस्था में भीष्म श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ अत्यन्त आतुर हो उठे, अतः श्रीकृष्ण को आना पड़ा। भीष्म की दयनीय अवस्था का अवलोकन करके श्रीकृष्ण अश्रुविमोचन करते हुए शोक करने लगे। वे आँसु ही नहीं बरसा रहे थे, बल्कि करुणा की बाढ़ में अपनी सुध-बुध भी भूल गए। इसीलिए सीधे श्रीकृष्ण को प्रणाम न करके भक्तजन उनकी करुणा को नमस्कार करते हैं। श्रीकृष्ण की प्राप्ति बड़ी कठिन है, क्योंकि वे परात्पर भगवान् हैं। परन्तु भक्त सदा राधारानी से प्रार्थना करते हैं, क्योंकि वे उनकी करुणा की मूर्तरूपा है।

३३. मान्यमानकृत

गुरु, ब्राह्मण तथा वृद्धों का पर्याप्त सम्मान करने वाला मान्यमानकृत कहलाता है।

जब पूज्यजन श्रीकृष्ण के समक्ष एकत्र होते तो श्रीकृष्ण क्रम से गुरुदेव, पिता और अग्रज बलरामजी को नमस्कार करते थे। इस प्रकार कमलनयन श्रीकृष्ण सम्पूर्ण व्यवहार में प्रसन्न और निर्मलहृदय थे।

३४. विनयी

जिसमें औद्धत्य तथा अभिमान का अभाव हो वह विनयी है।

श्रीकृष्ण का विनयी स्वभाव तब प्रकट हुआ जब वे युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में पधारे। महाराज युधिष्ठिर जानते थे कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, इसलिए उनकी अगवानी के लिए वे रथ से उतर रहे थे। परन्तु इससे पहले कि वे उतर पायें भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं अपने रथ से उतर पड़े और आगे दौड़ कर युधिष्ठिर का चरणस्पर्श किया। यद्यपि श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं, फिर भी अपने व्यवहार में वे सदाचार का पालन करना कभी नहीं भूलते।

३५. दक्षिण

सुशील स्वभाव के कारण जिसका व्यवहार बड़ा मृदु और कोमल हो,उसे दक्षिण कहा जाता है।

स्यमन्तकमणि हरण के प्रसंग में उद्धव के एक वाक्य से प्रमाणित होता है कि श्रीकृष्ण बड़े ही दयामय और कृपालु हैं। वे सेवक के महान् अपराध पर भी ध्यान नहीं देते, बस भक्त की सेवा देखते हैं।

३६. ह्रीमान्

जो पुरुष कभी-कभी शील-संकोच व्यक्त करता है, उसे ह्रीमान् कहते हैं।

जैसा 'ललितमाधव' में वर्णन है, अपनी कनिष्ठ अंगुली पर गोवर्धन धारण करते समय श्रीकृष्ण में लज्जाभाव प्रकट हुआ था । सारी गोपियाँ श्रीकृष्ण के इस अद्‌भुत कृत्य को निहार रही थीं और वे भी गोपियों को देखकर मुस्करा रहे थे । जब उनकी दृष्टि गोपियों के वक्षः-स्थल पर गई तो हाथ के कंपन से गोवर्धन तनिक-सा हिल गया जिससे उसके नीचे खड़े सब गोपवृन्द कुछ भयभीत से हो गए । गोपों के इस भय को देखकर बलराम जी हँस पड़े । परन्तु श्रीकृष्ण समझे कि बलराम ने गोपियों के वक्षःस्थल को देखने में उनके मनोभाव को जान लिया है, इसलिए लज्जित होकर उन्होंने तुरन्त सिर झुका लिया ।

३७ शरणागत-पालक

श्रीकृष्ण सब शरणागत जीवों के रक्षक हैं।

श्रीकृष्ण का एक शत्रु तो इस विचार से ही मुग्ध हो उठा कि यदि वह केवल श्रीकृष्ण के शरणागत हो जाय तो वे सब प्रकार से उसकी रक्षा करेंगे । श्रीकृष्ण उस चन्द्रमा के समान हैं जो चाण्डाल और अस्पृश्यों के घरों पर भी अपनी शीतल चन्द्रिका का वितरण करने में संकोच नहीं करता ।

३८. सुखी

निरन्तर प्रसन्न रहते हुए दुःख की गन्ध तक से सदा दूर रहने वाला सुखी कहलाता है ।

जहाँ तक श्रीकृष्ण द्वारा सुख के भोग का सम्बन्ध है, शास्त्रों में उल्लेख है कि श्रीकृष्ण एवं उनकी महिषियों के श्रीअंग जिन अलंकारों से से विभूषित रहते थे, स्वर्ग के कोषाध्यक्ष कुबेर के लिए उनका मनोरथ करना भी असम्भव है । श्रीकृष्ण के राजद्वार पर निरन्तर जो नृत्य चलता था, स्वर्ग के देवता उसकी स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकते । स्वर्ग में इन्द्र सदा अप्सराओं के नृत्य को देखने में डूबे रहते हैं । परन्तु श्रीकृष्ण के द्वार पर अभिनीत नृत्य का सौन्दर्य इन्द्र के अनुमान से परे का था । गौरी से भी अधिक सुन्दर और चन्द्रकलाओं से पूर्ण सुन्दरियों का निरन्तर श्रीकृष्ण के पास अन्तःपुर में निवास था । अतः श्रीकृष्ण से बढ़कर भोगी और कौन

हो सकता है। भोग की तीन वस्तुएँ हैं—सुन्दर स्त्रियाँ, अलंकार एवं धन। ये सभी श्रीकृष्ण के महलों में विद्यमान थीं, जिससे शिव, कुबेर, इन्द्र, आदि की कल्पना तक परास्त हो जाती थी।

लेशमात्र दुःख भी कभी श्रीकृष्ण का स्पर्श नहीं कर सकता। एक बार कुछ गोपियों ने याज्ञिक ब्राह्मणों की पत्नियों के पास जाकर कहा था, "हे ब्राह्मणपत्नियो! तुम यह जान लो कि श्रीकृष्ण को दुःख की गन्ध भी नहीं छू सकती। उन्हें न हानि की, न ग्लानि की, न अपयश की और न भय, उद्वेग या उत्पात की कोई चिन्ता है। वे तो बस व्रजांगनाओं से घिरे हुए उनके साथ रासरस का दिन-रात उपभोग करते रहते हैं।

३९. भक्तसुहृद

भक्तिभाव से तुलसी का एक पत्ता अथवा अंजलि भर जल को अपर्ण करने से भी भक्तवत्सल भगवान् अपने आत्मा को भक्तों के हाथ बेच देते हैं।

श्रीकृष्ण भक्तसुहृद हैं, यह भीष्म के साथ उनके युद्ध में भलीभाँति प्रकट हुआ है। जिस समय भीष्म बाणों की शय्या पर मरणासन्न अवस्था में पड़े थे, तो श्रीकृष्ण भी वहाँ उनके आगे उपस्थित थे। भीष्म को युद्ध का वह दृश्य स्मरण हो आया जब श्रीकृष्ण ने उन पर कृपा की थी। श्रीकृष्ण की प्रतिज्ञा थी कि वे कुरुक्षेत्र के युद्ध में किसी भी दल की ओर से अस्त्र को हाथ भी नहीं लगायेंगे, पूर्ण रूप से तटस्थ रहेंगे। अर्जुन के सारथि होते हुए भी उनका प्रण था कि वे किसी अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग से उसकी सहायता नहीं करेंगे। परन्तु श्रीकृष्ण की इस प्रतिज्ञा को भंग कराने के लिए भीष्म ने एक दिन अर्जुन के विरुद्ध ऐसा अतुल पराक्रम प्रकट किया कि श्रीकृष्ण अपने रथ से उतरने को बाध्य हो गए। एक खण्डित रथ के पहिए को उठा कर पितामह की ओर दौड़े, मानो कोई सिंह गजराज को मारने के लिए जा रहा हो। मरण-शय्या पर इस मार्मिक दृश्य को स्मरण करके भीष्मदेव ने अपने भक्त अर्जुन के प्रति वात्सल्यवश अपनी प्रतिज्ञा भंग करने में भी संकोच न करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण का जय-जयकार किया।

४०. प्रेमवश्य

श्रीकृष्ण भक्त के प्रेमभाव से वशीभूत हो जाते हैं। इसमें प्रेम ही प्रधान है, सेवा का प्रकार नहीं। वैसे तो कोई भी श्रीकृष्ण की पूर्ण सेवा

नहीं कर सकता। वे अपने में सब प्रकार से पूर्ण एवं तृप्त हैं; अतः भक्त से किसी प्रकार की सेवा की उन्हें अपेक्षा नहीं है। श्रीकृष्ण के लिए भक्त का प्रेम और स्नेह ही उन्हें वशीभूत करता है। श्रीकृष्ण की इस प्रेम-वश्यता का एक सुन्दर उदाहरण तब अभिव्यक्त हुआ जब सुदामा विप्र उनके महल में आया। पूर्व में वह श्रीकृष्ण का सहपाठी रह चुका था; अब दरिद्रता-निवारण के लिए स्त्री की प्रेरणा से श्रीकृष्ण के पास आया था। श्रीकृष्ण ने उसका हार्दिक सत्कार किया और स्त्रियों सहित ब्राह्मण समझ कर उसका पद-प्रक्षालन किया। मित्र से मिलते हुए श्रीकृष्ण उसके साथ शैशव के प्रेमविहारों की स्मृति से प्रेमाश्रु बहाने लगे।

श्रीकृष्ण की प्रेमवश्यता का एक अन्य उदाहरण श्रीमद्भागवत (१०.९.१८) में है। शुकदेव गोस्वामी परीक्षित से कहते हैं, "हे राजन्! अपने को पकड़ने के लिए पीछे-पीछे दौड़ती माता यशोदा को पसीने से तर और बहुत श्रान्त हुआ जानकर श्रीकृष्ण स्वयं बँध गए।" बालकृष्ण अपने चपल क्रीड़ा से माता को बहुत तंग करते, इसलिए माता उन्हें बाँधना चाहती थीं। वे घर में से रस्सी ले आईं और उन्हें बाँधने लगीं। परन्तु रस्सी में गाँठ नहीं लग सकी। उन्होंने रस्सी कितनी भी बढ़ायी, पर वह छोटी ही रही। इससे उन्हें बहुत अधिक परिश्रम हुआ और शरीर से स्वेद-स्राव हो चला। उस समय श्रीकृष्ण स्वयं माता के बन्धन में आ गए। भाव यह है कि श्रीकृष्ण को प्रेम से ही बाँधा जा सकता है। भक्त उन्हें प्रेम करते हैं, इसलिए वे उनके प्रेमवश्य हैं।

४१. सर्वशुभंकर

जो सदा सब का हितकारी हो, उसे सर्वशुभंकर कहते हैं।

इस धराधाम से श्रीकृष्ण के अप्रकट हो जाने पर उद्धव उनकी लीलाओं का स्मरण करके कहने लगा, "अपने अद्भुत लीला-चरित से सब मुनियों को कृतार्थ किया, क्रूर राजवंशों की सारी आसुरी क्रियाओं को समाप्त किया; पुण्यात्माओं को बचाया और युद्ध में सभी क्रूरकर्मी पुरुषों को मार डाला। अतः वे सभी के लिए कल्याणकारी हैं।"

४२. प्रतापी

शत्रुओं को संकट में डालने वाला प्रतापी कहलाता है।

जिस समय श्रीकृष्ण इस पृथ्वी पर विद्यमान थे, तब जैसे प्रतापी सूर्य सम्पूर्ण अन्धकार को कन्दराओं की शरण में खदेड़ देता है, वैसे ही उनके शत्रुरूप उलूक उनकी दृष्टि से दूर जा छिपे।

४३. कीर्तिमान्

निर्मल चरित के कारण प्रसिद्ध पुरुष कीर्तिमान् कहलाता है।

श्रीकृष्ण के यश का प्रसारण उस चन्द्रकौमुदी के समान है जो कालिमा को भी शुभ्र ज्योत्स्ना में बदल देती है। अर्थात्, यदि कृष्णभावना का सम्पूर्ण जगत् में प्रसार किया जाय तो भवरोग का उद्वेग और अन्धकार शुद्धता, शान्ति और समृद्धि की शुभ्र ज्योत्स्ना में परिणत हो जायगा।

देवर्षि नारद के वीणा पर श्रीकृष्ण की कीर्ति का गान करने पर शिवजी का कण्ठ नीला न रहा। यह देखकर परपुरुष की आशंका से गौरी ने शिवजी को त्याग दिया; लीलाम्बरधारी बलराम जी ने अपने वस्त्र को श्वेत देखकर फेंक दिया; तथा यमुनाजल को दूध हुआ देखकर गोपियाँ उससे मक्खन का मन्थन करने लगीं। भाव यह है कि कृष्णभावना के प्रसार से सब कुछ शुद्ध और शुभ्र हो जाता है।

४४. रक्तलोक

जो पुरुष सम्पूर्ण लोक का प्रीतिभाजन हो, उसे रक्तलोक कहते हैं।

श्रीकृष्ण की लोकप्रियता का उदाहरण श्रीमद्भागवत (१.११.९) में है जब वे हस्तिनापुर से घर लौटे थे। कुरुक्षेत्र के युद्ध में द्वारका से उनकी अनुपस्थिति के कारण सारे द्वारकावासी बहुत हतप्रभ हो गए थे। फिर जब वे लौटे तो सारे निवासियों ने बड़े ही हर्षोल्लास सहित उनका अभिवादन किया और कहा, "हे नाथ ! जब आप यहाँ से चले जाते हैं तो आपके बिना एक-एक क्षण रात्रि के समान अंधकारमय, करोड़ों वर्ष के जैसा हो जाता है। हमारे लिए आपका विरह असह्य है।" इस वाक्य से पता चलता है कि श्रीकृष्ण सम्पूर्ण देश में कितने लोकप्रिय थे।

ऐसी ही घटना तब घटी जब श्रीकृष्ण उस यज्ञमण्डप में आए, जिसका आयोजन राजा कंस ने अपने ही मरण के लिए किया था। श्रीकृष्ण को पधारते देखकर सारे ऋषिवृन्द जयजयकार करने लगे। श्रीकृष्ण कुमारावस्था में थे, अतः सब ऋषियों ने सादर आशीर्वाद दिया। वहाँ आए देवताओं ने भी श्रीकृष्ण का स्तवन किया तथा चारों ओर से नगर की नारियों की हर्षध्वनि होने लगी। भाव यह है कि उस स्थान में ऐसा कोई नहीं था, श्रीकृष्ण जिसके अनुराग के पात्र न हों।

४५. साधुसमाश्रय

यद्यपि श्रीकृष्ण परात्पर भगवान् के रूप में किसी से पक्षपात नहीं

करते, तथापि भगवद्गीता के अनुसार जो श्रद्धा-प्रेम से उनके नाम का भजन करता है, उस भक्त के प्रति उनका विशेष आकर्षण रहता है। श्रीकृष्ण के जगत् में अवतरण-काल में एक भक्त ने वह उद्गार प्रकट किया था, "हे पुरुषोत्तम ! यदि आप जगत् के कल्याण के लिए अवतरण न करते तो असुरों की भयंकर क्रियाओं के कारण न जाने सज्जनों की क्या दशा होती।" अपने आविर्भाव के प्रारम्भ से ही श्रीकृष्ण सब प्रकार के आसुरी जीवों के परम वैरी थे, यद्यपि असुरों से उनके द्वेष और भक्तों से प्रेम में भेद नहीं है, क्योंकि श्रीकृष्ण के हाथ से मरा कोई भी असुर तत्काल मुक्तिलाभ कर लेता है।

४६. नारीगणमनोहारी

जिस पुरुष में विशेष गुण हों, वह सुन्दरियों के समूह को मोहित करने वाला होता है।

द्वारका की महिषियों के सम्बन्ध में एक भक्त ने कहा, "साक्षात् भगवान् की सेवापरायणा द्वारका की महिषियों की महिमा का क्या कहना। भगवान् की महिमा इतनी अगाध है कि नारद आदि सब ऋषिवृन्द उनके नाम-कीर्तन से ही दिव्य रस का आस्वादन कर सकते हैं; फिर उन महिषियों का क्या कहना जो निरन्तर उनका दर्शन और सेवन करती थीं?" द्वारका में श्रीकृष्ण की १६१०८ महिषियाँ थीं। ये सभी श्रीकृष्ण के प्रति आकृष्ट रहती थीं, ठीक उसी प्रकार जैसे लोहा चुम्बक की ओर। एक भक्त का उद्गार है, "हे कृष्ण ! आप चुम्बक हैं और व्रजांगनायें लोहे जैसी हैं। आप जहाँ भी जाते हैं, वे आपके पीछे-पीछे दौड़ती हैं।"

४७. सर्व आराध्य

जो सब देव-मनुष्यों के लिए सबसे पहले पूजा के योग्य हो, उसे सर्वाराध्य कहते हैं।

श्रीकृष्ण ब्रह्मा, शिव आदि सब जीवों के ही नहीं, वरन् बलराम, शेष जैसे विष्णुरूपों के भी आराध्य हैं। बलदेव श्रीकृष्ण के स्वयं प्रकाश हैं, परन्तु वे भी उन्हें आराध्य मानते हैं। जब श्रीकृष्ण युधिष्ठिर के राजसूय में पधारे तो वे ऋषि, देव, सहित सारे सभासदों के आकर्षण के केन्द्र बन गए और सभी ने उनका अग्रपूजन किया।

४८. समृद्धिमान्

श्रीकृष्ण वीर्य, श्री, यश, रूप, ज्ञान और वैराग्य—सभी ऐश्वर्यों में

पूर्ण हैं। उनके द्वारका-निवास के समय यदुवंश में ५६ करोड़ सदस्य थे। ये सभी श्रीकृष्ण के विश्वासपात्र और आज्ञानुचर थे। नगर में नौ लाख प्रासाद थे जिनके सारे निवासी श्रीकृष्ण को प्राणाराध्य समझते थे। श्रीकृष्ण के इस ऐश्वर्य को देखकर किसे आश्चर्य नहीं होगा। विल्वमंगल ठाकुर ने कृष्णकर्णामृत के एक श्लोक में यही उद्‌गार अभिव्यक्त किया है, "हे कृष्ण! तुम्हारे वृन्दावन के ऐश्वर्य का क्या कहना। व्रजांगनाओं के चरणों के भूषण चिन्तामणि से भी बढ़कर हैं और उन्होंने पारिजात के पुष्पों का शृंगार धारण कर रखा है। गायें बिलकुल गोलोक धाम की सुरभि गायों जैसी हैं। अहो! आपके ऐश्वर्य-सागर को कौन माप सकता है।"

४९. वरीयान्

जो सम्पूर्ण मान्य पुरुषों में प्रधान हो उसे वरीयान् कहते हैं।

जिस समय श्रीकृष्ण द्वारका में निवास कर रहे थे, तो शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, आदि सब देवता उनके दर्शन के लिए आते थे। एक दिन प्रतिहारी कहने लगा, "हे ब्रह्माजी—शिवजी! कुछ देर सामने बैठकर प्रतीक्षा करें; हे देवराज! चाटुकारी करना व्यर्थ है, चुपचाप बैठो; हे वरुण! तुम भागो यहाँ से। ये सब देवता द्वार पर कोलाहल क्यों कर रहे हैं? अभी द्वारकानाथ को मिलने का अवकाश नहीं है।"

५०. परमईश्वर

जो स्वतन्त्र हो तथा जिसकी आज्ञा का कोई उल्लंघन न कर सके, उसे ईश्वर कहते हैं।

श्रीकृष्ण की पूर्ण स्वतन्त्रता और ईश्वरत्व के सम्बन्ध में श्रीमद्-भागवत कहती है कि यद्यपि कालिय महान् अपराधी था, फिर भी श्रीकृष्ण ने उसे अपना चरणचिन्ह प्रसाद रूप में प्रदान किया, जबकि नाना प्रकार से स्तुति करने पर भी ब्रह्मा की ओर देखा तक नहीं।

श्रीकृष्ण का यह विचित्र व्यवहार सर्वथा योग्य ही है क्योंकि सम्पूर्ण वैदिक शास्त्रों में उन्हें पूर्ण स्वतन्त्र कहा गया है। श्रीमद्‌भागवत के आदि में आए 'स्वराट्' शब्द का भी यही तात्पर्य है। परम् ब्रह्म की स्थिति ऐसी ही है। परतत्त्व चैतन्य ही नहीं है, पूर्ण स्वतन्त्र भी है।

जहाँ तक सबके लिए श्रीकृष्ण की आज्ञा की दुर्लंघ्यता है, उसके सम्बन्ध में श्रीमद्‌भागवत (३.२.२१) में उद्धवजी विदुर से कहते हैं, "भगवान्

श्रीकृष्ण त्रिगुणमयी माया के अधीश्वर हैं। वे सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के भोक्ता हैं, इसलिए उनके समान अथवा उनसे अधिक कोई नहीं हो सकता।" सारे लोकपाल आकर उन्हें भेंट चढ़ाते थे और अपने मुकुटों से भगवान् के चरणपीठ की वन्दना करते थे। एक भक्त बोला, "हे कृष्ण ! ब्रह्मा को सृष्टि की आज्ञा देकर और शिव को संहार की आज्ञा करके आप ही सृष्टि-संहार कर रहे हैं। आप केवल अपनी आज्ञा और अंशरूप विष्णु के द्वारा सृष्टि का पालन करते हैं। हे कंसारि ! दिशा-दिशा में खड़े सारे ब्रह्मा, शिव आदि आपके वशवर्ती हैं।

५१. सदास्वरूपसम्प्राप्त

श्रीकृष्ण का स्वरूप कभी नहीं बदलता, यहाँ तक कि प्राकृत-जगत् में अवतरित होने पर भी उनका स्वरूप अविकृत रहता है। साधारण जीवों का अप्राकृत स्वरूप ढक जाता है। वे नाना देह धारण करते हुए देहात्म-बुद्धि के भेद से कर्म करते हैं। परन्तु श्रीकृष्ण का शरीर कभी नहीं बदलता। वे अपने आदि स्वरूप में ही प्रकट होते हैं; इसलिए प्रकृति के गुणों के अधीन नहीं हैं। श्रीमद्भागवत (१.११.३८) के अनुसार परमेश्वर की यह विशेषता है कि वह माया के गुणों से कभी प्रभावित नहीं होता। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण भगवान् के शरणागत भक्त हैं जो माया से परे हो जाते हैं। माया से पार होना बड़ा कठिन है, परन्तु भगवान् के संरक्षण में स्थित सन्तपुरुष माया से पार हो जाते हैं। फिर स्वयं भगवान् के सम्बन्ध में क्या कहना है ? यद्यपि भगवान् कभी-कभी इस प्राकृत-जगत् में प्रकट होते हैं, पर प्रकृति के गुण उनका स्पर्श नहीं कर सकते। वे शुद्ध सत्त्व में स्थित रहकर पूर्ण स्वतन्त्रता से कार्य करते हैं। भगवान् का यह एक विशेष गुण है।

५२. सर्वज्ञ

जो सबके मनोभाव को और सम्पूर्ण देशकाल की घटनाओं को जानता हो, उसे सर्वज्ञ कहते हैं।

श्रीभगवान् की सर्वज्ञता का एक सुन्दर उदाहरण श्रीमद्भागवत (१.१५.११) में है। इसका सम्बन्ध उस घटना से है जब दुर्वासा मुनि वन में पाण्डवों के निवास पर गए थे। पूर्व योजना के अनुसार दुर्योधन ने वन में पाडवों के पास दस हजार शिष्यों के साथ दुर्वासा को अतिथिरूप में भेजा। दुर्योधन ने ऐसी व्यवस्था की जिससे दुर्वासा का दल उस समय पाण्डवों के यहाँ पहुँचे, जब पाण्डव भोजन कर चुके हों। भोजन न मिलने पर दुर्वासा

शाप देकर पाण्डवों का नाश कर दें, ऐसा दुर्योधन का अभिप्राय था। दुर्योधन के इस कुचक्र को जानकर श्रीकृष्ण पाण्डवों के पास आए और कहने लगे कि मुझे भूख लगी है, कुछ खाने को दो। द्रौपदी उनके सामने खाली बर्तन ले आई। परन्तु श्रीकृष्ण ने देखा कि उसमें साग का एक टुकड़ा शेष है। वे तुरन्त उसे खा गए। दुर्वासा का दल उस समय नदी में स्नान कर रहा था। द्रौपदी के अर्पण को खाने से श्रीकृष्ण की तृप्ति होते ही वे सब भी तृप्त हो गए, उनकी भूख जाती रही। इसलिए फिर वे भोजन के लिए युधिष्ठिर के स्थान पर नहीं लौटे। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने पाण्डवों को दुर्वासा की क्रोधाग्नि से बचाया। दुर्योधन ने उन्हें यह सोचकर पाण्डवों के पास भेजा कि वे इतनी बड़ी संख्या का आतिथ्य नहीं कर सकेंगे और तब दुर्वासा क्रुद्ध होकर पाण्डवों को शाप दे देंगे। परन्तु श्रीकृष्ण ने अपनी युक्ति और सर्वज्ञता के गुण के कारण इस आपत्ति से उनका रक्षण कर लिया।

५३. नित्यनूतन

भक्तजन निरन्तर श्रीकृष्ण का स्मरण और नामकीर्तन करते हैं, पर फिर भी कभी तृप्त नहीं होते। उनकी इसमें कभी अरुचि नहीं होती; वे नित्य नव-नव उत्साह के साथ भगवत्स्मरण और नामकीर्तन करते ही रहते हैं। इसका कारण यह है कि श्रीकृष्ण नित्यनूतन हैं। श्रीकृष्ण ही नहीं, उनका ज्ञान भी नित्यनूतन है। भगवद्गीता ५००० वर्ष पहले सुनाई गई थी, परन्तु आज भी करोड़ों लोग बार-बार उसे पढ़ते हैं और हर बार उसमें नया प्रकाश मिलता है। अतः श्रीकृष्ण एवं उनके नाम, यश, चिद्गुण और उनसे सम्बन्धित सभी कुछ नित्यनूतन है।

द्वारका की सारी महिषियाँ लक्ष्मीदेवी थीं। श्रीमद्भागवत (१.११.३३) में कहा है कि लक्ष्मीदेवी बड़ी ही चंचला हैं, उन्हें कोई वश में नहीं कर सकता। अतः किसी का भी भाग्य स्थिर नहीं रहता। परन्तु वही लक्ष्मी देवी द्वारका में श्रीकृष्ण की सेवा को क्षणभर को भी नहीं छोड़ती थीं। स्पष्टतः श्रीकृष्ण का आकर्षण नित्यनूतन है। लक्ष्मीदेवी भी उनका संग नहीं छोड़ सकतीं।

श्रीकृष्ण के नित्यनूतन आकर्षण के सम्बन्ध में 'ललितमाधव' में राधारानी का एक वाक्य है जिसमें श्रीकृष्ण को अपूर्व विश्वकर्मा कहा गया है क्योंकि वे स्त्रियों के धर्म रूप पत्थरों को तोड़ने में दक्ष हैं। भाव यह है कि पतिव्रता स्त्रियाँ चाहे सदा वैदिक विधान का आचरण करना चाहें, पर श्रीकृष्ण अपनी माधुरीरूप हथौड़ी से उनके पातिव्रत्य रूप पत्थर को तोड़

ही डालते हैं। श्रीकृष्ण की अधिकांश सखियों का विवाह हो चुका था; परन्तु विवाह से पूर्व हुए श्रीकृष्ण के परिचय और उस श्रीअंग सौन्दर्य को वे भुला न सकीं, जो विवाह के वाद भी उनके लिए मनोहारी था।

५४. सच्चिदानन्द विग्रह

श्रीकृष्ण का दिव्य शरीर सच्चिदानन्दमय है। सत् अर्थात् देशकाल में सर्वव्यापी और चित् अर्थात् ज्ञानमय। श्रीकृष्ण को किसी से कुछ सीखना नहीं है। वे स्वतन्त्र रूप से पूर्ण ज्ञानी हैं। आनन्द, अर्थात् अखिल रसराज। निर्विशेषवादी ब्रह्मज्योति में लीन होना चाहते हैं, जिसमें केवल सत् और चित् हैं। परन्तु श्रीकृष्ण में प्राप्त ब्रह्मसुख के मुख्यांश से वे वंचित रह जाते हैं। ब्रह्मज्योति में लीन होने के दिव्य सुख का अनुभव मोह, मिथ्या देहात्म-बुद्धि, राग, द्वेष और विषयासक्ति के विकारों से मुक्त होने पर ही होता है। ब्रह्मानुभूति के लिए यह प्रारम्भिक योग्यता है। भगवद्गीता में उल्लेख है कि प्रसन्नावस्था में स्थित हो जाना चाहिए। इसका प्रारम्भ शोक-निवृत्ति से होता है। ब्रह्मभूत पुरुष तो प्रसन्नावस्था के साधक ही हैं। उस प्रसन्नता की प्राप्ति वास्तव में श्रीकृष्ण का संग होने पर ही होती है। कृष्णभावना सर्वथा पूर्ण है, अतः निर्विशेष ब्रह्म से प्राप्त वाला सुख उसमें अन्तर्निहित (समाविष्ट) है। जो निर्विशेषवादी हैं, वे भी श्रीकृष्ण के श्यामसुन्दर रूप पर मोहित हो जाते हैं।

ब्रह्मसंहिता का प्रमाण है कि ब्रह्मज्योति श्रीकृष्ण की अंगकांति है, अर्थात् केवल श्रीकृष्ण का शक्तिप्रकाश है। श्रीकृष्ण ब्रह्मज्योति के स्रोत हैं, जैसा भगवद्गीता में वे स्वयं कहते हैं। इससे निश्चय होता है कि परतत्त्व की निर्विशेष विभूति अन्तिम नहीं है; श्रीकृष्ण ही परतत्त्व की अवधि हैं।

वैष्णव सम्प्रदाय इसीलिए संसिद्धि के लिए ब्रह्मज्योति में कभी लीन होना नहीं चाहते। वे श्रीकृष्ण को स्वरूप-साक्षात्कार का परम लक्ष्य समझते हैं। इसीलिए श्रीकृष्ण परम् ब्रह्म और परमेश्वर कहलाते हैं। श्रीयामुनाचार्य प्रार्थना करते हैं, "हे भगवन्! यह जो ब्रह्माण्ड है और इसके अन्तर्गत जो कुछ देशकाल और एक-दूसरे से दस-दस गुण महत्त्व वाले प्राकृत तत्त्वों के दस आवरण, प्रकृति के तीनों गुण, गर्भोदकशायी विष्णु, क्षीरोदकशायी विष्णु, महाविष्णु, और उनसे परे परव्योम, ब्रह्म-ज्योति, तथा वैकुण्ठ-धाम हैं—ये सब के सब आप की शक्ति की विभूति-मात्र हैं।

५५. सर्वसिद्धिनिषेवित

सिद्धि के अनेक स्तर हैं। पूर्ण योगियों को प्राप्त सर्वोच्च प्राकृत सिद्धियाँ आठ हैं—अणिमा, गरिमा इत्यादि। ये सब प्राकृत सिद्धियाँ तथा सारी अप्राकृत सिद्धियाँ भी श्रीकृष्ण में पूर्ण रूप से रहती हैं।

५६. अचिन्त्य महाशक्ति

श्रीकृष्ण सर्वव्यापी हैं, वे ब्रह्माण्ड ही में नहीं, सम्पूर्ण जीवों के हृदय में ही नहीं, वरन् अणु-अणु में विद्यमान हैं। महारानी कुन्ती ने अपने स्तवन में श्रीकृष्ण की इस चिन्तनातीत दिव्य शक्ति का उल्लेख किया है। कुन्ती देवी से वार्तालाप करते-करते ही वे उत्तरा के गर्भ में प्रविष्ट हो गए, जो अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से आक्रान्त थी। श्रीकृष्ण ब्रह्मा, शिव आदि को भी मोहित कर सकते हैं और सम्पूर्ण शरणागत भक्तों के अमंगलमय प्रारब्ध को विध्वंस करने में भी समर्थ हैं। ये उनकी अचिन्त्य शक्तियों के कुछ उदाहरण मात्र हैं।

अस्तु, श्रील रूप गोस्वामी भगवान् श्रीकृष्ण की वन्दना करते हुए कहते हैं, "सम्पूर्ण अपरा प्रकृति नराकृति श्रीकृष्ण की छायामात्र है। उन्होंने असंख्य गौ, गौवत्स और गोपबालकों के रूप में अपना विस्तार किया है और फिर उन सब में चतुर्भुज नारायण रूप में प्रकट हुए। उन्होंने करोड़ों ब्रह्माओं को आत्मविद्या प्रदान की है, इसलिए वे ब्रह्माण्ड के अधीश्वरों के ही नहीं, वरन् चराचर जीवमात्र के आराध्य हैं। उन भगवान् को मैं प्रणाम करता हूँ।"

जब श्रीकृष्ण इन्द्र को हरा कर स्वर्ग से पारिजात हरण करके ले गए तो नारद जी उसके पास आकर उसे धिक्कारने लगे, "हे महेन्द्र! श्रीकृष्ण ने ब्रह्मा, शिव आदि को हरा रखा है, फिर तुझ जैसे तुच्छ देवता किस कोटि में हैं?" नारदजी के इस परिहास से इन्द्र हँस पड़ा। उनके वाक्य में यह पुष्टि है कि श्रीकृष्ण ने ब्रह्मा, शिव तथा इन्द्र को सर्वथा मोहित कर दिया था। फिर और जीवों के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण की शक्ति का तो कहना ही क्या है।

भक्त के पापफल को दूर करने में श्रीकृष्ण की शक्ति का विवरण ब्रह्मसंहिता में है, "इन्द्र से लेकर इन्द्रगोप कीड़े तक जीवमात्र प्रारब्ध भोग रहा है। परन्तु श्रीकृष्ण की कृपा से कृष्णभक्त इनसे छूट जाता है।" यह उस समय सिद्ध हो गया जब श्रीकृष्ण अपने मृत गुरुपुत्र को वापस लाने यमालय गए। गुरु ने उनसे गुरुदक्षिणा के रूप में उनके मृत पुत्र को लौटा लाने को कहा था। अतः श्रीकृष्ण तुरन्त यमलोक को गए और यमराज को

आज्ञा दी, "उस जीव के कर्म की ओर ध्यान न देकर उसे तुरन्त मुझे लौटा दो।" इस घटना का तात्पर्य यह है कि प्रकृति के नियमानुसार यम द्वारा दण्डनीय प्राणी भी कृष्णकृपा से पूर्णतः छूट सकता है।

श्रीकृष्ण की अचिन्त्य शक्तियों का वर्णन शुकदेव गोस्वामी ने श्रीमद्भागवत में इस प्रकार किया है, "जो अजन्मा होने पर भी नन्द महाराज के पुत्र हैं, सर्वव्यापक होने पर भी यशोदा के अंक में खेलते हैं विभु होते हुए यशोदा की प्रेम-रज्जु से बँध गए हैं, अनेकरूप होने पर भी जो नन्द-यशोदा के आगे एकरूप में विचर रहे हैं, वे अनन्त अचिन्त्य शक्तिशाली श्रीकृष्ण मेरी बुद्धि को मुग्ध कर रहे हैं।" ब्रह्मसंहिता में भी उल्लेख है कि यद्यपि अपने गोलोक वृन्दावन धाम में श्रीकृष्ण का नित्य-निवास है, तथापि वे सर्वव्यापक हैं, यहाँ तक कि परमाणुओं में भी हैं।

५७. कोटिब्रह्माण्डविग्रह

श्रीमद्भागवत (१०.१४.११) में ब्रह्माजी कहते हैं, "महतत्त्व, अहंकार, मन, बुद्धि, आकाश, वायु, जल, अग्नि, पृथ्वी—इन प्राकृत तत्त्वों से यह बृहत् अण्ड बना है। केवल एक ब्रह्माण्ड का रचयिता इस प्रकार का तुच्छ शरीर वाला कहाँ और कहाँ मैं आप, जिनके रोमकूपों से प्रकाश में परमाणुओं के समान असख्य ब्रह्माण्ड प्रकट-अप्रकट होते रहते हैं। आपके महत्त्व के सामने मैं तो बिल्कुल नगण्य हूँ, अतः क्षमा करके मुझ पर कृपा कीजिए।"

यदि कोई केवल एक ब्रह्माण्ड की भी जाँच करे तो उसमें असंख्य लोक, निवास और देवलोक जैसी अद्भुत वस्तुयें पायगा। ब्रह्माण्ड का पूर्ण विस्तार ५० करोड़ योजन है और वह अनेक अप्रमेय पाताल लोकों से भी युक्त है। श्रीकृष्ण इस सब के उद्गम अवश्य हैं; परन्तु अपनी अचिन्त्य शक्ति का विस्तार करते हुए वे सदा वृन्दावन में ही रहते हैं। ऐसे सर्वशक्तिमान् प्रभु की स्तुति में कौन समर्थ हो सकता है?

५८. अवतारावलीबीज

गीतगोविन्द में जयदेव गोस्वामी ने गाया है, "भगवान् ने मत्स्यरूप से वेदों का उद्धार किया है; कूर्मावतार में सम्पूर्ण जगत् का वहन किया है; वराह अवतार में पृथ्वी को जल से निकाला है; नृसिहरूप में हिरण्यकशिपु का वध किया है, वामन अवतार में बलि से छल किया है; परशुराम के रूप में सम्पूर्ण क्षत्रिय-वंश का नाश किया है; राम अवतार में सब असुरों

का वध किया है; बलरामरूप में हल को धारण किया है; बुद्ध अवतार में पशुओं को हिंसा से बचाया है, तथा कल्कि अवतार* में सारे नास्तिकों का संहार किया है।" श्रीकृष्ण के ये केवल कुछ प्रधान अवतार हैं; श्रीमद्भागवत से ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण के विग्रह से सागर में तरंगों के समान निरन्तर असंख्य अवतार होते रहते हैं। सागर की तरंगों को कोई नहीं गिन सकता; इसी प्रकार भगवत्-वपु से होने वाले अवतारों की गणना भी असम्भव है।

५९. हत-अरि-गतिदायक

मुक्ति का एक नाम अपवर्ग भो है। यह उस पवर्ग के विपरीत है, जिसका अर्थ है नाना प्रकार के प्राकृत दुःख। पवर्ग में पाँच अक्षर हैं— प, फ, ब, भ और म। ये निम्नलिखित पाँच दुःखों के वाचक हैं-'प'-पराभव (पराजय)। संसार में अस्तित्व के लिए संघर्ष करते हुए हमें पराजय ही पराजय का सामना करना पड़ रहा है। वास्तव में हमारा काम जन्म, मृत्यु, जरा और रोग को जीतना है। माया के कारण इन दुःखों पर विजय सम्भव न होने के कारण हमें निरन्तर परास्त होना पड़ रहा है। अगला अक्षर 'फ' फेनिल से है। यह उस फेन का नाम है जो बहुत थक जाने पर मुख में आ जाता है (जैसा घोड़ों में प्रायः देखने में आता है)। 'ब' अर्थात् बन्धन। 'भ'—भीति (भय) तथा म—मृत्यु। अतः पवर्ग अस्तित्व के लिए संघर्ष और परिणाम में होने वाले पराभव, श्रान्ति, बन्धन, भय और मृत्यु का वाचक है। अपवर्ग उसे कहते हैं जिससे ये सब दुःख दूर हो जायें। श्रीकृष्ण को इस अपवर्ग अथवा मुक्तिपथ का दाता कहा जाता है।

निर्विशेषवादियों और श्रीकृष्ण के शत्रुओं के लिए मुक्ति का अर्थ ब्रह्मज्योति में लीन हो जाना है। वे श्रीकृष्ण का तिरस्कार करते हैं; पर श्रीकृष्ण इतने अतिशय दयामय हैं कि अपने शत्रुओं और निर्विशेषवादियों को भी मुक्ति देते हैं। इस सम्बन्ध में उल्लेख है, "हे मुरारे ! देवताओं के द्वेषी असुर आपकी सेना का भेदन तो नहीं कर सके, परन्तु मित्रमण्डल को भेद कर अमृतत्व को अवश्य प्राप्त हो गए हैं, यह कितना विचित्र है।" यहाँ 'मित्र' शब्द श्लिष्ट है। मित्र का अर्थ सूर्य भी होता है और सखा भी। श्रीकृष्ण के साथ युद्ध करने वाले असुर उनकी सेना का भेदन करना चाहते थे; परन्तु ऐसे करने में वे युद्ध में मारे गए और मित्र, अर्थात् सूर्यमण्डल का भेदन कर गए अथवा ब्रह्मज्योति में लीन हो गए। यहाँ सूर्यमण्डल का

---

* लेखक के ग्रन्थ भगवत् सन्देश (श्रीमद्भागवत) भाग १ में इन सब अवतारों का विवरण है।

उदाहरण हैं, क्योंकि वह स्वयंप्रकाश वैकुण्ठ लोकों वाले परव्योम के समान ही नित्य देदीप्यमान् रहता है। असुरगण मारे गए और श्रीकृष्ण के सैन्यबल को भेदे बिना ही ब्रह्मज्योति के मित्र परिवेश में प्रविष्ट हो गए। इसी दया के कारण श्रीकृष्ण शत्रु के भी उद्धारक कहलाते हैं।

६०. आत्मारामगणाकर्षी

ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब श्रीकृष्ण ने शुकदेव और चारों कुमार जैसे महान् जीव-मुक्त पुरुषों को भी आकृष्ट कर लिया। इस सम्बन्ध में कुमार कहते हैं, "कैसा आश्चर्य है कि इच्छा से रहित पूर्ण मुक्त परमहंस अवस्था में होने पर भी हम राधाकृष्ण की लीला का आस्वादन करने को उत्कण्ठित हैं।"

६१. असाधारण लीला वारिधि

'बृहद्वामन पुराण' में भगवान् स्वयं कहते हैं, "यद्यपि मेरी अनेक मनोहर लीलायें हैं, पर गोपियों के साथ की रासलीला का स्मरण होते ही न जाने क्यों मेरा मन उसके लिए फिर आतुर हो उठता है।"

एक भक्त की वाणी है, "मैं लक्ष्मीपति नारायण को जानता हूँ और अन्यान्य अनेक अवतारों को भी जानता हूँ। इन सभी अवतारों के चरित मनोहारी हैं; फिर भी न जाने क्यों साक्षात् श्रीकृष्ण का रासलीलारस अद्भुत रूप में मेरे दिव्य आनन्द को बढ़ा रहा है।"

६२. श्रीकृष्ण प्रियभक्तों से परिवेष्टित हैं

श्रीकृष्ण कभी अकेले नहीं रहते। कृष्ण का अर्थ है उनके नाम, गुण, यश, उनके मित्र, उनकी सामग्री, उनका परिकर, इत्यादि सभी कुछ। राजा सदा मन्त्रियों, सचिवों, सेनाध्यक्षों तथा अन्य बहुत से व्यक्तियों से घिरा रहता है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण भी निर्विशेष नहीं हैं। विशेषतः अपनी वृन्दावन लीला में वे गोपीजनों, गोपबालकों, माता, पिता तथा सम्पूर्ण वृन्दावन वासियों से परिवेष्टित रहते हैं।

श्रीमद्भागवत (१०.३१.१५) में गोपीजन शोक करती हैं, "हे कृष्ण! तुम दिन में जब वृन्दावन में गोचारण के लिए जाते हो तो हमारा पल-पल युग के समान बड़ी कठिनता से बीतता है। फिर संध्या समय जब तुम लौटते हो तो तुम्हारी मुख-माधुरी पर आकृष्ट हुई हम उसे निरन्तर निहारा करती हैं। ऐसे में पलकों का कदाचित् गिर जाना असह्य हो जाता है; हमें

लगता है विधाता जड़बुद्धि है; वह तुम्हारे दर्शन के योग्य नेत्र बनाना भी नहीं जानता।" भाव यह है कि गोपियों को पलकों को गिरने से क्षोभ होता है, क्योंकि इससे श्रीकृष्ण के दर्शन में तनिक बाधा आती है। इससे प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण के लिए गोपियों का प्रेम इतना अतिशय तथा भावमय था कि उनका क्षण भर का विरह भी वे सहन नहीं कर सकती थीं। फिर श्रीकृष्ण को देखने पर भी उन्हें क्षोभ होता। यह अद्भुत पहेली है।

एक गोपीश्रीकृष्ण से अपने हृदय का उद्गार प्रकट करती हुई कहती है, "आपके संग में ब्रह्मरात्रि* भी हमारे लिए क्षणमात्र के समान बीत जाती है।" ब्रह्मा के एक दिन का अनुमान भगवद्गीता के इस वाक्य से लगाया जा सकता है—"मानवी गणना के अनुसार एक हजार चतुर्युग से ब्रह्मा का एक दिन बनता है और इसी अवधि की उसकी रात्रि है" (पृ० १७) गोपियों ने कहा कि उन्हें इस अवधि की रात्रि मिल जाय तो वह भी श्रीकृष्ण का संग करने के लिए पर्याप्त न होगी।

६३. वेणुमाधुर्य

श्रीमद्भागवत (१०.३५.१५) में गोपीजन यशोदा मैया से कहती हैं, "जब तुम्हारा बालक अपनी वंशी बजाता है तो परम विद्वान् महान् ब्रह्मा, शिव, इन्द्र आदि तक मोहित हो जाते हैं। उस वेणुरव से उनका सिर विनम्र भाव से अवनत हो जाता है और वे एकाग्रचित्त हो जाते हैं।"

'विदग्धमाधव' में श्रील रूप गोस्वामी श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि का वर्णन करते हुए कहते हैं, "श्रीकृष्ण के वेणुनाद ने आश्चर्यपूर्वक शिवजी डिण्डिम डमरू को बजने से रोक दिया। उसी नाद ने कुमार आदि ऋषियों को ध्यान से विचलित किया है; सृष्टि-कार्य के लिए कमल पर आसीन ब्रह्माजी चकित हो उठे हैं और सम्पूर्ण लोकों को धारण करने वाले शेषनाग झूमने लगे हैं, उसी वंशीध्वनि के कारण जो इस ब्रह्माण्ड के आवरण का भेदन करके वैकुण्ठ-जगत् में जा पहुँची है।

६४. श्रीकृष्ण का असमोर्ध्व रूपमाधुर्य

श्रीमद्भागवत (३.२.१२) में उद्धव विदुर से कहते हैं, "हे विदुर! जिस समय श्रीकृष्ण इस धरा पर प्रकट होकर अपनी आत्ममाया की शक्ति

---

* ४,३०,००,००,००० सौर वर्ष ब्रह्मा के बारह घण्टे अथवा एक रात्रि के तुल्य हैं।

का प्रकाश कर रहे थे, उनका शरीर माधुर्यातिशय के कारण परम अद्भुत था। उनकी आत्ममाया द्वारा प्रकटित ऐश्वर्य सब के लिए आकर्षक था। उनकी श्रीअंग माधुरी इतनी अतुलित थी कि उनके लिए शरीर पर अलंकार धारण करना व्यर्थ था। वस्तुतः आभूषणों से विभूषित होने के स्थान पर श्रीकृष्ण का सौन्दर्य ही उन्हें विभूषित रहा था।"

श्रीकृष्ण के श्रीअंग-माधुर्य और वेणु के आकर्षण के सम्बन्ध श्रीमद्-भागवत (१०.२९.४०) में गोपियां उनसे कहती हैं, "हे कृष्ण ! यह सत्य है कि हममें तुम्हारे लिए उपपति का सा भाव है, परन्तु तुम्हारी वंशी ध्वनि को सुनकर त्रिभुवन में ऐसी कौन सी स्त्री है जो पतिव्रतधर्म से विचलित न हो जाय ? स्त्रियों की तो बात ही क्या, पाषाण हृदय मनुष्य भी तुम्हारे वेणुरव से द्रवित हो जाते हैं। तुम्हारी मधुर मुरली की तान और मनोहारी रूपमाधुरी से तो वृन्दावन गाय, हिरन, पक्षी और वृक्ष भी मुग्ध और पुल-कित हो उठे हैं।

श्रील रूप गोस्वासी रचित ललितमाधव में उल्लेख है, "एक दिन श्रीकृष्ण को रत्नजड़ित दर्पण में अपने सुन्दर रूप की छाया दृष्टिगोचर हुई। इस पर वे कहने लगे, "अहो ! यह रूप कैसा अद्भुत एवं अपूर्व है। यद्यपि यह मेरा ही रूप है, फिर भी इसे देखकर मैं राधारानी के समान ललचाता हुआ स्वयं इसका आलिंगन करके आनन्दित होना चाहता हूँ।" इस वाक्य से सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण और उनकी छाया एकतत्त्व है। उनमें और उनकी छाया में अथवा उनमें और उनके चित्र में अन्तर नहीं है। ऐसी श्रीकृष्ण की दिव्य स्थिति है।

उपरोक्त वाक्यों में श्रीकृष्ण में स्थित कतिपय रस-सागरों और गुणों का विवरण है। श्रीकृष्ण के दिव्य गुण सागर के समान हैं। सागर की ओर छोर का माप कोई नहीं कर सकता; पर फिर भी एक विन्दु को चखने से सम्पूर्ण सागर के स्वरूप को जाना जा सकता है। इसी भांति ये सारे वाक्य श्रीकृष्ण की दिव्य अवस्था और गुणों का दिग्दर्शन कराते हैं।

श्रीमद्भागवत (१०.१४.७) में ब्रह्माजी कहते हैं, "हे भगवन् ! इस धरा पर प्रकट होकर आपने जो-जो अचिन्त्य गुण, सौन्दर्य और लीलायें प्रकट की हैं, उनकी गणना करने में कौन समर्थ हो सकता है ? आपके सम्बन्ध में तो कोई अनुमान नहीं लगा सकता। यह सम्भव है कि जन्म-जन्मान्तर में प्राकृत वैज्ञानिक सम्पूर्ण जगत् के परमाणुओं अथवा आकाश के तारों को गिनने में सफल हो जायें; परन्तु फिर भी हे आनन्दनिधान ! आपके दिव्य गुणों की गणना असम्भव ही रहेगी।"

अध्याय २३

श्रीकृष्ण का स्वरूप

श्रील रूप गोस्वामी लिखते हैं कि यद्यपि श्रीकृष्ण अनन्त रसराज और सम्पूर्ण नायकों में शिरोमणि हैं, फिर भी उन्हें तीन प्रकार से भक्तों से अपेक्षा है। भक्त के भाव के अनुसार भगवान् का पूर्णतम पूर्णतर और पूर्ण—इन तीन रूप रूपों में आस्वादन होता है। सम्पूर्ण गुणों को प्रकाशित करने वाला स्वरूप विद्वानों द्वारा पूर्णतम कहा जाता है। सम्पूर्ण गुणों में कुछ कम गुणों को प्रकट करने वाला स्वरूप पूर्णतर और थोड़े गुणों का प्रदर्शन स्वरूप पूर्ण कहलाता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण का आस्वादन पूर्णता की तीन श्रेणियों में होता है। श्रीकृष्ण गोलोक-वृन्दावन में पूर्णतम हैं, द्वारका में पूर्णतर हैं और मथुरा में पूर्ण हैं।

श्रीकृष्ण का स्वरूप चार प्रकार का है। धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त तथा धीरोद्धत। श्रीकृष्ण अखिल चिद्गुणों और लीलाओं के भण्डार हैं; उस उस प्रकार की लीलाओं के अनुसार ही यहाँ उनकी चतुर्विधता कही गई है, अतः इसमें कोई विरोध (असंगति) नहीं होता।

धीरोदात्त

जो स्वभाव से ही गम्भीर, विनयी, क्षमाशील, दयामय, दृढ़व्रती, निरभिमान, उत्तम, शक्तिशाली और शरीर से आकर्षक हो, वह धीरोदात्त नायक कहलाता है।

इस सन्दर्भ में देवराज इन्द्र का यह वाक्य महत्त्वपूर्ण है, "हे नाथ ! मैंने अवश्य आपका महान् अपराध किया है, परन्तु आपकी अद्भुत शक्ति, भक्तवत्सलता, गोवर्धन-धारण करने से प्रकट हुई दृढ़ता, श्रीअंग-सौन्दर्य तथा भक्त और अपराधियों की स्तुति से प्रसन्न हो जाने का विस्मापक गुण—इन सब को देख कर मेरी बुद्धि और वाणी स्तब्ध रह जाती हैं।"

देवराज इन्द्र का यह वाक्य श्रीकृष्ण में धीरोदात्त नायक के सब

लक्षणों को सिद्ध करता है। अनेक विद्वानों ने भगवान् रामचन्द्र को भी धीरोदात्त माना है, परन्तु श्रीराम के सम्पूर्ण गुण भगवान् श्रीकृष्ण में आ जाते हैं।

धीरललित

जो स्वभाव से परिहास करने में अति पारंगत, नित्य नवयौवन से युक्त, कलाओं में चतुर और निश्चिन्त हो उसे धीरललित नायक कहा जाता है। ऐसा नायक प्रायः प्रेयसी के परवश रहता है। श्रीकृष्ण के स्वरूप में इस धीरललित गुण का वर्णन श्रीमद्भागवत में है। यज्ञपत्नी ने वृन्दावन में अपनी सखी से कहा, "एक दिन जब सखियों के साथ राधारानी उद्यान में विश्राम कर रही थीं, तो श्रीकृष्ण वहाँ आ पहुँचे और वहीं सबके सामने रात्रि में राधारानी की रतिकला का वर्णन करने लगे। राधाजी ने लज्जा से नेत्र नीचे की ओर कर लिए। इस अवसर पर श्रीकृष्ण राधाजी के स्तनों पर बड़ी पाण्डित्यपूर्ण चित्रकारी करने लगे।" इस प्रकार धीरललित रूप में श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ यौवन का विहार किया।

साधारणतः नाटककार धीरललित नायक के रूप में कामदेव का नाम लेते हैं, परन्तु श्रीकृष्ण के स्वरूप में धीरललित के लक्षण अधिक पूर्ण हैं।

धीरप्रशान्त

शान्त प्रकृति से युक्त, क्लेश सहन करने में समर्थ, विवेचन तथा विनय, आदि गुणों वाला नायक धीरप्रशान्त कहलाता है। श्रीकृष्ण के धीरप्रशान्तत्व का प्रकाश पाण्डवों से उनके व्यवहार में हुआ था। अपने पाण्डवों के श्रद्धा-प्रेम के कारण वे उनके सारथि, परामर्शदाता, मित्र, दूत और अंगरक्षक तक बने। विष्णुभक्ति का ऐसा ही फल होता है। युधिष्ठिर के समक्ष धर्म का उपदेश करते हुए श्रीकृष्ण ने प्रगाढ़ पाण्डित्य का प्रकाश किया, परन्तु अनुज के रूप में उनकी वाणी अतिशय विनीत थी, जिससे शरीर-सौन्दर्य बढ़ गया। उनके नेत्रों की भंगी और बोलने के प्रकार से स्पष्ट था कि वे नीति को प्रकाशित करने में पारंगत हैं। कदाचित विद्वज्जन युधिष्ठिर को भी धीरप्रशान्त कहते हैं।

धीरोद्धत

जो बहुत ईर्ष्यालु, (अहंकारी), सहज ही क्रुद्ध होने वाला, चंचल

चित्त तथा आत्मश्लाघाकरता हो उसे विद्वान् धीरोद्धत कहते हैं। श्रीकृष्ण के स्वरूप के ये गुण भी हैं। यवनराज कालयवन को पत्र लिखते समय श्रीकृष्ण ने उसे पापात्मा मण्डूक कहा था। उन्होंने उसे परामर्श दिया कि वह अविलम्ब किसी अन्धे कुएँ में निवास जा ढूँढे, क्योंकि कृष्ण नामक काला सर्प ऐसे सभी पापी मेंढकों को खाने को तैयार बैठा है। श्रीकृष्ण ने काल-यवन को याद दिलाया कि वे अपनी दृष्टिमात्र से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को भस्म कर सकते हैं।

श्रीकृष्ण के उपरोक्त वाक्य में मात्सर्य का दोष प्रतीत होता है; परन्तु देश, काल और लीला के अनुसार होने पर इसे भी महान् गुण माना जाता है। श्रीकृष्ण के धीरोद्धत गुणों की महानता का रहस्य यह है कि वे उनका प्रयोग केवल अपने भक्तों की रक्षा के लिए ही करते हैं। अर्थात्, भक्तियोग के आदान-प्रदान में प्रयुक्त अवगुण भी गुण बन जाते हैं।

भीमसेन को भी धीरोद्धत नायक कहा गया है।

हिरन के रूप में लड़ने आए एक असुर को ललकारते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं, "मुझ कृष्ण रूप गजराज से हार कर या तो युद्ध से भाग जा अथवा यम को याद कर।" श्रीकृष्ण की यह निरंकुशता उनके उत्कृष्ट गुणों की विरोधी नहीं है, क्योंकि परम पुरुष होने के कारण उनके चरित्र में सभी कुछ हो सकता है।

भगवान् में प्राप्त होने वाले विरोधी गुणों के सम्बन्ध में 'कूर्म पुराण' में उल्लेख है कि श्रीभगवान् न तो स्थूल हैं, न अणु हैं, वर्णहीन होने पर भी श्यामवर्ण हैं। उनके नेत्र रक्तवर्ण हैं तथा वे सर्वशक्तिमान् और सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त हैं। भगवान् में विरुद्ध धर्मों का होना आश्चर्यदायक नहीं है; प्रतीत होने परभी उनके गुणों में वास्तव में कोई विरोध नहीं है। आचार्यों के मुख से श्रीकृष्ण के गुणों का तत्त्व जानना चाहिए। तब यह ज्ञात हो जायगा कि भगवान् की प्रबल इच्छा-शक्ति के अनुसार ये गुण किस प्रकार कार्य करते हैं।

'महावराह पुराण' में प्रमाण है कि भगवान् के सारे दिव्य शरीर और अंश शाश्वत् हैं। वे हानोपादनरहित पूर्णतः अप्राकृत और ज्ञानमय हैं तथा परमानन्द से परिपूर्ण हैं। 'वैष्णव तन्त्र' के एक वाक्य में कहा है कि भगवान् के सब शरीर और अंश अट्ठारह प्राकृत दोषों से नित्य मुक्त हैं, क्योंकि वे सच्चिदानन्दमय हैं। विष्णुतन्त्र में इन अट्ठारह दोषों का उल्लेख है—मोह, तन्द्रा, भ्रम, रूखापन, काम, चंचलता, मद, मात्सर्य, हिंसा, खेद, परिश्रम,

असत्य, क्रोध, आकांक्षा, आशंका, पराधीनता, विषमता, शठता तथा ब्रह्माण्ड पर अधिकार करने की इच्छा।

उपरोक्त सब वाक्यों के सम्बन्ध में यह समझना चाहिए कि महाविष्णु प्राकृत् जगत् में समस्त अवतारों के उद्गम हैं। परन्तु व्रजेन्द्रनन्दन अधिक माधुर्यभर होने के कारण उस महाविष्णु के भी मूल हैं। इसके समर्थन में ब्रह्मसंहिता कहती है, "जिस विष्णु के निश्वास काल में उसके रोमकूपों से असंख्य ब्रह्माण्ड प्रकट-अप्रकट होते रहते हैं, वह महान् विष्णु भी जिन का कलाविशेष मात्र है, उन आदि पुरुष भगवान् गोविन्द को मैं नमस्कार करता हूँ।"

अध्याय २४

श्रीकृष्ण के वैशिष्ट्य

भगवान् श्रीकृष्ण के विविध ऐश्वर्यों का वर्णन करके श्रील रूप गोस्वामी उनके निम्नलिखित गुणों और आठ माधुरियों का वर्णन करते हैं : शोभा, विलास, माधुर्य, मंगल्य, स्थैर्य, तेज, लालित्य तथा उदारता। ये आठ गुण सामान्यतः महापुरुषों के लक्षण माने जाते हैं।

शोभा

दीनों पर दया, शौर्य, स्पर्धा, उत्साह, दक्षता तथा सत्य—इन गुणों से शोभित व्यक्ति महापुरुष माना जाता है। गोवर्धन-धारण-लीला में सभी शोभायें श्रीकृष्ण में प्रकट हुई थीं। उस समय सम्पूर्ण वृन्दावन धाम पर इन्द्र के मेघ मूसलाधार वर्षा का उत्पात कर रहे थे। पहले श्रीकृष्ण स्वर्ग का नाश करने के लिए उद्यत हुए, परन्तु फिर देवराज की तुच्छता का विचार करके इन्द्र पर दयार्द्र हो गए। श्रीकृष्ण के क्रोध को कोई नहीं सह सकता; अतः इन्द्र का प्रतिकार करने के स्थान पर अपने प्रिय व्रजवासियों की रक्षा के लिए गोवर्धन-धारण करके उन्होंने उनके लिए अपनी दया ही प्रकट की।

विलास

जो पुरुष सदा प्रसन्न रहता है और मुस्कराते हुए बात करता है, उसे विलासी समझना चाहिए। श्रीकृष्ण में यह गुण उस समय प्रकट हुआ जब वे कंस के यज्ञमण्डप में पधारे। वहाँ वर्णन है कि मत्तनयन श्रीकृष्ण ने किसी के प्रति अविनय का प्रदर्शन किए बिना मल्लों के मध्य में प्रवेश किया जब उन्होंने उन पर स्थिर दृष्टिपात किया तो ऐसे लगे मानो गजराज वनस्पति को उखाड़ रहा हो। इस प्रकार स्मितकान्ति से युक्त श्रीकृष्ण वीरतापूर्वक रंगमंच पर चढ़ गए।

माधुर्य

जिसकी चेष्टा आदि स्पृहणीय हों, उसे मधुर कहते हैं। श्रीकृष्ण के

माधुर्य का एक उदाहरण श्रीमद्भागवत में इस प्रकार है, "यमुना के किनारे राधारानी की प्रतीक्षा करते हुए श्रीकृष्ण कदम्ब की माला बना रहे थे। तभी राधारानी का वहाँ आगमन हुआ और उस समय मुरारि ने उन पर अतिशय मधुर दृष्टि डाली।"

मंगल्य

जो सब अवस्थाओं में सबका विश्वासपात्र हो, उसे मंगल्य कहते हैं। इस सम्बन्ध में श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं कि दानव भी श्रीकृष्ण की विश्वसनीयता पर निर्भर कर रहे थे, क्योंकि वे जानते थे कि न्याययुक्त कारण के बिना श्रीकृष्ण भी आक्रमण नहीं करेंगे। अतः वे निर्भय होकर द्वार खुले रखते थे। यद्यपि देवताओं को दानवों से भय था; परन्तु श्रीकृष्ण हमारे रक्षक हैं, यह सोचकर वे भय की अवस्था में भी क्रीड़ामत रहते थे। जिन्होंने कभी वैदिक विधि का आचरण नहीं किया, वे लोग भी यह जानकर निश्चिन्त हो रहे हैं कि श्रीकृष्ण केवल श्रद्धा-भक्ति को ही स्वीकार करते हैं। इसलिए वे कृष्णभावना के परायण होकर सम्पूर्ण उद्वेगों से मुक्त हो गए हैं। भाव यह है कि देवताओं से लेकर असभ्य मनुष्य तक सभी भगवान् श्रीकृष्ण की अहैतुकी कृपा पर निर्भर कर सकते हैं।

स्थैर्य

नाना विघ्न उपस्थित होने पर भी अपने निश्चय पर अचल रहना स्थैर्य है। बाणासुर-वध के प्रसंग में श्रीकृष्ण में स्थिरता प्रकट हुई है। बाण के हजार हाथ थे, परन्तु श्रीकृष्ण उन्हें एक-एक करके काटते गए। यह बाण शिव और दुर्गा का बड़ा भक्त था। अतः उसका वध होता देखकर शिव और दुर्गा श्रीकृष्ण पर बहुत क्रुद्ध हुए, परन्तु श्रीकृष्ण ने उनकी ओर ध्यान ही नहीं दिया।

तेज

जो सबके चित्त को प्रभावित कर सकता है, उसे तेजस्वी कहते हैं। श्रीकृष्ण के तेज के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत (१०.४३.१७) में शुकदेव गोस्वामी परीक्षित महाराजा से कहते हैं, "हे राजन्! श्रीकृष्ण मल्लों के लिए वज्र के समान भयंकर हैं; साधारण मनुष्यों के लिए नरश्रेष्ठ; स्त्रियों के लिए मूर्तिमान् कामदेव; गोप-गोपियों के लिए परम बन्धु; दुष्ट राजाओं के लिए दण्ड देने वाले शासक; नन्द-यशोदा के लिए शिशु; भोजराज कंस

के लिए साक्षात् मृत्यु; मन्दों और मूर्खों के लिए पाषाण; योगियों के लिए परतत्त्व; तथा वृष्णियों के लिए परम देव हैं। इस प्रकार की प्रभविष्णु अवस्था में श्रीकृष्ण ने अग्रज बलराम के साथ उस मण्डप में प्रवेश किया।" कंस के यज्ञ में अलग-अलग लोगों को श्रीकृष्ण का अलग-अलग रूपों में दर्शन हुआ, क्योंकि वे उनसे परस्पर भिन्न-भिन्न रसों में सम्बन्धित थे। भगवद्गीता में उल्लेख है कि श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध के अनुसार ही प्राणीमात्र को उनका दर्शन होता है।

कभी-कभी कुछ विद्वान् अपमान आदि न सहन करने को तेज (प्रभाव) कहते हैं। श्रीकृष्ण में यह विशेषता तब प्रकट हुई जब कंस नन्द-महाराज को अपमानित कर रहा था और वसुदेवजी ने श्रीकृष्ण से कंस को मार डालने का आग्रह किया था तब श्रीकृष्ण कंस पर कुलटा के समान दृष्टिपात करते हुए उस पर कूदने को उद्यत थे।

ललित

जिसकी चेष्टा में श्रृंगार की प्रचुरता रहती है, उसे ललित कहते हैं। श्रीकृष्ण में यह गुण दो रूपों में था—कभी वे नाना प्रकार के चिह्नों से राधारानी का श्रृंगार करते और कभी जब अरिष्ट आदि असुरों का वध करने को उद्यत होते तो कटि में मेखला को अच्छी प्रकार से कसते थे।

उदार

जो किसी को आत्मदान तक कर सकता है, वह उदार है। श्रीकृष्ण से अधिक उदार दूसरा कौन हो सकता है, जो भक्तों को अपना पूर्ण दान करने को सदा तत्पर रहते हैं। भगवान् चैतन्य महाप्रभु के रूप में तो जो भक्त नहीं है, उसे भी श्रीकृष्ण आत्मदान करके मुक्त कर देते हैं।

यद्यपि श्रीकृष्ण सब से स्वतन्त्र हैं, फिर भी वे धर्मोपदेश के लिए गर्गाचार्य पर आश्रित हैं, युद्धविद्या के लिए सात्यकी पर निर्भर करते हैं और सद्परामर्श के लिए मित्रवर उद्धव उनके सहायक हैं।

अध्याय २५

श्रीकृष्णभक्त

जो निरन्तर कृष्णभावनाभावित रहता है, वह कृष्णभक्त कहलाता है। श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं कि श्रीकृष्ण के सम्पूर्ण पूर्ववर्णित दिव्य गुण कृष्णभक्त में भी पाये जाते हैं। कृष्णभक्तों की दो कोटियाँ हैं—जो दिव्य धाम में प्रवेश के लिए भक्ति के साधक हैं और दूसरे जो भक्ति की संसिद्धि को प्राप्त हो चुके हैं।

जिसके अन्तर में भलीभाँति श्रीकृष्ण के लिए रति का उदय हो गया है और जो प्राकृत अंतरालों (विघ्नों) से मुक्त तो नहीं हुआ है परन्तु भगवद्धाम में प्रवेश के योग्य है, उसे साधक कहते हैं। साधक वह है जो कृष्णभावनाभावित भक्ति का सेवन करता है। इस कोटि के भक्त का विवरण श्रीमद्भागवत (११.२.४६) में है। वहाँ उल्लेख है कि जिसका भगवान् में अनन्य श्रद्धा-प्रेम है, जो कृष्णभक्तों से मैत्री करता है, अज्ञानियों को भक्ति में लगा कर उन पर कृपा करता है तथा अभक्तों की ओर उपेक्षा का भाव रखता है, वह भक्तियोग के सेवन की अवस्था में है।

जब भगवान् के लीला-चरित को सुनने से अश्रुधारा बहने लगे तो समझना चाहिए कि उस जल-वर्षण से संसाराग्नि शान्त हो जायगी। जिसका शरीर पुलकित और रोमांचित हो उठता है, वह संसिद्धि के निकट है। विल्वमंगल ठाकुर आदि भक्तियोग के साधक हैं।

जब कोई भक्त भक्तियोग के साधक से कभी भी परिश्रम का अनुभव नहीं करता और सदा कृष्णभावनाभावित क्रियाओं के परायण रहता हुआ श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध में निरन्तर रसास्वादन करता है, तब वह सिद्ध कहलाता है। इस सिद्धि-प्राप्ति के दो प्रकार हैं—एक भक्ति के साधन द्वारा और दूसरे भक्ति के पूरे विधि-विधान का आचरण किए बिना ही अहैतुकी भगवत्कृपा से सिद्ध हो जाना। साधनसिद्ध भक्त के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत (३.१५.२५) में यह वाक्य है, "भवरोग के मिथ्या अहंकार से मुक्त पुरुष अथवा उत्तम योगी वैकुण्ठ धाम में प्रवेश का

अधिकारी हो जाता है। वह योगी वैधीभक्ति का निरन्तर आचरण करने से परमानन्द को प्राप्त होता है और फलस्वरूप भगवान् की विशेष कृपा का पात्र होता है। यमराज उस भक्त के पास भी फटकने में डरता है।" इससे हम उत्तम भक्ति की शक्ति का अनुमान लगा सकते हैं, विशेषतः जब भक्त-गोष्ठी में भगवान् की लीलाओं की चर्चा होती है। परस्पर भगवत्-यश की चर्चा करने से वे भक्त भाव से द्रवित हो जाते हैं और बहुत से सात्त्विक विकार भी उनके शरीर पर प्रकट हो उठते हैं। भक्ति के पथ पर उन्नति के अभिलाषी को इन भक्तों के चरणचिह्नों का अनुसरण करना चाहिए।

प्रह्लाद महाराज ने कहा है कि उत्तम भक्तों को प्रणाम किए बिना कोई भी भक्ति की संसिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता। मारकण्डेय ऋषि आदि विद्वान् साधनभक्ति के द्वारा ही संसिद्धि को प्राप्त हुए।

कृपासिद्धि का उदाहरण श्रीमद्भागवत में यज्ञपत्नियों के उपाख्यान में है। भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से अपनी पत्नियों को भगवत्प्रेम में विभोर हुआ देखकर ब्राह्मण कहने लगे, "कैसा आश्चर्य है कि यज्ञोपवीत आदि कोई भी संस्कार हुए बिना, गुरुकुल में निवास किये बिना, ब्रह्मचर्य, तप, त्याग, मीमांसा, शौच अथवा शुभ कर्मों का आचरण किए बिना ही इन स्त्रियों को कृष्णकृपा से महायोगियों के लिए भी दुर्लभ दृढ़ भक्ति प्राप्त हुई है, जबकि संस्कार आदि से युक्त होने पर भी हममें उसका अभाव है।"

नारदजी भी शुकदेव गोस्वामी को इसी प्रकार सम्बोधित करते हैं, "हे शुकदेव! तुमने कभी गुरु के पास विद्याध्ययन नहीं किया, फिर भी दिव्य ज्ञान को प्राप्त हो गये हो। तुमने कभी कठोर तप नहीं किया, तथापि कैसा आश्चर्य है कि तुमने भगवत्प्रेम की परमावस्था को पा लिया है।"

शुकदेव गोस्वामी और यज्ञपत्नियाँ कृपासिद्ध भक्तों के प्रतीक हैं।

नित्यसिद्ध

श्रीकृष्ण के समान सत्, चित्, आनन्द आदि गुणों को प्राप्त तथा अपनी प्रेमसेवा से श्रीकृष्ण का आकर्षण करने वाले भक्त नित्यसिद्ध हैं। जीव दो प्रकार के होते हैं—नित्यसिद्ध और नित्यबद्ध। भेद यह है कि नित्यसिद्ध विस्मृत में बिना निरन्तर कृष्णभावनाभावित रहते हैं, जबकि नित्यबद्ध श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध को भुला बैठते हैं।

'पद्मपुराण' में वर्णित भगवान् और सत्यभामा देवी के संवाद में नित्यसिद्धों का विवरण है। भगवान् कहते हैं, "हे देवी! मैं इस धराधाम

पर ब्रह्मा और इन्द्र की प्रार्थना से अवतीर्ण हुआ हूँ। सारे यदुवंशी मेरे नित्य पार्षद हैं। हे भामिनि ! वे मेरे से कभी वियुक्त नहीं होते; मेरे ये अंश मेरे ही समान शक्तिशाली हैं। वे दिव्य गुणों से युक्त हैं, इसलिए मुझे अतिशय प्रिय हैं और मैं भी उनका प्रियतम हूँ।'' जो कोई भी पार्षदों सहित भगवान् श्रीकृष्ण की नर लीला को सुनकर हर्षित होता है, वह अवश्य नित्यसिद्ध है।

श्रीमद्भागवत (१०.१४.३२) में कहा है, "अहो ! नन्द, गोप आदि वृन्दावनवासियों के सौभाग्य का क्या कहना, साक्षात् परम ब्रह्म उनके मित्र जो ठहरे।''

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत (१०.२६.१०) में जब श्रीकृष्ण ने गोवर्धन उठा लिया तो उनके आश्रित गोप विस्मय से चकित होकर नन्द महाराज से पूछने लगे, "हे गोपेन्द्र ! क्या कारण हैं कि हमारा श्रीकृष्ण में प्रगाढ़ अनुराग हैं और वे भी हमसे प्रेम करते हैं ? क्या इसका अर्थ यह नहीं कि वे सबके अन्तर्यामी परमात्मा हैं ?''

सम्पूर्ण वृन्दावनवासी गोप और द्वारकावासी यादव श्रीकृष्ण के नित्य-सिद्ध भक्त हैं। जब श्रीभगवान् अपनी कृपा से इस पृथ्वी पर अवतरित होते हैं तो लीला में सहायता करने के लिए उनके भक्त भी साथ आते हैं। ये साधारण बद्धजीव नहीं हैं, वरन् भगवान् के नित्यसिद्ध शाश्वत् पार्षद हैं। जब श्रीकृष्ण का अवतार होता है तो वे नर लीला करते हैं, उसी प्रकार यदुवंशी और व्रजवासी भी साधारण मनुष्यों के समान क्रीड़ा करते हैं। परन्तु इससे उन्हें साधारण नहीं समझना चाहिए; वे भगवान के समान ही मुक्त हैं।

'पद्मपुराण' के उत्तरखण्ड में उल्लेख है, "जैसे भगवान् राम संकर्षण के अंश* लक्ष्मण और प्रद्युम्न के अंश भरत के साथ अवतरित होते हैं, उसी प्रकार भगवान् के दिव्य लीलारस में सम्मिलित होने के लिए व्रज के गोप और द्वारका के यदुवंशी भी श्रीकृष्ण के साथ प्रकट होते हैं। जब भगवान् अपने दिव्यधाम को वापस लौटते हैं तो पार्षद भी यथा स्थान लौट जाते हैं। अतएव इन नित्यसिद्ध वैष्णवों का जन्म कर्मबन्धन के अनुसार नहीं हुआ करता।''

भगवद्गीता में जैसा भगवान् ने स्वयं कहा है, उनका जन्म और

---

* नाना अवतारों और अंशों का विस्तृत विवरण लेखक के 'श्रीचैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत' नामक ग्रन्थ में देखें।

कर्म पूर्ण रूप से लोकोत्तर (दिव्य) है। इसी प्रकार भगवत्‌भक्तों के जन्म-कर्म भी दिव्य होते हैं। जैसे अपने को श्रीकृष्ण से एक समझना अपराध है, वैसे ही नन्द-यशोदा आदि पार्षदों से अपना अभेद मानना भी अपराध है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि ये नित्यसिद्ध लोकोत्तर जीव हैं, जो कभी बद्ध नहीं होते।

शास्त्र में उल्लेख है कि कंसारि श्रीकृष्ण में चौसठ दिव्य गुण हैं और श्रीकृष्ण के पार्षद नित्यसिद्धों में भी पहले पचपन गुण निश्चित रूप से रहते हैं। ये भक्त भगवान् से शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य इन पाँच भिन्न-भिन्न रसों में सम्बन्ध रखते हैं। श्रीकृष्ण से ये सम्बन्ध नित्य हैं, इसलिए नित्यसिद्ध भक्त को वैधीभक्ति के अनुष्ठान से संसिद्धि के लिए साधन नहीं करना पड़ता। वे नित्य श्रीकृष्ण की सेवा करने के योग्य हैं।

अध्याय २६

प्रेम के उद्दीपन

जो श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम को उद्दीप्त करते हैं वे उद्दीपन विभाव कहलाते हैं, जैसे भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य गुण, असाधारण चेष्टा, शृंगार, मुस्कराहट, श्रीअंग की सौरभ, वस्त्र, माला; वंशी, शृंग, वेत्र, नूपुर, शंख, चरणचिह्न, वृन्दावन आदि लीलास्थल, उनकी प्रिया तुलसी, कृष्णभक्त, तथा उनकी स्मृति के दिवस। कृष्ण-स्मरण का एक दिन एकादशी है। उस दिन सारे भक्त उपवास रखकर अहोरात्र भगवान् की कीर्ति का गान करते हैं।

श्रीकृष्ण के दिव्य गुण, असाधारण चेष्टा और मधुर मुस्कान

श्रीकृष्ण के दिव्य गुणों की तीन कोटियाँ हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक।

श्रीकृष्ण की वय, उनका दिव्य श्रीअंग, सौंदर्य तथा मृदुता उनके कायिक गुण हैं। श्रीकृष्ण और उनके शरीर में भेद नहीं है, इसलिए उनके कायिक गुण साक्षात् उन्हीं के स्वरूप हैं। ये भक्तों के प्रेम का उद्दीपन करते हैं, इसीलिए उन्हें उस प्रेम का अलग से कारण बताया गया है। श्रीकृष्ण के गुणों से आकृष्ट होना स्वयं श्रीकृष्ण से ही आकृष्ट होना है, क्योंकि यथार्थ में श्रीकृष्ण और उनके गुणों में कुछ भी भेद नहीं है। श्रीकृष्ण का नाम भी कृष्ण है, यश भी कृष्ण और परिकर भी कृष्ण है। श्रीकृष्ण के प्रेम को उद्दीप्त करने वाली उनसे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु कृष्ण है। परन्तु हमारी जानकारी के लिए इनका अलग विचार किया गया है।

श्रीकृष्ण अखिलरसामृतमूर्ति (आलम्बन) हैं; अतः कृष्णप्रेम के उद्दीपन भिन्न प्रतीत होते हुए भी वास्तव में श्रीकृष्ण से भिन्न नहीं हैं। कृष्ण के नाम, यश, गुण आदि कृष्णप्रेम के आलम्बन और उद्दीपन दोनों हैं।

श्रीकृष्ण की वय कौमार, पौगण्ड और कैशोर—इस प्रकार तीन

प्रकार की है। उनके आविर्भाव से छटे वर्ष के प्रारम्भ का काल कौमार कहलाता है, छटे वर्ष के आरम्भ से दसवें वर्ष तक पौगण्ड अवस्था रहती है तथा दसवें से सोलहवें वर्ष तक कैशोर रहता है। सोलहवें वर्ष के बाद श्रीकृष्ण यौवन में प्रवेश करते हैं, जिसके बाद श्रीकृष्ण की वय में परिवर्तन नहीं होता।

श्रीकृष्ण की दिव्य लीलाएँ प्राधान्यत: कौमार, पौगण्ड और कैशोर अवस्था में सम्पादित होती हैं। नन्द-यशोदा से उनकी वात्सल्यरसमयी लीला कौमार में हुई; गोपबालकों से सख्यरस का प्रकाश पौगण्ड अवस्था में हुआ और कैशोर में गोपियों से उनका प्रेमविलास है। श्रीकृष्ण की वृन्दावनलीला उनके पन्द्रहवें वर्ष तक पूर्ण हो जाती है। आगे की लीला वे मथुरा और द्वारका में करते हैं।

श्रील रूप गोस्वामी भक्तिरसामृतसिन्धु में अखिल रसों के आश्रय के रूप में श्रीकृष्ण का विशद वर्णन करते हैं, जिसका सार इस प्रकार है।

श्रीकृष्ण के कैशोर को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—आद्य, मध्य तथा शेष कैशोर। श्रीकृष्ण के कैशोर का आरम्भ होने पर, अर्थात् ग्यारहवें वर्ष के आदि में उनका श्रीअंग कुछ इतना उज्ज्वल हो जाता है कि प्रेम के उद्दीपक का काम करता है इसी प्रकार नयनों में अरुणिमा छा जाती है और शरीर पर रोमावली प्रकट होने लगती है। श्रीकृष्ण के इस आदि कैशोर का वर्णन करते हुए वृन्दावन में कुन्दलता ने अपनी सखी से कहा, "हे सखि ! मैंने अभी-अभी श्रीकृष्ण के विग्रह में एक अपूर्व सुषमा स्फुरित होती देखी है। उनके शरीर की श्यामलता इन्द्र-नीलमणि की कान्ति का अपहरण कर रही है, नेत्रों में अरुणच्छवि है और शरीर पर रोमराजि उदित हो रही है। इन लक्षणों के उदय ने उन्हें असमोर्ध्व माधुरी प्रदान की है।"

इस सन्दर्भ में श्रीमद्भागवत (१०.२१.५) में शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित से कहते हैं, "गोपियों का मन श्रीकृष्ण के चिन्तन में तन्मय हो गया था। वे ध्यान में देखतीं कि श्रीकृष्ण ने नटवर वेष धारण किया है और भूमि पर अपने चरणचिह्नों को अंकित करते हुए वन में प्रवेश कर रहे हैं। श्रीकृष्ण सिर पर मोरपिच्छ और कर्णों में कर्णिकार धारण किए हुए हैं। पीताम्बर और वैजयन्ती माला से विभूषित हैं। इस प्रकार वंशी-वादन करते हुए श्रीकृष्ण की कीर्ति का गोपबालक गान कर रहे हैं।" गोपियाँ नित्य इसी ध्यान का अभ्यास करती थीं।

कभी-कभी गोपीजन श्रीकृष्ण के नखाग्रों की कोमलता, भ्रुवों के

नर्तन और पानचबाने से रक्तवर्ण हुई दन्तावली का ध्यान करतीं। गोपी कहती है, "हे सखि ! देखो, अधारि ने कैसा अभिनव सौन्दर्य धारण किया है। उनकी भ्रुवों में कामदेव के वाण सी चपलता और वक्रता है, नखाग्र कोमल पत्तों के समान मृदु हैं और दन्तपंक्ति रक्त है, मानो वे क्रुद्ध हों। यह रूप देखकर कौन स्त्री आकृष्ट होकर इस माधुरी पर सर्वस्व खो बैठने से भीतशंकित न होगी ?"

श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी का वर्णन स्वयं वृन्दावन की अधिष्ठात्री वृन्दादेवी ने भी किया है। उसने श्रीकृष्ण से कहा, "हे माधव ! तुम्हारी अभिनव स्मित ने गोपियों के मन को ऐसा मोह लिया है कि वे अपने भावों को अभिव्यंजित करने में भी समर्थ नहीं रही हैं। वे इतनी मुग्ध हो चुकी हैं कि किसी से कुछ कह तक नहीं सकतीं। लगता है मानों तुम्हारा दर्शन कर उन्होंने अपने प्राणों पर जलांजलि दे दी है, अर्थात् जीने की आशा ही छोड़ दी है।" वैदिक पद्धति के अनुसार मृत प्राणी पर जलांजलि छोड़ी जाती है। वृन्दा के वाक्य का अभिप्राय है कि श्रीकृष्ण की माधुरी से अतिशय मुग्ध हुई गोपियाँ अपने मन का भाव अभिव्यक्त करने में समर्थ न रहीं, इसलिये उन्होंने आत्महत्या का निश्चय कर लिया।

जब श्रीकृष्ण मध्य कैशोर अर्थात् तेरह-चौदह वर्ष की आयु में पदार्पण करते हैं, तो दोनों जंघाओं, दोनों बाहुओं और वक्षस्थल में कोई अभूतपूर्व सौन्दर्य आ जाता है और मूर्ति तो बस मधुरिमामयी हो जाती है। इस वयधर्म में श्रीकृष्ण की जांघें गजतुण्ड को लजाती हैं, वक्षःस्थल मरकतमणि के कपाट से मित्रता करना चाहता है। भुजदण्ड अर्गला को तिरस्कृत करते हैं। श्रीकृष्ण की इस अद्भुत रूपमाधुरी का वर्णन भला कौन कर सकता है ? इन सब में भी श्रीकृष्ण मन्द-मन्द हँसी, चंचल नेत्र और त्रिभुवनविमोहन गति का सर्वाधिक वैशिष्ट्य हैं। ये इस वय के विशिष्ट लक्षण जो ठहरे।

इस सम्बन्ध में एक श्लोक में उल्लेख है कि इस अवस्था के प्रवेश काल में श्रीकृष्ण में ऐसे अपूर्व रूप का विकास हुआ कि उनके चंचल नेत्र कामदेव के खिलौने बन गए तथा मृदु मुस्कान सद्योप्रस्फुटित कमलदल से भी अतिशय हो गई। यही नहीं, उनके उन्नत मनोहर संगीत का नाद कुलवधुओं के पातिव्रत को भंग करने वाला हो गया।

इसी अवस्था में श्रीकृष्ण ने हास-परिहास, रासलीला और गोपियों के साथ यमुना तट पर स्थित निकुंज में विहार का आस्वादन किया।

इस सम्बन्ध में एक श्लोक इस प्रकार है; "सम्पूर्ण वृन्दावनधाम

श्रीकृष्ण और गोपियों के चरणचिह्नों से अंकित है। कहीं मोरपंख व्याप्त हो रहे हैं तो कहीं-कहीं कुंजों में सुखद शय्या सजी हुई है और कहीं गोविन्द और गोपियों के परस्पर नृत्य करने से बालुका इकट्ठी हो गई है।" बाकी ये कतिपय वे विलास हैं जो वृन्दावन में श्रीकृष्ण द्वारा प्रकटित लीला में हुए।

इस अवस्था में श्रीकृष्ण के आकर्षण का वर्णन करते हुए एक गोपी कहती है, "हे सखि ! देख कैसे अकस्मात् कृष्णमेघ के भीतर माधुर्य प्रवाह-रूप प्रचण्ड सूर्य का उदय हो रहा है, जो हमारे पतिव्रतधर्म रूपी चन्द्रमा को मन्द किए दे रहा है। श्रीकृष्ण के लिए हमारा अनुराग इतना अतिशय प्रबल हो चला है कि हमारे विवेकरूपी कुमुद को सुखाए डाल रहा है। हम नहीं जानतीं कि हम पतिव्रता रहें या श्रीकृष्ण के लावण्य की शिकार हो जायें। हे सखि ! लगता है हमारे जीवन की कुछ भी आशा नहीं रही है।"

ग्यारहवें वर्ष के प्रारम्भ से पन्द्रहवें वर्ष के अन्त तक के शेष कैशोर के आने पर निश्चय ही शरीर का सौन्दर्य पहले से उत्कर्ष को प्राप्त होता है तथा भुजाओं, पैरों और जांघों में त्रिवली की अभिव्यक्ति होती है। उस समय श्रीकृष्ण का वक्षःस्थल मरकतमणि के विशाल पर्वत की शोभा को हरता है, भुजाएँ इन्द्रनीलमणि के स्तम्भों से तिरस्कृत करती हैं और कटि की त्रिवली के सामने यमुना की तरंगें तुच्छ प्रतीत होती हैं तथा जांघें कदलीदल से भी अतिशय सुगढ़ हो जाती हैं।" एक गोपी बोली, "इस सम्पूर्ण अप्रतिम श्रीअंग माधुर्य धारी श्रीकृष्ण का विलक्षण सौन्दर्य है। इसलिए मैं उन्हीं के स्मरण में निमग्न रहती हूँ, क्योंकि वे सब असुरों को मारने वाले हैं।"

इस श्लोक का भाव इस प्रकार है। गोपियाँ श्रीकृष्ण के लिऐ अपने आकर्षण की तुलना असुरों के आक्रमण से कर रही हैं। श्रीकृष्ण के प्रति अपने आकर्षण के उपचार के लिए भी वे श्रीकृष्ण को ही याद करती हैं, इस आशा से कि वे सब असुरों के हन्ता हैं, इसलिए अवश्य सहायता करेंगे। वे द्विविधा में पड़ी हैं, क्योंकि एक ओर तो वे श्रीकृष्ण के माधुर्य से आकृष्ट हैं और दूसरी ओर चाहती हैं कि श्रीकृष्ण इस आकर्षण रूपी असुर को दूर करें।

इसी शेष कैशोर को नव यौवन कहा गया है। कैशोर के अन्त में सब गोपियों ने कहा, "श्रीकृष्ण कामदेव के आकर्षण को हराने वाले हैं, अतः नव वधुओं के धैर्य के सेतु को तोड़ देते हैं। श्रीकृष्ण का श्रीअंग

तारुण्य इतना मधुर हो चला है कि मानो परमोच्च कलाविलास हो। सुन्दर मयूरों के समान नाचते हुए उनके नेत्रों ने कुशल नर्तकों की शोभा का भी अपहरण कर लिया है। अतः श्रीकृष्ण की माधुरी सर्वथा अनुपम है।" इसीलिए विद्वान् इस समय उनके शरीरवय को नवयौवन कहते हैं। इस अवस्था में गोपियों के साथ रास आदि लीलाओं का अतिशय प्राधान्य रहता है।

प्रेमविलास की ये क्रीड़ाएँ हैं—दूतीस्तुति क्रिया, अनुनय (प्रणय), कलह, प्रेमी के पास जाना, निकट बैठना, विच्छेद और सन्धि। इन छः प्रेमविलासों के साम्राज्य का विस्तार करके राजा के रूप में श्रीकृष्ण उसका संचालन करते हैं। कहीं वे युवतियों से कलह करते हैं, कहीं तोते के नख चुभाते हैं, कभी गोपी-मिलन को जाते हैं तो कभी गोपों के माध्यम से गोपियों की शरण में जाने के लिए सन्धि करते हैं।

गोपियों का एक वृन्द श्रीकृष्ण को सम्बोधित करते हुए कहने लगा, "हे कृष्ण! तुम्हारा यह कैशोर गुरु बनकर आज सुन्दर युवतियों को सखियों के द्वारा सुनकर दूतियों के समय अनुनय करने की, रात्रि में पतियों को धोखा देकर तुमसे निकुंजों में मिलने की, गुरुजनों की बात न सुनने की, वंशीध्वनि को सूनने के लिए कान लगाए रखने की और प्रेम के सभी रहस्यों की शिक्षा दे रहा है।"

यद्यपि श्रीकृष्ण ने पांच वर्ष की आयु में भी ऐसे नवयौवन की शक्ति का प्रकाश किया है, परन्तु योग्य वय से रहित होने के कारण विद्वान् उसका वर्णन नहीं करते। श्रीकृष्ण के सम्पूर्ण अंग सर्वथा निर्दोष एवं सुगढ़ थे, यही उनके सौन्दर्य का कारण है। श्रीकृष्ण में प्राप्त अंगों के इस यथायोग्य सन्निवेश का वर्णन इन शब्दों में है, "हे कंसारि श्रीकृष्ण! बड़ी बड़ी आँखों वाला तुम्हारा मुख, मरकतमणि के सदृश उन्नत वक्षस्थल, स्तम्भ जैसे भुजदण्ड तथा क्षीण कटि आदि किस मृगनयनी के चित्त का हरण नहीं करेंगे?" श्रीकृष्ण के श्रीअंग पर विराजित विभूषणों से श्रीकृष्ण की शोभा नहीं बढ़ती, बल्कि श्रीकृष्ण की माधुरी से विभूषण ही विभूषित हो जाते हैं।

जो कोमल स्पर्श को भी सहन कर सके, उसे मृदु कहते हैं। श्रीकृष्ण के सभी अंग इतने अतिशय सुकुमार थे कि नवजात पत्ते के स्पर्श से भी उनका वर्ण बदल जाता। इस कैशोर में श्रीकृष्ण की सम्पूर्ण चेष्टाएँ, वृन्दावन में रासोत्सव और दुष्टदलन के लिए ही होती थीं। वृन्दावन में श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ क्रीड़ा करते समय कंस उनके वध के हेतु

अपने साथियों को भेजता और श्रीकृष्ण उन्हें मारकर अपना पराक्रम प्रकट करते।

श्रीकृष्ण का परिधान एवं माला

सामान्यतः श्रीकृष्ण के विग्रह पर चार प्रकार के परिधान रहते हैं-- कुर्ता, धोती; पगड़ी और दुपट्टा। वृन्दावन में वे सदा रक्तवर्ण दुपट्टा, पीतवर्ण कुर्ता और सिर पर केसर रंग की पगड़ी धारण करते हैं। नाना प्रकार की धोती उनकी मधुर मुस्कान से मिल कर सखाओं का आनन्द बढ़ाती थी। श्रीकृष्ण की इस वेषभूषा को भूयिष्ठ (भ्राजमान्) कहा गया है। जैसे नाना वर्ण के वस्त्र में गजशिशु शोभित होता है, वैसे ही श्रीकृष्ण के शरीर के अंगों पर वर्ण-वर्ण के वस्त्र भ्राजमान् थे।

श्रीकृष्ण के केशबन्धन, अंगराग के आलेप, माला, तिलक, चित्र, पान तथा लीलाकमल को 'आकल्प' कहते हैं। श्रीकृष्ण इस सम्पूर्ण आकल्प से निरन्तर विभूषित हैं। श्रीकृष्ण के केश-विन्यास के भी बहुत भेद हैं; कभी वे सिर के मध्य भाग में पुष्प धारण करते हैं तो कभी पृष्ठभाग में। समय-समय पर उनकी केशराशि के भिन्न-भिन्न श्रृंगार होते हैं। श्रीकृष्ण के अंग पर आलिप्त अंगराग सामान्यतः शुभ्र (श्वेत) वर्ण का होता है, पर केसर के संयोग से पीतवर्ण हो जाता है।

श्रीकृष्ण कण्ठ में वैजयन्ती माला धारण करते हैं। वैजयन्ती में कम से कम पाँच रंग के फूल गुम्फित रहते हैं। यह सदा श्रीकृष्ण के जानुओं अथवा चरणों का स्पर्श करती रहती है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक पुष्पमालाएँ भी उनके सिर, कण्ठ, वक्षस्थल आदि पर शोभित रहती हैं। अंगराग और सवर्ण चन्दन के बने कलापूर्ण चित्र भी श्रीकृष्ण के विग्रह पर पाए जाते हैं।

एक गोपी सखी से श्रीकृष्ण की रूप माधुरी का गुणगान कर रही थी। उनका श्यामल वर्ण, पान की अरुणिमा से शतगुणित हुई शोभा, सिर पर कुंचित केशराशि, शरीर पर कुंकुम के बिन्दु तथा ललाट पर तिलक—ये सब परम मनोहारी हैं।

किरीट, कुण्डल, हार, चार परिधान, कड़े, अंगूठी, नूपुर तथा वेणु—ये सब श्रीकृष्ण के नाना अलंकार हैं। अघासुर के अरि श्रीकृष्ण अपने अनुपम किरीट, हीरे के कुण्डल, मोतियों के हार, कड़े, कसीदे के वस्त्रों और सुन्दर अंगूठियों को धारण किए हुए हैं।

श्रीकृष्ण को वनमाली भी कहा जाता है, क्योंकि वे नाना पुष्पों से

अपना शृंगार करते हैं। श्रीकृष्ण का यह शृंगार वृन्दावन में ही नहीं था, वरन् कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में भी दृष्टिगोचर होता था। इन रंग-बिरंगे वस्त्रों और पुष्पों से उन्हें विभूषित देखकर ऋषिगण स्तुति करने लगे, "भगवान् श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि के लिए नहीं, अपितु अपनी उपस्थिति से सारे भक्तों पर कृपा करने के लिए जा रहे हैं।"

श्रीकृष्ण की बांसुरी

श्रीकृष्ण की बाँसुरी इतनी अद्‌भुत है कि उसकी ध्वनि ने परमहंसों के ध्यान को भंग कर दिया। इस प्रकार अपनी कीर्ति का त्रिभुवन में विस्तार करके श्रीकृष्ण कामदेव को ललकार रहे थे।

श्रीकृष्ण की बाँसुरी के वेणु, मुरली और वंशी—ये तीन भेद हैं। वेणु बारह अंगुल लम्बी और छः छिद्रों से युक्त होती है। दो हाथ लम्बी, मुखछिद्र सहित चार अतिरिक्त स्वरछिद्रों वाली मुरली है। इससे अतिशय मधुर ध्वनि निःसृत होती है। नौ छिद्रों से युक्त और सत्रह अंगुल लम्बी वंशी है।श्रीकृष्ण यथासमय इन सब बाँसुरियों का वादन करते हैं।

श्रीकृष्ण की एक महानन्दा अथवा सम्मोहिनी नामक बड़ी वंशी भी है। उससे भी बड़ी हो तो वह आकर्षिणी कहलाती है। आनन्दिनी आकर्षणी से भी विशाल है। यह आनन्दिनी वंशी गोपबालकों की अतिशय प्रिया है। इसका एक नाम वंसुली भी है। ये वंशियाँ मणिमयी, सुवर्णमयी और बांस की बनी होती हैं। मणिमयी वंशी संमोहिनी कहलाती है और सुवर्णमयी आकर्षिणी कही जाती हैं।

श्रीकृष्ण का शृंग

श्रीकृष्ण घोष करने के लिए शृंग का प्रयोग करते थे। सोने से मण्डित और मध्य में रत्नजड़ित इस वाद्य के बीच में छिद्र रहता है। इस सन्दर्भ में तारावली नामक गोपी के सम्बन्ध में श्लेष युक्त वाक्य है, जिसमें कहा गया है कि श्रीकृष्ण की वंशीरूप परम विषधर सर्प से डसी तारावली ने उपचार के लिए श्रीकृष्ण के करकमलों में स्थित शृंग का नादरूप दुग्ध पी लिया। परन्तु उससे विष का प्रभाव कम होने के बजाय हजार गुणा बढ़ गया। इस प्रकार शृंग की ध्वनि से उसकी बड़ी दुर्दशा हुई।

श्रीकृष्ण के पद-नूपुरों का आकर्षण

किसी गोपी ने अपनी सखी से कभी कहा, "हे सखि ! श्रीकृष्ण की

नूपुर-ध्वनि को सुन कर मैं उनके दर्शन के लिए अधीर हो उठी। पर हाय, सामने गुरुजन खड़े थे, इसलिए बाहर न जा सकी।"

श्रीकृष्ण का शंख

श्रीकृष्ण के शंख का नाम पांचजन्य है। इसका भगवद्गीता में भी उल्लेख है। कुरुक्षेत्र युद्ध से पूर्व श्रीकृष्ण ने इसका वादन किया था। कहा जाता है कि जब श्रीकृष्ण अपना शंख बजाते हैं तो असुरपत्नियों का गर्भपात हो जाता है और सुरलोक की स्त्रियों के आनन्द-मंगल का वर्धन होता है। इस प्रकार शंख का स्वर त्रिभुवन को अभिपूरित करता रहता है।

श्रीकृष्ण के चरणचिह्न

श्रीमद्भागवत में उल्लेख है कि जब अक्रूर ने, जो श्रीकृष्ण को रथ पर वृन्दावन से मथुरा ले गये थे, वृन्दावन की भूमि पर श्रीकृष्ण के चरण-चिह्न अंकित देखे तो उनके हृदय में प्रेम ऐसा उमड़ा कि रोमांच हो आया, आंखों से प्रेमाश्रु धारा प्रवाहित होने लगी और इसी भावोन्माद में वे रथ से कूद कर भूमि पर गिर पड़े और कहने लगे—"ओह ! ओह !

कुछ ऐसा ही उद्गार गोपियों ने भी अभिव्यक्त किया था, जब वे यमुनातट पर जा रही थीं और बालुका में श्रीकृष्ण के चरणचिह्न दृष्टि-गोचर हुए। जब श्रीकृष्ण वृन्दावन की भूमि पर चलते तो ध्वज, कुलिश, अंकुश, कमल आदि चरणचिह्न रेणिका में अंकित हो जाते। इन पर दृष्टि पड़ते ही गोपियाँ उन्मत्त हो गयीं।

श्रीकृष्ण के लीलाक्षेत्र

एक भक्त कहता है, "ओह ! असमोर्ध्व सौन्दर्य वाली श्रीकृष्ण की इस लीला-स्थली के दर्शन तो दूर केवल 'मथुरा' नाम भी कान में पड़ते ही हमारे मन को आनन्द से विह्वल कर देता है।"

श्रीकृष्णप्रिया तुलसी

भगवान् श्रीकृष्ण को तुलसीदल और मंजरी प्राणप्रिय हैं। तुलसी भगवान् के चरणकमलों में चढ़ायी जाती है। अतः उनकी शरण में जाने का अभिलाषी एक भक्त तुलसीदेवी से प्रार्थना करता है कि वह उसका सन्देश भगवान् के चरणों तक पहुँचा दे।

श्रीकृष्णभक्त

कभी-कभी किसी भगवद्भक्त को देखकर मन आनन्द से अभिभूत हो जाता है। जब ध्रुव महाराज ने नारायण के दो पार्षदों को अपने निकट आते देखा तो वे श्रद्धाभाव से तुरन्त अगवानी के लिए उठे और हाथ जोड़े उनके आगे खड़े रहे; परन्तु प्रेम-विह्वलता के कारण कुछ स्तुति नहीं कर सके।

एक गोपी सुबल से कहती हैं, "हे सुबल ! मैं जानती हूँ कि कृष्ण तुम्हारे सखा हैं और तुम सदा उनके साथ हास-परिहास का आनन्द लेते हो। उस दिन मैंने देखा तुम दोनों एक दूसरे के कन्धे पर हाथ रखे हुए साथ खड़े हो और मुस्करा रहे हो। दूर से ही इस दृश्य को देखकर तुरंत मेरे नेत्र भर आए।"

श्रीकृष्ण-स्मरण के विशेष दिन

श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं से सम्बन्धित महोत्सवों के अनेक विवरण हैं। इनमें प्रधान है जन्माष्टमी-श्रीकृष्ण की आविर्भाव तिथि। यह दिवस भक्त के लिए परम ऐश्वर्यमय होता है। कभी-कभी तो अन्य मतावलम्बी भी इस मंगलमय दिन का लाभ उठा कर जन्माष्टमी महोत्सव मनाते हैं। एकादशी आदि अन्य कृष्णवासरों पर भी कृष्णप्रेम उद्दीप्त होता है।

अध्याय २७

प्रेम के लक्षण (अनुभाव)

भक्त के शरीर में प्रकट होकर कृष्णप्रेम को अभिव्यक्त करने वाले लक्षण अनुभाव कहलाते हैं। अनुभाव ये हैं—नाचना, लोटना, गाना, चिल्लाना, देह मोड़ना, हुंकार करना, जंभाई लेना, दीर्घ श्वास लेना, लोक की चिन्ता न करना, लार टपकना, अट्टहास करना, चक्कर आना, हिचकी आना। जब प्रेम में अद्‌भुत अतिशयता आ जाती है तो इन शारीरिक लक्षणों के प्रकट होने से दिव्य आनन्द की अनुभूति होती है।

इन अनुभावों के दो भाग हैं—शीत और क्षेपण। जम्भाई लेना आदि शीत है तथा नाचना आदि क्षेपण हैं।

नाचना

गोपियों के साथ रासलीला करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र को निहार कर शिवजी डिण्डिम डमरू वजाते हुए नाचने लगे और गणेशजी भी उनके साथ सम्मिलित हो गए।

विलुठन

श्रीमद्‌भागवत (३.१.३२) में विदुर की उद्धव से जिज्ञासा है, "हे सखे! अक्रुरजी सुखपूर्वक तो हैं न? वे विद्वान् और निर्मलचित होने के साथ ही भगवान् के भक्त भी हैं। मैंने स्वयं देखा है कि कृष्ण के प्रेम में अधीर होकर वे श्रीकृष्ण के चरणचिह्नों से अंकित भूमि पर लोट गए थे।" इसी प्रकार किसी गोपी ने श्रीकृष्ण से कहा कि उनकी अभिनव अनुरागवती राधारानी उनकी वनमाला की सुगन्ध से मत्त होकर विरहवश कठोर भूमि पर लोट-लोट कर अपने मृदु शरीर का मर्दन कर रही हैं।

उच्च स्वर से गाना

एक गोपी ने श्रीकृष्ण को बताया कि राधाजी उनका गुणगान कर रही

हैं। उन्होंने सखियों को कुछ इस प्रकार मुग्ध कर लिया है कि वे पाषाणवत् जड़ हो गयी हैं, जबकि उस प्रेम से पत्थर द्रवीभूत हो चले हैं।

हरेकृष्ण कीर्तन करते-करते नारदजी ऐसे चिल्लाने लगे कि नृसिंहदेव को प्रकट हुआ समझकर दानवदल भयवश तुरन्त सब दिशाओं में भाग खड़े हुए।

ह मोड़ना

उल्लेख है कि कभी-कभी जब वीणाधारी नारदजी तीव्र भावावेश श्रीकृष्ण का स्मरण करते हैं तो उनका शरीर कुछ इतने वेग से मोड़ ता है कि यज्ञोपवीत खण्डित हो जाता है।

लाना

एक गोपी ने श्रीकृष्ण से कहा, "हे व्रजराजकुमार ! तुम्हारी मुरली-ध्व को सुनकर व्याकुल हुई सुन्दरी राधा रुद्ध कण्ठ से कुररी के समान चि रही है।"

हुंक करना

श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि को सुनकर चकित हुए शंकरजी आकाश में हुंका लगे जिससे दानवों का विनाश हो गया और भक्तों के हृदय में आन न्धु उमड़ आया।

जंभा ना

द्रोदय होने पर कुमुद प्रस्फुटित होते हैं। इसी प्रकार जब श्रीकृष्ण राधा के सामने आते हैं तो राधा का मुखरूप कमल जंभाई के रूप में विकार प्राप्त होता है।

दीर्घ श्लेना

श्लोक में उल्लेख है, "ललिता उस चातकी जैसी है जो केवल मेघजल ग्रहण करती है।" यहाँ श्रीकृष्ण को श्याम मेघ की उपमा दी गई है ललिता को उस चातकी के समान बताया है जो केवल कृष्ण-मेघ के लिए उत्कण्ठित है। अलंकार में आगे कहा है, "झंझावात से मेघ के हित हो जाने के समान वह अपने दीर्घ विश्वास के कारण श्रीकृष्ण बैठी, जो उसके फिर सचेत होने तक अदृश्य हो गए।"

अन्य लोगों की चिन्ता न करना

मथुरा के याज्ञिक ब्राह्मणों की पत्नियों ने जैसे ही सुना कि श्रीकृष्ण निकट आए हैं, वे तुरन्त घर छोड़कर वहाँ चल पड़ी। उन्होंने अपने विद्वान् पतियों की ओर ध्यान नहीं दिया। पति आपस में कहने लगे, "श्रीकृष्ण की रति में कैसा अद्भुत आकर्षण है जो ये स्त्रियाँ हमारी आज्ञा के बिना ही श्रीकृष्ण के पास चली गयीं।" यह श्रीकृष्ण का प्रभाव है। श्रीकृष्ण की ओर आकृष्ट भाग्यवान् जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाता है, जो उन यज्ञपत्नियों द्वारा परित्यक्त बन्द घरों जैसा है।

पद्यावली में कोई भक्त कहता है, "हमें संसार के लोगों की चिन्त नहीं है। यदि वे हमारी निन्दा करते हैं तो किया करें। हम तो ब हरेकृष्ण महामन्त्र के कीर्तनरूपी दिव्यरस का पान करेंगे और भूमि प लोटते हुए भावोन्मत्त नृत्य करेंगे। हमें परमानन्द सुलभ हो गया है।"

लार टपकाना

कभी-कभी हरेकृष्ण महामन्त्र जपते हुए नारदजी कुछ क्षण के सर्वथा निश्चित हो जाते हैं और उनके मुख से लार टपकने लगती है।

उन्मत्त के समान अट्टहास करना

जब कोई भक्त पागल जैसा अट्टहास करता है, तो ऐसा हमें प्रेम के विलक्षण विक्षेप के कारण होता है। अट्टहास हृदय की एक ष्टि अवस्था को प्रकट करता है। इस मनोभाव से भक्त का प्रेम अपर फूट पड़ता है। लगता है कि हृदय में भक्तिलता खिल उठी है जिस्रण मुख से अट्टहास रूपी पुष्पों का समुदाय बार-बार बिखर रहा है न्य चरितामृत के अनुसार भक्ति वह लता है जो गोलोक वृन्दावन मेंृष्ण के चरणकमल तक बढ़ती है।

चक्कर आना

गोपी कहती है, "हे सखि मुरलि ! लगता है अधारि तुम्भीतर फूँक मारने के व्याज से आंधी का प्रवेश करा देते हैं, जो तुम्हारे को घुमाता है और अब कमलनयना गोपियों की भी वही दशा कर है।"

हिचकी आना

कभी-कभी हिचकी भी कृष्णप्रेम का अनुभाव बन जातं इसके

प्रमाण में पौर्णमासी राधा की एक सखी से कहती है, "हे पुत्रि ! प्रिय सखी राधारानी के हिक्कार के लिए औषधि रचने की आवश्यकता नहीं है और उसके अनिष्ट की आशंका भी व्यर्थ है। हे मृगनयनी ! तुम चिल्लाती क्यों हो ? इसका कारण अपच नहीं है; यह तो कृष्णप्रेम का ही विकार है। इसीलिए कृष्णनाम के साथ हिचकी पर हिचकी हो रही है।" पौर्णमासी का यह वाक्य इस बात का प्रमाण है कि कृष्णप्रेम कभी-कभी हिक्कार के रूप में भी अभिव्यक्त होता है।

कदाचित् सम्पूर्ण शरीर का कंपित होना या फूल जाना तथा किसी अंग से रक्त निकलना आदि अनुभाव भी होते हैं। परन्तु ये अतीव दुर्लभ हैं; इसलिए श्रील रूप गोस्वामी ने इनका अधिक वर्णन नहीं किया है।

अध्याय २८

सात्त्विक भाव

श्रीकृष्ण सम्बन्धी भावों से साक्षात् रूप में अथवा थोड़े व्यवधान से अभिभूत हुए चित्त को मनीषिजन 'सत्त्व' कहते हैं। ऐसे सात्त्विक भाव से उत्पन्न होने वाले लक्षण तीन प्रकार के होते हैं—स्निग्ध, दिग्ध तथा रुक्ष।

स्निग्ध सात्त्विक भाव के मुख्य और गौण दो भेद हैं। राधारानी कुन्द पुष्पों की माला गूंथ रही थीं। उसी समय श्रीकृष्ण की वंशी ब्रज उठी और उसे सुनते ही उन्होंने तुरन्त अपना कार्य बन्द कर दिया। यह मुख्य स्निग्ध सात्त्विक भाव का उदाहरण है। गौण स्निग्ध सात्त्विक भाव का वर्णन इस प्रकार है, "अपने नेत्ररूप चातक के लिए मेघ के समान श्रीकृष्ण को मथुरा जाते देखकर यशोदा क्रोधवश लाल-लाल मुख से मथुरानरेश पर चिल्लाने लगी।"

दिग्ध सात्त्विक भाव के तीन भेद हैं, जिन का एक उदाहरण इस प्रकार है—"रात्रि में स्वप्न में पूतना को अपने प्रांगण में पड़ा देखकर यशोदा को कम्प हो आया और वे तुरन्त अपने लाल कृष्ण को खोजने लगीं।"

जब भाव के लक्षण अभक्त के शरीर पर प्रकट होते हैं तो उन्हें रुक्ष कहा जाता है। अभक्त वस्तुतः विषयी होते हैं, परन्तु किसी शुद्धभक्त के संग से उनमें भी कभी भाव के लक्षण अभिव्यक्त हो सकते हैं। भक्ति के विद्वान् इन्हें रुक्ष सात्त्विक भाव कहते हैं।

सात्त्विक भाव के आठ लक्षण हैं: स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभेद, कम्पन, विवर्णता, अश्रुधारा, तथा प्रलय।

श्रील रूप गोस्वामी ने इन भावों का वैज्ञानिक विवरण दिया है। जब प्राण पृथ्वी में स्थिर हो जाता है तो स्तम्भ को उत्पन्न करता है, जल के संसर्ग में आने पर अश्रु, अग्नि के संग में स्वेद और वैवर्ण्य को तथा

आकाश में आश्रित प्राण मूर्च्छा उत्पन्न करता है। जब प्राण स्वयं अपने में स्थिर होता है तो तीव्रता के भेद से क्रमशः कम्प, स्वरभेद और रोमांच को जन्म देता है।

ये सात्त्विक भाव कभी बाह्य रूप से प्रकट होते हैं तो कभी अन्तर में ही रहते हैं। शुद्धभक्त इन सब भावों का हृदय में निरन्तर अनुभव करता है; परन्तु बहिर्मुख मनुष्यों के सामने उन्हें प्रायः बाहर प्रकट नहीं होने देता।

स्तम्भ

स्तम्भ की उत्पत्ति हर्ष, भय, आश्चर्य, शोक तथा क्रोध से होती है। वाणी का अभाव, निश्चलता, शून्यता तथा परम विरह का भाव इसके लक्षण हैं।

श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन करते हुए उद्धवजी विदुर से कहने लगे, "एक दिन श्रीकृष्ण ने मालिन का श्रृंगार किया और उद्यान में प्रवेश कर गोपियों को हास-परिहास से आनन्दित किया। गोपियाँ स्तब्ध हो उठीं। फिर श्रीकृष्ण को जाते हुए गोपियाँ इस भाव से देख रही थीं मानो उनके चित्त और नेत्र श्रीकृष्ण का अनुगमन कर रहे हों।" इन लक्षणों से यद्यपि गोपियाँ तृप्त नहीं हुई थीं, वे प्रेम से स्तब्ध हो गई। यह हर्ष-जनित स्तम्भता का दृष्टान्त है।

भय के कारण स्तम्भ का उदाहरण इस प्रकार है। जब श्रीकृष्ण कंस के यज्ञमण्डप में पर्वत के समान मल्लों से घिरे हुए थे तो माता देवकी स्तम्भित हो गईं, उनके दोनों नेत्र आकुल हो उठे।"

ब्रह्मा को आश्चर्य से स्तम्भ हुआ था। श्रीमद्भागवत (१०.१३.५६) के अनुसार अपने द्वारा चुराए गो-गोपबालकों को पुनः श्रीकृष्ण के पास देखकर जब ब्रह्मा ने जाना कि ये गोपकुमार और कोई नहीं, साक्षात् भगवान् है तो आश्चर्यवश उनकी सारी इन्द्रियाँ स्तम्भित हो गईं। वे स्वर्णमयी चतुर्भुज मूर्ति के समान खड़े के खड़े रह गए। श्रीकृष्ण को अपने वाम कर से गोवर्धन पर्वत को धारण किए देखकर व्रजवासी भी स्तब्ध हुए थे।

जिस समय श्रीकृष्ण ने बकासुर के उदर में प्रवेश किया, उस समय सारे देवता शोक से स्तब्ध रह गए थे। क्रोध के कारण कुछ ऐसा ही अर्जुन के साथ भी हुआ, जब उसने देखा कि अश्वत्थामा श्रीकृष्ण पर ब्रह्मास्त्र चलाने जा रहा है।

स्वेद

हर्ष से उत्पन्न स्वेद का उदाहरण श्रीमद्‌भागवत में है। एक गोपी अपनी सखी राधारानी से कहती है, "हे राधे! धूप की निन्दा करके अपनी चतुराई क्यों दिखा रही हो। श्रीकृष्ण को देखकर काम-पीड़ित होकर पसीने-पसीने हो रही हो, यह तो मैं जान ही गई हूँ।"

श्रीकृष्ण के सेवक रक्तक में भय से स्वेदस्राव हुआ था। एक दिन श्रीकृष्ण ने राधारानी के पति अभिमन्यु का वेष धारण किया। अभिमन्यु को श्रीकृष्ण से राधा का प्रणय रुचिकर न था। इसलिए रक्तक ने श्रीकृष्ण को उस रूप में देखा तो वह भी प्रेम से उन्हें अभिमन्यु समझ बैठा; अतः उन्हें फटकारने लगा। फिर जैसे ही उनसे पहचाना कि यह तो अभिमन्यु के वेष में श्रीकृष्ण ही हैं, तो पसीने-पसीने हो गया। यह स्वेद भयजन्य था।

क्रोध के कारण स्वेद की उत्पत्ति विष्णुवाहन गरुड में हुई है। जिस समय इन्द्र वृन्दावन पर मूसलाधार वर्षा कर रहा था, गरुड़जी इस दृश्य को मेघों के ऊपर से देख रहे थे और क्रोध के कारण उनके शरीर से स्वेद बहने लगा।

रोमांच

श्रीकृष्ण के मुख में त्रिलोकी को देखकर माता यशोदा को रोमांच हो आया। उन्होंने श्रीकृष्ण से मुख खोलने को कहा था यह देखने के लिए कि उन्होंने मृद-भक्षण किया है या नहीं। परन्तु जब श्रीकृष्ण ने मुख खोला तो उन्हें सम्पूर्ण पृथ्वी के साथ अन्य लोक भी कृष्ण के मुख में दृष्टिगोचर हुए। इससे वे रोमांचित हो गईं।

हर्ष से होने वाले रोमांच का वर्णन गोपियों के रासविलास के सम्बन्ध में श्रीमद्‌भागवत (१०.३०.१०) में है। इस रास में श्रीकृष्ण अकस्मात् अन्तर्हित हो गये और गोपियों सहित राधारानी उन्हें ढूँढने लगीं। वे पृथ्वी से बोलीं, "हे धरा! तुमने कितना तप किया होगा जो तुम्हें श्रीकृष्ण के चरणकमलों का निरन्तर स्पर्श प्राप्त रहता है। अवश्य ही आनन्द से पुलकित होकर इस वनस्पतिरूप रोमांच से शोभित हो रही हो। तुममें प्रेम के ये लक्षण प्रथम कब विकसित हुए? तुम्हारा यह आनन्द महोत्सव वामनावतार के स्पर्श से प्रारम्भ हुआ है अथवा भगवान् वराह ने जब तुम्हारा उद्धार किया था, तब से?"

श्रीकृष्ण कभी-कभी गोपबालकों के साथ बनावटी युद्ध का आयोजन किया करते थे। ऐसे समय जब वे अपना शृंग बजाते तो विरोधी पक्ष के

श्रीदामा को उत्साहवश रोमांच हो जाता। इसी प्रकार श्रीकृष्ण के विश्वरूप को देखकर अर्जुन भय से रोमांच को प्राप्त हुआ।

स्वरभेद

अक्रूर के रथ पर बैठ कर मथुरा जाते हुए श्रीकृष्ण के पथ को रोकने के लिए यशोदा और सारी गोपियाँ सामने आकर खड़ी हो गई। राधारानी की दशा तो विशेष रूप से इतनी दयनीय हो गई थी कि काँपती हुई वाणी में उन्होंने यशोदा से अक्रूर को रोकने का निवेदन किया।

ब्रह्मा को आश्चर्यजनित स्वरभेद का अनुभव हुआ। श्रीमद्भागवत (१०.१३.६४) में उल्लेख है कि श्रीकृष्ण को दण्डवत् प्रणाम करके ब्रह्मा ने गद्गद् वाणी में उनकी स्तुति की।

श्रीमद्भागवत (१.२६.३०) में ही गद्गद् वाणी का एक अन्य उदाहरण है। गोपीजन रात्रि में सब कुछ त्याग कर श्रीकृष्ण के साथ रास करने आयी थीं, परन्तु श्रीकृष्ण ने उन्हें वापस अपने पतियों और घर को लौट जाने को कहा। इस पर वे क्रोध के कारण गद्गद् वाणी से श्रीकृष्ण से प्रतिभाषण करने लगीं।

हर्ष-जनित स्वरभेद का प्रकाश अक्रुर ने श्रीमद्भागवत (१०.३९.५६-५७) में किया है, जब उन्होंने सम्पूर्ण वैकुण्ठों को यमुना जल पर आश्रित देखा। तब उन्हें ज्ञान हुआ कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं और वे श्रीकृष्ण के चरणकमलों में सिर झुकाकर गद्गद वाणी से करबद्ध स्तुति करने लगे। भय के कारण भी स्वरभेद होने के उदाहरण है। श्रीकृष्ण के एक सखा ने उनकी प्रशंसा में कहा, "हे सखे ! तुम्हारी वंशी तुम्हारे ही एक सेवक पात्री को दी थी और जब मैंने वह वापस माँगी तो उसकी वाणी गद्गद हो गई और मुख का रंग पीला पड़ गया।"

कम्प

श्रीकृष्ण को शंखासुर को पकड़ता देखकर राधारानी-भयवश काँपने लगीं। इसी प्रकार का कम्पन सहदेव में उस समय देखा गया जब शिशुपाल भगवान् श्रीकृष्ण को भीषण अपशब्द कह रहा था।

पीड़ावश शरीर का कम्प राधाजी में भी प्रकट हुआ। वे काँपते हुए गोपी से बोलीं, "इस निष्ठुर से हँसी मत कर। इसने सदा हमें दुःख ही दुःख पहुँचाया है, इसलिए यहाँ आने से इसे मना कर दे।"

विवर्णता

कभी-कभी श्रीकृष्ण के व्यवहार से हुए महान् विषाद आदि से देह का रंग बदल जाता है। अतः गोपियाँ उनसे कहती हैं, "हे कृष्ण ! तुम्हारे विरह में सारे व्रजवासी विवर्ण हो गए हैं। इस कारण देवर्षि नारद को वृन्दावन में श्वेतद्वीप का भ्रम हो रहा है।"

कृष्ण-बलराम को यज्ञशाला में आया देखकर कंस का रंग उड़ गया। इसी प्रकार इन्द्र भी यह देख कर विवर्ण हो गया था कि कृष्ण गोर्वधन धारण करके सारे व्रज की रक्षा कर रहे हैं। यदि विवर्णता अतिशय हर्ष के कारण होती है तो रक्तिमा देखी जाती है। यह विकार बड़ा दुर्लभ है, अतः श्रील रूप गोस्वामी ने इसका इतना ही विवरण दिया है।

अश्रु

हर्ष, रोष, विषाद, आदि कारणों से नेत्रों से अश्रु-प्रवाह निकल पड़ता है। हर्ष से उत्पन्न आँसू ठण्डे और क्रोधजनित आँसू गरम होते हैं। सभी प्रकार के आँसुओं में नेत्रों में क्षोभ, लालिमा और खुजली के कारण पोंछना आदि होता है।

द्वारका में भगवान् श्रीकृष्ण की पट्टमहिषी रुक्मिणीजी भाव के आनन्द में अश्रु बहा रही थीं, परन्तु वे उन्हें अप्रिय लगे क्योंकि श्रीकृष्ण के दर्शन में बाधा डाल रहे थे। 'हरिवंश' के एक श्लोक में सत्यभामाजी श्रीकृष्ण पर प्रणयकोप के कारण आँसू बहाने लगीं।

रोषजनित अश्रुपात का एक अन्य उदाहरण यह है। राजसूय यज्ञ में शिशुपाल को श्रीकृष्ण का तिरस्कार करते देखकर भीमसेन को भयंकर रोष हुआ। वह शिशुपाल को तुरन्त मार डालना चाहता था; परन्तु श्रीकृष्ण ने उसे ऐसा करने से रोक दिया। इससे वह क्रोध से तिलमिला उठा। वर्णन है कि उस समय उसके नेत्र गरम आँसुओं से अभिभूत हो रहे थे, जैसे सांध्यकालीन चन्द्रमा पर कोई हल्का सा मेघ छा जाय। संध्या का मेघाच्छादित चन्द्रमा बड़ी शोभा पाता है। इसी प्रकार क्रोधवश अश्रु-विमोचन करता हुआ भीम भी अतिशय शोभित हुआ।

श्रीमद्भागवत (१०.६०.२३) में रुक्मिणी द्वारा विषादवश अश्रु-विमोचन करने का सुन्दर उदाहरण हैं। श्रीकृष्ण और रुक्मिणी का वार्तालाप हो रहा था प्रसंगवश रुक्मिणी श्रीकृष्ण के विरह की आशंका से भयभीत हो गयीं। रक्तकमल के समान नखों से भूमि कुरेदती हुई रुक्मिणी के नेत्रों की अंजन अश्रुधारा के साथ कुंकुम से उपलिप्त वक्षःस्थल पर

बह चली। इतनी विषाद-मग्न हो गयी कि उसकी वाणी भी गद्गद् हो चली।

प्रलय

एक साथ दुःख और सुख की अतिशयता के कारण जब यह बोध नहीं रहता कि क्या करना है, क्या नहीं करना—उस स्थिति को प्रलय कहते हैं। प्रलय की अवस्था में भक्त पृथ्वी पर गिर पड़ता है और प्रेम के सम्पूर्ण लक्षण (अनुभाव) प्रकट हो जाते हैं। गोपियाँ श्रीकृष्ण को खोज रही थीं। तभी अचानक वनलता में से उन्हें स्तब्ध और इन्द्रियज्ञान शून्य करते हुए वे सामने प्रकट हो गए। इस अवस्था में गोपियाँ सौन्दर्यातिशय को प्राप्त हो गयीं। यह सुख के कारण प्रलय का एक उदाहरण है।

दुःखजनित प्रलय के भी अनेक उदाहरण हैं। श्रीमद्भागवत (१०.३९.१५) में शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित को कहते हैं, "हे राजन्! श्रीकृष्ण के विरह में गोपियाँ श्रीकृष्ण के चिन्तन में ऐसी तन्मय हो गयीं कि उनकी इन्द्रियों के सब व्यापार रुक गए और वे शरीर की सुध-बुध से बिल्कुल रहित हो गयीं मानो सम्पूर्ण भवबन्धन से मुक्त हो गयी हों।

सात्त्विक के न्यूनाधिक तारतम्य

शरीर के विविध सात्त्विक भावों में स्तम्भन का विशेष स्थान है। स्तम्भन के न्यूनाधिक्य के अनुसार प्राण और शरीर के विक्षोभ में भी तारतम्य होता है। इसीलिए अन्य सात्त्विक भावों में भी न्यूनाधिक्य है। ये सात्त्विक भाव शनैः-शनैः विकसित होते हैं और क्रमशः धूमायित, ज्वलित, दीप्त तथा उद्दीप्त कहलाते हैं। ये भाव बहुत काल तक रहते हैं और शरीर के अनेक अंगों में व्याप्त रहते हैं। अश्रुपात और स्वरभेद के विपरीत स्तम्भन सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होता है। अश्रुपात और स्वरभेद तो केवल एकांगी भाव हैं।

अश्रुओं में दो विशेषताऐं हैं—आँखों को अवदात और सुजा देना तथा आंखों के तारों को विलक्षण कर देना। स्वरभेद से गला रुक जाना, कुण्ठा और अत्यन्त व्याकुलता होती है। इन सात्त्विक भावों के लक्षण एकदेशीय हैं, इसलिए उनके साथ अन्य अंग-विकार भी होते हैं। उदाहरणार्थ, स्वरभेद के कारण गला रुक जाने पर घुर-घुर ध्वनि होती है। ऐसी ध्वनियाँ वाणी को कुण्ठित कर देती हैं और परम व्याकुलता के साथ

नाना प्रकार से अभिव्यक्त होती हैं। ये सब लक्षण रुक्ष सात्त्विक भाव धूमायित अवस्था के हैं।

कभी-कभी श्रीकृष्ण के महोत्सवों अथवा भक्त-समाज में नृत्य-उन्माद होता है। ये भाव 'ज्वलित' कहलाते हैं।

श्रीकृष्ण में दृढ़ रति रूपी मूलभूत आधार के अभाव में उपरोक्त कोई भी लक्षण प्रकट नहीं हो सकता। ये सात्त्विक जब तनिक से ही व्यक्त होते हैं और छिपाए जा सकते हैं, तब धूमायित अवस्था के सात्त्विक भाव माने जाते हैं। नन्द महाराज के प्रासाद में वैदिक कर्म कहते हुए पुरोहित गर्ग मुनि में ये लक्षण हुए थे। जब उन्होंने सुना कि बालक कृष्ण ने अघासुर को मार डाला तो उनके नेत्र अश्रुओं से आर्द्र प्रतीत हुए, कण्ठ में कम्प होने लगा तथा सम्पूर्ण शरीर पसीने से तर हो गया। इस अवस्था में गर्ग मुनि का सुन्दर मुखमण्डल बड़ा शोभित हुआ।

जब दो या तीन या अधिक सात्त्विक भाव स्पष्ट रूप में प्रकट हो कर कठिनाई से छिपने के योग्य हो जाते हैं तब उन्हें ज्वलित कहा जाता है। उदाहरण के लिए, श्रीकृष्ण के सखा ने उनसे कहा, "हे सखे! वन में बज रही तुम्हारी वंशी के कानों में प्रविष्ट होते ही हाथ सर्वथा निश्चेष्ट हो गये हैं और नेत्र अश्रु धारा से अभिभूत हो रहे हैं। अब वे तुम्हारे मोर-पंख को भी नहीं पहचान पाते। जाघें स्तम्भित हो गई हैं, जिससे पग भर चलना भी सम्भव नहीं रहा है। इसलिए हे मित्र! तुम्हारी वंशीध्वनि निश्चय ही अद्‌भुत है।"

इसी प्रकार का भाव एक गोपी दूसरी पर प्रकट करती है, "हे सखि! वंशी की ध्वनि को सुनकर मैंने उसके प्रभाव को रोकने की पूरी चेष्टा की। परन्तु शरीर के कम्प को नहीं रोक सकी, जिससे परिजनों ने मेरे मन के कृष्णप्रेम को भाँप ही लिया।"

चार-पाँच सात्त्विक-भाव एक साथ पौढ़ रूप में उदित हो कर छिपाने के बिलकुल अयोग्य हो जाते हैं तो विद्वान् उन्हें 'दीप्त' कहते हैं। श्रीकृष्ण को सामने खड़ा देखकर नारदजी कुछ ऐसे कम्प से आक्रान्त हुए कि देर तक वीणा भी नहीं बजा सके। गद्‌गद् वाणी के कारण उनमें श्रीकृष्ण का स्तवन करने का सामर्थ्य न रही और आँखें अश्रुओं से परिपूर्ण हो गयीं। इस प्रकार वे सर्वथा अवश हो गए।

जब कुछ ऐसे ही भाव राधारानी में प्रस्फुटित हुए तो सखी उन्हें उपालम्भ देने लगीं, "हे सखि! नेत्र में अश्रुधारा के लिए पुष्पों की सुगन्ध को क्यों व्यर्थ दोष देती हो? शरीर पर रोमांच के लिए क्यों वायु पर

कोप करती हो। जांघों के स्तम्भन के लिए वन-विहार से द्वेष क्यों करती हो। तुम्हारा स्वरभेद बता रहा है कि इसका कारण तो कुछ और ही है—कृष्ण के लिए तुम्हारा प्रेम ही इसमें हेतु है।"

श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं कि पाँच-छः अथवा सारे ही सात्त्विक भाव एक साथ प्रकट होकर परम उत्कर्ष को प्राप्त होने पर 'उद्दीप्त' कहलाते हैं। श्रीकृष्ण के एक सखा ने उनसे कहा, "हे पीताम्बर! तुम्हारे विरह में सारे वृन्दावनवासी स्वेदयुक्त हो रहे है, नाना ध्वनियों से विलाप करते हैं; उनके शरीरों में कम्प, रोमांच और स्तम्भन हो चला है, नेत्र अश्रुधारा से अभिभूत हैं। अत्यन्त व्याकुल हैं।"

प्रेम का एक चरम लक्षण 'महाभाव' है। इस महाभाव की अनुभूति केवल राधारानी के लिए ही सम्भव है। पाँच सौ वर्ष पूर्व श्रीचैतन्य महाप्रभु राधाप्रेम का आस्वादन करने प्रकट हुए। उनमें भी महाभाव का पूर्ण प्रकाश था। श्रील रूप गोस्वामी का कथन है कि जब प्रेम के लक्षण सुद्दीप्त हो जाते हैं, तो वह अवस्था महाभाव कहलाती है।

श्रील रूप गोस्वामी आगे चार प्रकार के सात्त्विकाभास का विवेचन करते हैं।

कभी-कभी निर्विशेषवादी भी, जो यथार्थ में भक्ति से रहित हैं, प्रेम के इन भावों को प्रकट कर सकते हैं; परन्तु ये यथार्थ में भाव नहीं हैं, वरन् आभासमात्र हैं। उदाहरण के लिए, निर्विशेषवादियों की पावन नगरी वाराणसी में कदाचित् ऐसा संन्यासी दृष्टिगोचर हो सकता है जो भगवान् की महिमा का श्रवण कर अश्रुविमोचन कर रहा हो। निर्विशेषवादी कभी-कभी हरे कृष्ण महामन्त्र का कीर्तन और नृत्य भी करते हैं, पर उनका लक्ष्य भगवान् की सेवा करना नहीं है। वे यह सब भगवान् एक होकर उनके अस्तित्व में लीन होने के लिए ही करते हैं। अतः श्रील रूप गोस्वामी का कथन है कि निर्विशेषवादी के शरीर में कीर्तन से हुए विकार भाव के यथार्थ लक्षण नहीं हैं; वरन् आभासमात्र हैं, जैसे चमकदार शीशे में से सूर्य किसी अंधेरे कक्ष में प्रतिभासित होता है। परन्तु हरेकृष्ण जप इतना अतिशय प्रभावशाली और दिव्य है कि कालान्तर में निर्विशेषवादियों के हृदय को भी द्रवित कर देगा। रूप गोस्वामी निष्कर्ष करते हैं कि निर्विशेषवादियों में प्रकट विकार सात्त्विक भावों के आभासमात्र हैं, यथार्थ वस्तु नहीं हैं।

कदाचित् देखने में आता है कि भक्ति और भगवत्-कीर्ति के लेशमात्र ज्ञान से रहित तार्किक भी जब भगवान् का गुणगान सुनने बैठता है तो

हृदय से द्रवीभूत होकर अश्रु बहाता पाया जाता है। इस सम्बन्ध में एक भक्त भगवान् से कहता है, "हे मुकुन्द ! आप के लीलामृत की महिमा के सम्बन्ध में मैं क्या कह सकता हूँ, जिसका श्रवण कर अभक्त भी प्रभावित हो जाते हैं, उनके नेत्रों से अश्रु निर्झर प्रवाहित होने लगता है और शरीर रोमांचित हो जाता है।" ऐसे अभक्त वास्तव में द्रवित नहीं होते; वे भीतर से कठोर हैं। फिर भी भगवान् के गुणगान की कैसी अपार महिमा है कि अभक्त तक रो पड़ते हैं।"

जो कृष्णरस से प्रायः सर्वथा विहीन है और जिसने किसी विधि-नियम का पालन नहीं किया है, ऐसा अभक्त भी कभी-कभी अभ्यास के द्वारा भक्तमण्डली में अश्रु आदि सात्त्विक भावों का दम्भ करता है। परन्तु ये अश्रु आदि यथार्थ प्रेम के लक्षण बिलकुल नहीं हैं। यह सब तो केवल अभ्यास के द्वारा किया जाता है। यद्यपि सात्त्विकाभासों के वर्णन से कोई लाभ नहीं है, श्रील रूप गोस्वामी ने कुछ ऐसे उदाहरण दिए हैं, जहाँ यथार्थ भक्ति तो नहीं है, पर ये प्रकट होते हैं।

अध्याय २९

कृष्णप्रेम के व्यभिचारिभाव

प्रेमातिशय को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाले कतिपय शारीरिक लक्षण हैं। ये संख्या में ३३ हैं : निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, विस्मृति, व्याधि, मोह, मृत्यु, आलस्य, जड़ता, लज्जा (व्रीड़ा), गोपन, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, उत्सुकता, उग्रता, अमर्ष, निद्रा, स्वप्न, बोध, चपलता और असूया।

निर्वेद

जब किसी को बलात् कोई निषिद्ध विधि से कार्य करना पड़ता है अथवा इच्छा होने पर भी वाँछनीय विधि से कार्य नहीं कर पाता तो उसे ग्लानि होती है और वह अपने को अपमानित अनुभव करता है। ऐसे में निर्वेद का भाव उसे अभिभूत कर लेता है। निर्वेद में चिन्ता, अश्रु, विवर्णता, दैन्य तथा दीर्घ उच्छ्‌वास आदि लक्षण प्रकट होते हैं।

जब नन्द महाराज को लगा कि कालिया नाग को दण्ड देते-देते श्रीकृष्ण यमुना के विषाक्त जल में डूब गए हैं तो वे यशोदा देवी से कहने लगे, "हे देवी ! श्रीकृष्ण गहरे जल में चले गए हैं और इसलिए अब इन पापमय शरीरों को धारण करने से क्या लाभ ! अपने पापों का प्रायश्चित करने के लिए आओ हम विषमय कालीदह में भस्म हो जाएँ।" यह महती विपत्ति से भक्त को होने वाले निर्वेद का उदाहरण है।

श्रीकृष्ण के बृन्दावन से चले जाने पर उनके अंतरंग सखा सुबल ने भी वहाँ न रहने का निश्चय किया। जाते-जाते सुबल सोच रहा था कि कृष्ण के बिना बृन्दावन में कुछ भी आनन्द शेष नहीं रहा है। जैसे नीरस पुष्प को भ्रमर त्याग जाते हैं, वैसे ही बृन्दावन को दिव्य रसानन्द से हीन जानकर सुबल उसे त्याग कर चला गया।

'दानकेलिकौमुदी' में श्रीमती राधारानी अपनी सखी से कहती हैं, "हे सखि ! श्रीकृष्ण की कीर्ति न सुन पाने से तो अच्छा हो यदि मैं बहरी

हो जाऊँ। माधव के दर्शन के बिना इन नेत्रों का अन्धा हो जाना ही उचित है।" यह कृष्णविरह जनित निर्वेद का उदाहरण है।

हरिवंश में सत्यभामाजी श्रीकृष्ण से कहती हैं, "हे कृष्ण ! जब से मैंने नारद को तुम्हारे सामने रुक्मिणी का गुणगान करते सुना है, तब से सोचती हूँ कि मेरे विषय में बोलना तो व्यर्थ ही है।" यह ईर्ष्या से उत्पन्न निर्वेद है। रुक्मिणी और सत्यभामा दोनों श्रीकृष्ण की पत्नियाँ थीं, इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि उनमें परस्पर स्त्रियों के योग्य ईर्ष्याभाव हो। कारणतः रुक्मिणी की कीर्ति सुनकर सत्यभामा ईर्ष्यावश निर्वेद को प्राप्त हुई।

श्रीमद्भागवत (१०.४७.२९) का वाक्य है, "हे कृष्ण ! राज्यलक्ष्मी से मदमत्त; स्त्री, पुत्र और कोष में ही आसक्त तथा देह को आत्मा समझने वाले मुझ अविवेकी का सारा समय कभी न समाप्त होने वाली चिन्ता में ही व्यर्थ नष्ट हो गया।" यह विवेक से उत्पन्न निर्वेद का दृष्टान्त है।

भरतमुनि के अनुसार यह निर्वेद अमंगल है। परन्तु अन्यान्य विद्वानों ने इसे शान्तरस की श्रेणी में और प्रेम का स्थायिभाव भी माना है।

विषाद

जीवन के इष्ट लक्ष्य की प्राप्ति में असफलता, कार्य की असिद्धि, विपत्ति और अपने को अपराधी समझने से होने वाला अनुताप विषाद कहलाता है।

इन उपायों और सहायकों की खोज, चिन्ता, रोना, विलाप, दीर्घ-श्वास, विवर्णता, मुख का सूखना आदि लक्षण विषाद की अवस्था में अभि-व्यक्त होते हैं।

श्रीकृष्ण का एक वृद्ध भक्त प्रार्थना करता है, "हे अघासुर के हन्ता कृष्ण ! वृद्धावस्था के कारण मेरा शरीर विवश हो गया है। वाणी क्षीण हुई और मन निर्बल हो गया तथा स्मरण-शक्ति जाती रही है। हे नाथ ! आपका मुख क्या है, चन्द्रमा है। परन्तु दुर्भाग्यवश आपकी शीतल चन्द्रिका के लिए रुचि न होने से मैं कृष्णभावना का विकास नहीं कर सका।" यह वाक्य इष्ट-अप्राप्ति जनित विषाद का उदाहरण है।

एक भक्त का उद्‌गार है, "आज स्वप्न में मैंने उद्यान से नाना पुष्पों का चयन करके श्रीकृष्ण के लिए सुन्दर माला रची; पर हाय ! उसे श्रीकृष्ण के गले में पहनाने से पूर्व ही मेरी निद्रा भंग हो गई।" इसमें कार्य-असिद्धि का विषाद है।

जब नन्द महाराज ने देखा कि कृष्ण कंस की यज्ञशाला में फँस गए हैं तो वे बोल पड़े, "अहो ! मेरा दुर्भाग्य तो देखो। मैंने कृष्ण को घर में ही बन्द क्यों नहीं रखा ? इसे यहाँ मथुरा क्यों लाया, क्योंकि अब यह हाथी रूप राहू इस कृष्णरूप चन्द्रमा को ग्रसना चाहता है।" यह विपत्ति के कारण विषाद करना है।

श्रीमद्भागवत (१०.१४.६) में ब्रह्मा का वाक्य है, "हे नाथ ! आप अनन्त आदिपुरुष एवं मायापति सर्वव्यापक परमात्मा हैं। तनिक मेरा अपराध तो देखिये। अपनी तुच्छ शक्ति से मदमत्त हुआ मैं आपका अतिक्रमण करना चाहता था। जैसे अग्निकण अग्नि की कुछ भी हानि नहीं कर सकता, वैसे ही मेरी मोहनशक्ति आपकी परामाया को रोकने में तनिक भी सफल नहीं हो सकती। इसलिए मैं अपने को तुच्छ एवं निरर्थक समझता हूँ।" यह अपराध करके उत्पन्न विषाद है।

दैन्य

दुःख, त्रास, अपराध आदि के कारण होने वाला दीनता का भाव दैन्य कहलाता है। इस अवस्था में चाटुकारिता, मन्दता, मलिनता, चिन्ता तथा जड़ता आदि होती हैं।

श्रीमद्भागवत (१०.५१.५७) में राजा मुचुकुन्द कहते हैं, "हे नाथ ! पूर्वपापों के कारण मैं निरन्तर पापों से पीड़ित रहता हूँ। वासना मुझे निरन्तर सताती है। फिर भो मेरी इन्द्रियाँ विषयों से तृप्त नहीं होतीं। जिस किसी प्रकार आपकी कृपा से अब मैं शान्त हो गया हूँ, क्योंकि मैंने आपके उन चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली है, जो सदा शोक, भय और मृत्यु से मुक्त हैं। हे शरणदाता ! हे परमेश्वर ! हे परमात्मा ! कृपया मुझ दीन की रक्षा करें।" मुचुकुन्द का यह वाक्य भवरोग के दुःख से उत्पन्न दैन्य का उदाहरण है।

जब अश्वत्थामा ने उत्तरा पर ब्रह्मास्त्र चलाया तो वह अपने गर्भस्थ बालक की रक्षा के लिए आर्त्तभाव से श्रीकृष्ण की शरण में गयी और प्रार्थना करने लगी, "हे नाथ ! मुझे अपनी चिन्ता नहीं है, परन्तु इस ब्रह्मास्त्र से कृपया मेरे गर्भ की रक्षा करें।" यह त्रास से उत्पन्न दैन्य है।

श्रीमद्भागवत (१०.१४.१०) में ब्रह्माजी कहते हैं, "हे अच्युत ! रजोगुण से उत्पन्न मैं अपने को इस प्राकृत-जगत् का रचयिता समझ कर गर्वित रहा हूँ। मेरे मिथ्या अहंकाररूप घोर अंधकार ने मुझे अन्धा बना

दिया। इसी अंधता में हे भगवन्! मैं आपसे स्पर्धा कर रहा था। वास्तव में तो हे नाथ! सृष्टि का स्वामी कहलाने पर भी मैं आपका नित्यदास ही हूँ। अतः कृपया मेरा अपराध क्षमा करें।" ब्रह्मा का यह वाक्य अपराध जनित दैन्य का उदाहरण है।

कदाचित् लज्जा के कारण भी दैन्य की अभिव्यक्ति होती है। नदी में स्नान करती हुई गोपियों के सारे वस्त्रों को जब श्रीकृष्ण ने चुरा लिया तो वे उनसे ऐसा अन्याय न करने की याचना करने लगीं। उन्होंने कहा, "हे कृष्ण! हे व्रजवल्लभ! हे नन्दनन्दन! हम जानती हैं तुम हमारे प्रिय हो, फिर हमें यह दु:ख क्यों देते हो? कृपया हमारे वस्त्र लौटा दो, देखो हम भीषण शीत में काँप रही हैं।"

ग्लानि

किसी अनुचित कार्य के लिए अपने को दोषी मानना 'ग्लानि' है।

श्रीमती राधारानी श्रीकृष्ण के लिए दही मन्थन कर रही थीं। उनके मणिमय कंकण घूम रहे थे और वे कृष्णनाम का कीर्तन करती जाती थीं। सहसा उन्हें विचार हुआ, "ओह, कृष्णनाम का गान कर रही हूँ, कहीं घर वाले न सुन लें।" इस विचार से राधारानी अतिव्यथित हो उठीं। यह कृष्णप्रेम से होने वाली ग्लानि का उदाहरण है।

एक दिन मृगनयनी राधा ने श्रीकृष्ण के लिए माला बनाने को फूल चुनने के हेतु वन में प्रवेश किया। उन्हें भय हुआ कि कहीं कोई उन्हें देख न ले और श्रम तथा दुर्बलता अनुभव करने लगीं। यह ग्लानि कृष्ण के लिए श्रम करने से हुई है।

रससुधाकर में उल्लेख है कि श्रीकृष्ण के साथ रात्रि बिताकर राधारानी अतिशय थक गयीं, शय्या से उठ तक न सकीं। जब श्रीकृष्ण ने उन्हें हाथ का सहारा दिया तो उनके साथ रात्रि व्यतीत करने के लिए राधा के मन में ग्लानि हुई।

श्रम

अधिक चलने, नृत्य तथा रति से 'श्रम' की उत्पत्ति होती है। निद्रा, पसीना, अंगों की निष्क्रियता, जम्भाई तथा दीर्घ श्वास आदि इसके लक्षण हैं।

अपना अपराध करके आँगन में भागते हुए कृष्ण का यशोदा मैया पीछा कर रही थीं। इससे उन्हें अति श्रम हुआ, स्वेदप्रवाह बह चला और बाल खुल गए। यह अत्यधिक कार्य करने से श्रम का उदाहरण है।

महोत्सवों में बलराम सहित श्रीकृष्ण के ग्वाल-सखा साथ-साथ नाचा करते थे। ऐसे अवसरों पर उनके गलों में शोभित मालायें हिल्लोलित होतीं और वे पसीने से तर हो जाते। भावमय नृत्य से उनका सारा शरीर ही आर्द्र हो जाता। यह श्रम नृत्यजनित है।

श्रीमद्भागवत (१०.३३.२०) में उल्लेख है कि नृत्य, आलिंगन तथा चुम्बन के द्वारा श्रीकृष्ण के साथ प्रेमविलास का आस्वादन करने के उपरान्त गोपियाँ अति श्रमित हो जातीं। ऐसे में अपनी अहैतुकी दया से प्रेरित होकर श्रीकृष्ण उनके मुखों को अपने करकमल से पोंछते थे। यह रति से उत्पन्न श्रम का दृष्टान्त है।

मद

जब कोई मद्यपान से अथवा मदन-विकार के अतिरेक से मदमत्त हो जाता है तो गति, अंगों और स्वर में स्खलन, आँखों का सूजना तथा शरीर पर लालिमा आदि लक्षण प्रकट होते हैं। 'ललितमाधव' में उल्लेख है कि अत्यधिक मधुपान से मत्त भगवान् बलराम कहने लगे, "हे राजारूप चींटियो ! तुम डर कर बिलों में क्यों छिप गए हो ? अरे शची के खिलौने (इन्द्र) ! तू हँसता क्यों है ? अब मैं सम्पूर्ण जगत् का नाश करूँगा। फिर भी श्रीकृष्ण मुझ पर क्रोध नहीं करेंगे।" फिर वे श्रीकृष्ण से कहते हैं, "हे कृष्ण ! क्या कारण है कि सम्पूर्ण पृथ्वी भ्रमित हो रही है तथा चन्द्रमा नीचे लटक रहा है। ये सब यादव मुझ पर हँसते क्यों हैं ? कृपया कदम्ब मधु से बनी मेरी मदिरा शीघ्र लाओ।" श्रील रूप गोस्वामी की प्रार्थना है कि इस प्रकार मदमत्त के समान बोलते हुए भगवान् बलराम हम सब का कल्याण करें।

इस मत्त दशा में बलरामजी को श्रम हुआ और वे विश्राम के लिए पड़ गए। सामान्यतः उत्तम पुरुष मद से सो जाता है, मध्म पुरुष हँसता-गाता है और अनिष्ठ अपशब्द बोलता है अथवा कभी-कभी रोता भी है। आयु और मनोभाव के भेद से यह मद नाना प्रकार से अभिव्यक्त होता है। उपयोगी न होने से श्रील रूप गोस्वामी इस विषय का अधिक विवेचन नहीं करते।

काम विकार के आधिक्य से उत्पन्न मद का उदाहरण श्रीकृष्ण के दर्शन से राधारानी में प्रकट हुआ। कभी वे इधर-उधर चलती हैं, कभी हँसती हैं, कभी मुख छिपा लेती हैं, कभी प्रजल्प करती हैं, तो कभी अपनी सखियों को प्रणाम करती हैं। राधारानी में इन लक्षणों का अवलोकन कर

गोपियाँ परस्पर कहने लगीं, "देखो सामने कृष्ण को देख राधारानी मद से अन्धी हो गई हैं।" यह प्रेमजनित मद है।

गर्व

गर्व नाम भाव की अभिव्यक्ति अत्यन्त सौभाग्य, अनिन्द्य सौन्दर्य, उत्तम निवास, अथवा इष्ट-प्राप्ति के कारण होती है। जो दूसरों की अवहेलना करता है, वह भी गर्वित माना जाता है।

बिल्वमंगल ठाकुर कहते हैं, "हे प्रियतम कृष्ण ! तुम जो मुझे निर्बल जान कर बलात् हाथ छुड़ाकर जा रहे हो, इसमें तुम्हारी क्या महिमा है। मैं तो तुम्हारी वीरता तब जानूँ जब तुम मेरे हृदय से निकल जाओ।" यह कृष्णप्रेम में गर्व का भाव है।

जब राधारानी रासमण्डल को त्याग कर चली गयीं और श्रीकृष्ण उन्हें मनाने गए तो राधा की एक सखी श्रीकृष्ण से बोली, "हे कृष्ण ! तुमने हमारी राधारानी की अतिशय सेवा की है और अब उन्हें खोजने अन्य सब गोपियों को त्याग चले हो। कहो, उनसे कैसा व्यवहार चाहते हो ?" यह रूपयौवन से उत्पन्न गर्व है।

कभी राधारानी अपने अन्तर में गर्व करके कहतीं, "गोपबालक भले ही श्रीकृष्ण के लिए सुगन्धित पुष्पों की मालाएें बनाया करें; परन्तु जब मैं अपनी माला उन्हें पहनाती हूँ तो विस्मित होकर वे उसे तुरन्त हृदय पर धारण करते हैं।"

इसी भाँति श्रीमद्भागवत (१०.२.२३) में ब्रह्माजी कहते हैं, "हे मधुसूदन ! आपके सौहार्द के अनुभवी शुद्धभक्त मार्गभ्रष्ट नहीं होते। आपके द्वारा रक्षित होने से वे सदा शत्रुओं के सिर पर निश्चिन्त विचरते हैं।" अर्थात् भगवान् के चरणकमलों में पूर्ण रूप से शरणागत पुरुष सदा अपने सारे शत्रुओं को जीतने का गर्व करता है।

मथुरा के एक दरजी ने श्रीकृष्ण से कहा, "हे वृन्दावननाथ ! अपने पर आपकी अहैतुकी कृपा का मुझे ऐसा गर्व है कि महर्षियों द्वारा ध्यान में अभिलाषित वैकुण्ठनाथ के अनुग्रह की भी मुझे अपेक्षा नहीं है।" भाव यह है कि यद्यपि योगी-मुनि वैकुण्ठवासी भगवान् विष्णु का ध्यान लगाते हैं, कृष्णभक्त को ऐसा गर्व रहता है कि वह इस ध्यान को अधिक महत्त्व नहीं देता। गर्व का यह भाव जीवन के परम लक्ष्य श्रीकृष्ण की प्राप्ति हो जाने से होता है।

शंका

श्रीकृष्ण से सारे गोपबालकों, गोवत्सों और गोधन को चुरा कर ब्रह्माजी जाना चाहते थे। परन्तु सहसा उन्हें अपने चौर्यकर्म के विषय में शंका हो आई और वे संशय-विस्फारित आठों नेत्रों से चारों ओर देखने लगे। यह चौर्य से उत्पन्न शंका व्यभिचारीभाव है।

इसी भाँति श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए अक्रूर ने स्यमंतकमणि को चुराया तो अवश्य, पर बाद में उसे इसका पश्चात्ताप हुआ।

ब्रजधाम पर मूसलधार वर्षा कराते हुए देवराज इन्द्र से जब कहा गया कि वह श्रीकृष्ण के चरणकमलों की शरण में जाय तो शंका से उसका मुख बड़ा म्लान हो गया।

त्रास

बिजली, उग्र पशु, घोर शब्द आदि से हृदय में उत्पन्न क्षोभ त्रास कहलाता है। उसमें पास की वस्तु का आश्रय लेना, रोमांच, कम्प, स्तम्भ तथा भ्रम आदि लक्षण प्रकट होते हैं।

पद्यावली में कहा है, "हे सखि ! मुझे श्रीकृष्ण का विरह उतना कष्ट नहीं दे रहा है जितना असुरेन्द कंस के मथुरामंडल में असुरों के साथ उनका निवास त्रासित कर रहा है।"

वृषभासुर को वृन्दावन में आया देखकर त्रास के कारण काँपती हुई गोपिकायें तमाल के वृक्ष को कृष्ण समझकर उसके आलिगन से निश्चिन्त हो गईं।" यह घोर पशुओं से होने वाले त्रास और प्रेमसहित श्रीकृष्ण का स्मरण करते हुए किसी आश्रय को खोजने का उदाहरण है। वृन्दावन में भेड़ियों का भयंकर शब्द सुनने पर माता यशोदा इस त्रास से श्रीकृष्ण को अपनी आँखों के सामने से हटने नहीं देती थी कि कहीं उनपर हमला न कर दें। यह कृष्णप्रेम में भयंकर शब्द से त्रास का उदाहरण है। ऐसा त्रास भय से भिन्न है। भय में पूर्वापर का विचार रहता है, जबकि प्रेम में होने वाले इस प्रकार के त्रास में विचार की गुंजाइश ही नहीं है।

आवेग

आवेग की उत्पत्ति प्रिय से, अप्रिय (के दर्शन) से तथा अग्नि, वायु, वर्षा, उत्पात, हाथी और शत्रु के कारण होती है। प्रिय के दर्शन से उत्पन्न आवेग में वाणी की चपलता और मधुरता आदि होते हैं। अप्रिय के दर्शन से हुए आवेग में चिल्लाना और रोना होता है। अग्नि को देखकर उत्पन्न

आवेग में अस्त-व्यस्त गति, कम्प, आँखों का मुंद जाना, अश्रु आदि होते हैं। वायु के कारण आवेग में द्रुतगति से धावन और आँखों को पोंछना आदि लक्षण प्रकट रहते हैं। वर्षाजनित आवेग में छाता लेना और शरीर का संकुचन आदि होता है। आकस्मिक उत्पात के आवेग में मुख की विवर्णता, आश्चर्य और कम्प आदि दिखाई देते हैं। हाथी को देखने से हुए आवेग में भागना, त्रास तथा भागते-भागते मुड़-मुड़कर पीछे देखना है। शत्रु को सामने देखने के आवेग में वह किसी घातक अस्त्र को खोजता है और पलायन का प्रयत्न करता है।

पुत्र कृष्ण को वृन्दावन से आता हुआ देखकर भाव-विह्वला यशोदा के स्तनों से दूध झरने लगता और शरीर में रोमांच हो आया। यह प्रिय के दर्शन से उत्पन्न आवेग है।

श्रीमद्भागवत (१०.२३.१८) में शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित को सूचित करते हैं, "हे राजन्! यज्ञपत्नियों का श्रीकृष्ण के गुणगान में सहज अनुराग था और वे नित्य उनके दर्शन के लिए उत्कण्ठित रहती थीं। इसलिए जब उन्होंने सुना कि श्रीकृष्ण आए हैं तो उन्हें देखने को अति आतुर होकर घर से चल पड़ीं।" यह प्रिय के श्रवण से उत्पन्न आवेग है।

पूतना राक्षसी को कृष्ण के हाथों मारा हुआ देखकर यशोदा मैय्या आश्चर्यचकित होकर भाव विह्वलतावश, "यह क्या है? यह क्या है?" इस प्रकार चिल्लाने लगी। जब उसने देखा कि कृष्ण मृत राक्षसी के वक्षःस्थल पर खेल रहे हैं तो यशोदा भ्रमित होकर चक्कर काटने लगी। यह अप्रिय दर्शन जनित आवेग का उदाहरण है।

कृष्ण द्वारा यमलार्जुन को गिराने के शब्द को सुनकर यशोदा दौड़ी आई। वृक्षों के बीच श्रीकृष्ण को आया देखकर उसकी आँखें ऊपर चढ़ गयीं और वह अपने कर्तव्य का भी निश्चय न कर सकी। यह अप्रिय श्रवण से उत्पन्न आवेग का दृष्टान्त है।

वृन्दावन में आग लगी देखकर सब गोप एकत्र होकर श्रीकृष्ण से रक्षा की याचना करने लगे। यह अग्नि से उत्पन्न आवेग है।

एक बार तृणावर्त नामक असुर बड़े-बड़े वृक्षों के साथ श्रीकृष्ण को उड़ा ले गया था। पुत्र को न देखकर यशोदा मैया व्याकुल होकर घूमने लगी। यह वात जनित आवेग है।

श्रीमद्भागवत (१०.२५.११) में इन्द्र के वृन्दावन पर मूसलाधार वर्षा करने का वर्णन है। वात और शीत से अत्यन्त त्रस्त होकर समस्त

गायें और गोप आदि श्रीकृष्ण के चरणकमलों की शरण में एकत्र हो गये। यह वर्षा से उत्पन्न आवेग है।

श्रीकृष्ण के वृन्दावनवास के काल में वहाँ अनेक बार ओले बरसे। वृद्धजन उनसे कहते, "हे कृष्ण ! इस समय तुमसे बड़े भी त्रस्त हो रहे हैं। फिर तुम तो नन्हें से बालक ही हो, इसलिए बाहर बिलकुल मत निकलना" यह ओले गिरने से आवेग का उदाहरण है।

यमुना के विषाक्त जल में कृष्ण को कालिया-दमन करते देख यशोदाजी भावविह्वल दशा में कहने लगीं—"देखो-देखो ! पृथ्वी हिल रही है और आकाश में उल्काएँ घूम रही हैं। मेरा नन्हा सा पुत्र विषमय यमुनाजल में प्रवेश कर गया है, ऐसे में मैं क्या करूँ ?" यह उत्पातजनित आवेग है।

कंस के यज्ञ में जब विशाल हाथी ने श्रीकृष्ण पर आक्रमण किया तो वहाँ उपस्थित सब स्त्रियाँ कहने लगीं, "हे कृष्ण ! इस स्थान से तुरन्त दूर हट जाओ। हट जाओ। क्या तुम नहीं देखते कि विशाल हाथी तुम पर चढ़ा आ रहा है ? तुम्हारी मृदुता को देखकर हमारा चित्त व्यथित हो रहा है।" इस पर श्रीकृष्ण ने यशोदा मैया से कहा, "हे जननि ! वेग से आते हुए धूलि से इन कमलनयनी स्त्रियों को अन्धा करने वाले इन हाथियों और घोड़ों से क्यों घबराती हो। मेरे सामने केशी दैत्य ही क्यों न आ जाय, ये बाहु विजय के लिए पर्याप्त हैं। इसलिए घबराओ नहीं।"

'ललितमाधव' में एक सखी यशोदा मैया से कहती, "पर्वत के समान विशाल और बलशाली शंखचूड़ असुर ने जब तुम्हारे मदन जैसे मनोहर शिशु पर आक्रमण किया तो इसकी सहायता करने वाला वृन्दावन में कोई नहीं था। फिर भी आश्चर्य का विषय है कि कृष्ण ने उस दैत्य को मार डाला। अवश्य ही तुम्हारे किसी पूर्व पुण्यफल के कारण ही पुत्र का इस प्रकार विपत्ति से उद्धार हुआ है।"

'ललितमाधव' में ही कृष्ण द्वारा विवाह-मण्डल से रुक्मिणी के हरण का वर्णन है। उस समय सभी उपस्थित राजा आपस में कहने लगे, "हमारे पास हाथी, रथ, घोड़े, अस्त्र, शस्त्र, बाण, धनुष आदि सभी कुछ हैं, फिर हम इस कृष्ण से क्यों डरें ? आओ सब मिलकर इस पर आक्रमण करें। देखें, यह कामी गोपबालक राजकुमारी का अपहरण कैसे करता है।" यह शत्रु-दर्शन से उत्पन्न आवेग का उदाहरण है।

श्रील रूप गोस्वामी उपरोक्त उदाहरणों से सिद्ध करना चाहते हैं

कि श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में निर्विशेषता का कोई प्रश्न नहीं है। श्रीकृष्ण के नाना सम्बन्धों में सभी प्रकार की सविशेष क्रियाएँ होती हैं।

उन्माद

श्री बिल्वमंगल ठाकुर स्वरचित ग्रन्थ में प्रार्थना करते हैं, "श्रीमती राधारानी सम्पूर्ण जगत् को पवित्र करें क्योंकि उन्होंने श्रीकृष्ण के चरणों में पूर्ण आत्मसमर्पण कर दिया है। कृष्ण प्रेम में वे कभी पागल के समान खाली पात्र में दही मन्थन का प्रयास करती हैं। यह दृश्य देखकर श्रीकृष्ण ऐसे मुग्ध हुए कि गाय के स्थान पर साँड को दोहने लगे।" राधाकृष्ण के प्रेम विषयक ये उन्माद के कुछ उदाहरण हैं। श्रीमद्भागवत में वर्णन है कि श्रीकृष्ण के कालीदह में प्रवेश करने से यशोदा मैया को उन्माद हो गया। विष की औषधि खोजने के स्थान पर वे वृक्षों से बोलने लगीं, मानों वे मान्त्रिक हों। वृक्षों को हाथ जोड़ प्रणाम करते हुए बोलीं, "कृपया उस औषधि का पता बताइए जिससे कृष्ण विषमय जल के प्रभाव से बच जायें।" यह आपदा के कारण उत्पन्न उन्माद है।

भक्त में प्रेम के उन्माद का वर्णन श्रीमद्भागवत (१०.३०.४) के उस प्रसंग में है जब गोपियाँ बृन्दावन के निकुंजों में श्रीकृष्ण का अन्वेषण कर रही थीं। एक वन से दूसरे वन में उन्हें खोजती हुई गोपिकाएँ उच्च स्वर से उनकी कीर्ति का गान करती जाती थीं। उन्हें पता था कि श्रीकृष्ण एकदेशीय नहीं हैं, वरन् विभु हैं। वे आकाश में हैं, वे जल में हैं, वे वायु में हैं, वे प्राणीमात्र के हृदय में परमात्मा हैं। अतः नाना प्रकार के पेड़-पौधों से वे उनका पता पूछने लगीं। भक्तों में होने वाला यह विरहजनित उन्माद है।

इस उन्माद का अन्तर्भाव यद्यपि व्याधि के अन्तर्गत हो जाता है, तथापि विप्रलम्भ आदि में उसमें विशिष्ट चमत्कार की उद्भावना होती है। महाभाव का उदय होने पर मोहन को प्राप्त हो जाने पर यह उन्माद विकसित होकर दिव्योन्माद बन जाता है।

अपस्मार

जब श्रीकृष्ण वृन्दावन में नहीं थे और मथुरा में रह रहे थे तो राधारानी ने सन्देश प्रेषित किया कि मैया व्रजरानी को उनका ऐसा तीव्र विरह सता रहा है कि समुद्र के समान मुख से फेन निकलता है। कभी-कभी सागर की तरंगों के सदृश भुजा उत्तेजित करती हैं, विरहवश भूमि पर

लोटती हैं, उच्च स्वर से चिल्लाती हैं और फिर शान्त समुद्र जैसे मूर्च्छित हो जाती हैं। कृष्ण से विरह के ये लक्षण अपस्मार कहलाते हैं। प्रेम के इन भावों का उदय होने पर भक्त को अपनी तनिक भी सुध-बुध नहीं रहती।

श्रीकृष्ण को एक यह सन्देश भी भेजा गया कि उनके द्वारा कंस के मारे जाने से कंस का एक असुर मित्र घोर दशा को प्राप्त हो गया है। उसके मुख से फेन निकलता है और भुजाओं को घुमाता हुआ वह भूमि पर लोट रहा है। यह भयानकाभास श्रीकृष्ण से सम्बन्धित भयानकरस में जन्म लेता है। भयानकरस कृष्ण विषयक रसों में एक गौण रस है। प्रथम पाँच रस (शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य) मुख्य माने गए हैं; अन्य सातों रस (भयानक, वीभत्स, रौद्र, करुण, हास्य, अद्भुत तथा वीर) गौण हैं। जिस किसी रूप में उस दैत्य का कृष्ण से कोई सम्बन्ध अवश्य रहा होगा, क्योंकि श्रीकृष्ण ने कंस को मार डाला—यह सुनते ही उसमें उपरोक्त भाव प्रकट हो गए। श्रील रूप गोस्वामी का कथन है कि इस प्रकार के लक्षण (आभास) में भी विशेष चमत्कार होता है।

व्याधि

वृन्दावन से दूर मथुरा में रहते हुए श्रीकृष्ण को कुछ मित्रों ने सूचित किया, "हे कृष्ण ! तुम्हारे असह्य विरह में व्रजवासी व्याधि से पीड़ित प्रतीत होते हैं। उनके शरीर ज्वरित हो गए हैं और वे भलीभाँति चल भी नहीं सकते। भूमि पर पड़े-पड़े केवल दीर्घ श्वास लेते रहते हैं।"

श्रीमद्भागवत (१०.१२.४४) में भगवान् अनन्त के सम्बन्ध में महाराज परीक्षित की जिज्ञासा को सुनकर शुकदेव गोस्वामी में शिथिलता के लक्षण प्रकट होने लगे। फिर भी उन्होंने उनको रोक दिया और मन्द स्वर से परीक्षित का समाधान किया। यह शिथिलता दिव्य आनन्द के कारण उत्पन्न होने वाली ज्वर की अवस्था है।

श्रीमद्भागवत में ही वर्णन है कि अपनी शैशवकालीन लीलाओं में अनेक वर्ष बाद जब व्रजांगनाओं और श्रीकृष्ण का कुरुक्षेत्र में मिलन हुआ तो सारी गोपिकाएँ स्तब्ध हो गईं। उनका श्वास, पलकों का गिरना आदि सम्पूर्ण व्यापार रुद्ध हो गए और वे कृष्ण के समाने पुतली सी खड़ी रह गयीं। यह हर्षातिशय से उत्पन्न व्याधि है।

अध्याय ३०

कृष्णप्रेम के अन्यान्य भाव

मोह

'हंसदूत' में यह वाक्य है, "एक दिन जब कृष्ण से विरह की व्यथा अधिक बढ़ गयी तो श्रीमती राधारानी अपनी कुछ सखियों के साथ यमुना किनारे गयीं। वहाँ उन्होंने वह चिर-परिचित कुटि देखी जिसमें श्रीकृष्ण के साथ वे नाना प्रकार से दिव्य रसास्वादन कर चुकी थीं। उस सब की दिव्य स्मृति से वे तत्काल मोह से अभिभूत हो गयीं। यह मोह अतिशय प्रौढ़ रूप में प्रकट हुआ।" यह विरह से उत्पन्न मोह है।

इसी प्रकार भय से हुए मोह के भी उदाहरण हैं। ये लक्षण कुरुक्षेत्र के युद्धप्रांगण में श्रीकृष्ण का विराट् रूप देखने पर अर्जुन में प्रकट हुए थे। उसे ऐसा मोह हुआ कि हाथ से गाण्डीव के स्खलन को भी न जान पाया।"

मृत्यु

एक समय कंस का भेजा हुआ बकासुर वृन्दावन में आया और श्रीकृष्ण तथा गोपबालकों को निगलने के लिए बगले के रूप में मुख खोल कर बैठ गया। श्रीकृष्ण को बकासुर के मुख में प्रवेश करता देखकर बलराम तथा अन्य सभी गोपबालक निष्प्राण और अचेतन प्रायः हो गए। किसी भयानक दृश्य अथवा आकस्मिक घटना से मोहित होने पर भी भक्त-जन श्रीकृष्ण को कभी नहीं भूलते। महान् से महान् विपत्ति में भी वे श्रीकृष्ण का स्मरण कर सकते हैं। अतः कृष्णभावना का यह अनुपम लाभ है कि मृत्यु-काल में भी, जब देह की सम्पूर्ण इन्द्रियाँ विकल और अस्त-व्यस्त हो जाती हैं, भक्त अपनी अन्तर्चेतना में श्रीकृष्ण का चिन्तन कर सकता है और इससे भवसागर में गिरने से बच जाता है। इस प्रकार कृष्णभावना भक्त को तत्काल प्राकृत-जगत् से वैकुण्ठ-जगत् में पहुँचा देती है।

इस सन्दर्भ में मथुरा में मरने वाले व्यक्तियों के सम्बन्ध में उल्लेख है, "मन्द श्वास के साथ, पूरी खुली हुई आँखों वाले और शरीर में नए प्रकार की विवर्णता को धारण किए हुए इन सौभाग्यशाली पुरुषों ने कृष्ण-नाम का उच्चारण करते हुए देह-त्याग किया।" ये लक्षण मृत्यु से पूर्व के हैं।

आलस्य

तृप्ति अथवा परिश्रम में अरुचि के कारण जब शक्ति रहते भी कर्तव्य-पालन नहीं किया जाता तो उसे आलस्य कहते हैं। यह आलस्य भी कृष्णप्रेम में अभिव्यक्त होता है। उदाहरणार्थ, नन्द महाराज ने कतिपय ब्राह्मणों से गोवर्धन पर्वत की परिक्रमा करने के लिए निवेदन किया। इस पर उन्होंने उत्तर दिया कि उनकी रुचि आशीर्वाद देने में ही है। यह आत्मातृप्ति के लिए प्रयुक्त आलस्य का उदाहरण है।

एक समय जब श्रीकृष्ण अपने ग्वाल सखाओं के साथ खेल-खेल में लड़ रहे थे तो सुबल ने थकावट व्यक्त की। श्रीकृष्ण तुरन्त अपने सखाओं से कहने लगे, "सुबल मुझसे लड़कर बहुत थक गया है, इसलिए युद्ध के लिए फिर बुलाकर उसे व्यथित मत करो।" यह श्रम की अरुचि से उत्पन्न आलस्य है।

जड़ता

श्रीमद्भागवत (१०.२१.१३) में गोपिकाओं ने बृन्दावन की गौओं की जड़ता को धन्य-धन्य कहा है। उन्होंने देखा कि गाएँ नीलमणि श्रीकृष्ण के मुख से निस्यन्दित वेणु के गीतामृत का श्रवणपुटों से पान कर रही हैं। गोवत्स भी दूध-पीने की सुध भूल कर आँखों में आँसू लिए उस वंशीध्वनि के द्वारा हृदय में कृष्ण के स्पर्श-सुख का अनुभव करते स्तब्ध खड़े रह गए। यह श्रीकृष्ण के दिव्य वंशीनाद के श्रवण से उत्पन्न जड़ता है।

श्रीकृष्ण के विरुद्ध वचन सुनकर लक्षमणा व्याकुल हो उठी और निर्निमेष नयन से चुपचाप खड़ी रही।

श्रीमद्भागवत (१०.७१.३६) में वर्णन है कि जिस समय राजा युधिष्ठिर ने अपने महल में भगवान् श्रीकृष्ण का परम आदर सहित स्वागत किया, उस समय उन्हें इतना हर्ष हुआ कि शरीर की सुध भी नहीं रही और पूजा करने की विधि का भी ध्यान नहीं रहा। यह श्रीकृष्ण के दर्शनों के हर्ष से उत्पन्न जड़ता का उदाहरण है।

श्रीमद्भागवत (१०.३९.३६) में एक अन्य उल्लेख है। जब तक मथुरा जाते हुए श्रीकृष्ण के रथ की ध्वजा तथा चारों ओर उड़ती हुई रेणु दिखाई देती रही, जिनके हृदय श्रीकृष्ण का अनुगमन कर रहे थे, वे गोपियाँ तब तक चित्रलिखित सी जड़ खड़ी रहीं।

श्रीकृष्ण से एक सखी ने कहा, "हे मुकुन्द ! तुम्हारी विरहव्यथा से पीड़ित गोपबालक दुष्ट पुजारी के घर की देवमूर्तियों के समान लगते हैं।" व्यवसायी ब्राह्मण मूर्तिपूजा को धनोपार्जन का साधन बना लेते हैं। उन्हें श्रीमूर्ति से प्रेम नहीं होता, वे तो बस सन्त का वेष बना कर धन कमाने में रुचि रखते हैं। इसलिए इन ब्राह्मणों द्वारा सेवित मूर्तियों का भलीभाँति शृंगार नहीं होता। वे उनके वस्त्रों को नहीं बदलते और शरीर का मार्जन भी नहीं करते। परिणाम में ऐसी मूर्तियाँ मलिन और नीरस दिखती हैं। वास्तव में तो मूर्तिपूजा में अतिशय सावधानी की अपेक्षा है; नित्य नूतन वस्त्र-शृंगार किया जाय तथा यथासम्भव आभूषण आदि भी रहने चाहियें। सब कुछ इतना स्वच्छ हो कि मूर्ति से सारे आगन्तुक मुग्ध हो उठें। मूर्ति सब का आकर्षण करे। यहाँ श्रीकृष्ण के सखाओं को व्यवसायी ब्राह्मणों के घर की उपेक्षित मूर्तियों की उपमा दी गई है, क्योंकि वे बिलकुल भी आकर्षक नहीं होतीं। श्रीकृष्ण के विरह में उनके सखा ऐसे ही लग रहे थे।

व्रीडा (लज्जा)

श्रीकृष्ण से प्रथम परिचय-मिलन में राधारानी को अतिशय लज्जा लगी। सखी बोली, "हे राधे ! कृष्ण को तुमने स्वयं अपने सुन्दर तनु का अर्पण कर दिया है। अब 'कृपणता' न करो। उनकी ओर प्रेम भरी दृष्टि डालो। हाथों को बेच देने पर फिर अंकुश के लिए विषाद कैसा ?" कृष्ण-प्रेम के अन्तर्गत यह व्रीडा नवीन संगम में होती है।

पारिजात के लिए श्रीकृष्ण से युद्ध में परास्त होने पर देवराज इन्द्र अत्यन्त लज्जित हुआ। वह सिर झुकाए श्रीकृष्ण के आगे खड़ा था, तब श्रीकृष्ण ने कहा, "अच्छा इन्द्र ! तुम इस पारिजात को ले जाओ, नहीं तो अपनी स्त्री शची का मुख कैसे देख पाओगे ?" इन्द्र की व्रीडा पराजय के कारण थी। एक दूसरे अवसर पर श्रीकृष्ण उद्धव के नाना गुणों का स्तवन करने लगे। इससे उद्धव का सिर लज्जावश अवनत हो गया।

'हरिवंश' में रुक्मिणी के उच्च पद से अपने को अपमानित समझ कर सत्यभामा ने कहा, "तुम्हारी प्रिया होकर भी मैं अप्रिय बन गई हूँ,

इसलिए वासन्तिक पुष्पों से परिपूर्ण रैवतक पर्वत को फिर कैसे देख सकूँगी ?" यह अवज्ञाजनित व्रीडा का उदाहरण है।

अवहित्था (गोपन)

बाह्य रूप से किसी अन्य भाव को प्रकट करके अपने यथार्थ मनोभाव का गोपन किए रहना प्रेम का 'अवहित्था' नामक लक्षण है। इसमें इधर-उधर देखने, व्यर्थ चेष्टा करने और वाणी की भंगी से अपनी वास्तविक मनोदशा को छिपाने का प्रयत्न होता है। मनोभाव के पारंगत आचार्यों के अनुसार अपने यथार्थ स्नेह को छिपाने के ये प्रयास एक प्रकार के अनुभाव ही हैं।

श्रीमद्भागवत (१.३२.१५) में शुकदेव गोस्वामी कहते हैं, "हे राजन् ! गोपिकाएँ स्वभाव से ही सुन्दर और रहस्यमय हास एवं आकर्षक आभूषणों से अलंकृत थीं। काम का उद्दीपन करने वाले अपने विहार में वे कभी श्रीकृष्ण के करकमल को अंक में रख लेतीं तो कभी वक्षःस्थल पर धारण करतीं। इसके बाद अपने भाव को छिपाते हुए वे श्रीकृष्ण से ऐसे बोलतीं मानो अत्यन्त कुपित हों।"

प्रेम में इस गोपन का एक अन्य उदाहरण है। जब श्रीकृष्ण ने, जो हास-परिहास में परम दक्ष हैं, पारिजात वृक्ष को सत्यभामा के प्रांगण में आरोपित कर दिया तो विदर्भनन्दिनी राजराजेश्वरी रुक्मिणी देवी को बड़ी ईर्ष्या हुई। परन्तु अपनी स्वाभाविक सुशीलता के कारण उन्होंने उसे व्यक्त नहीं होने दिया। अतः रुक्मिणी के यथार्थ मनोभाव को कोई नहीं जान सका। यह औदार्य के रूप में प्रकट अवहित्था का उदाहरण है।

श्रीमद्भागवत (१.११.३२) में एक अन्य दृष्टान्त है। श्रीकृष्ण के द्वारका में प्रवेश करने पर यदुवंशियों ने उनका नाना प्रकार से यथायोग्य अभिवादन किया। दूर से ही पति को आया देखकर स्त्रियाँ मन ही मन उनका परिरम्भण करती हुई उन्हें मृदु कटाक्ष से निहारने लगीं। श्रीकृष्ण कुछ निकट आए तो उन्होंने अपने पुत्रों को उनका आलिंगन करने के लिए आगे कर दिया। दूसरी लज्जावश आँसुओं को गिरने से रोक रही थीं पर सफल न हो सकीं। यह लज्जा जनित अवहित्था है।

किसी अन्य समय, श्रीकृष्ण को किसी अन्य स्त्री में अनुरक्त जानकर राधारानी सखी से कहती हैं, "हे दूति ! कृष्ण का किसी अन्य स्त्री में अनुराग है, यह स्मरण होते ही मेरा शरीर भयभीत और रोमांचित हो

जाता है। परन्तु कहीं ऐसी दशा में वह मुझे देख न लें। सावधान रहूँगी। यह लज्जा और कुटिलता से उत्पन्न अवहित्था है।

कहा गया है, "श्रीकृष्ण के लिए राधारानी में गाढ़ अनुराग था, पर उन्होंने उसे अपने हृदय में गम्भीर रूप से छिपा रखा था, जिससे उनकी यथार्थ स्थिति को कोई न जान सका।" यह सौजन्य से उत्पन्न अवहित्था है।

एक समय जब श्रीकृष्ण और उनके गोप-सखा सख्यवार्ता का आनन्द उठा रहे थे, श्रीकृष्ण का सेवक पत्री भी वहाँ आनन्द ले रहा था। पर फिर अपने दास्यभाव को स्मरण करके स्वामी के आगे सिर झुका दिया और श्रद्धावनत बड़ी कठिनाई से अपनी हँसी को रोका। यह हँसी का रोकना गौरव जनित गोपन है।

स्मृति

श्रीकृष्ण की स्मृति से होने वाले अनेक प्रेम-लक्षण हैं। जैसे, एक सखा ने श्रीकृष्ण से कहा, "हे मुकुन्द! आकाशचारी नीलमेघ को देखते ही कमलनयनी राधारानी को तुम्हारा स्मरण हो आया और वह तुम्हारे संग के लिए कामातुरा हो गयीं।" यह श्रीकृष्ण के सदृश वस्तु को देखने से प्रेमवश कृष्ण-स्मरण होने का उदाहरण है। श्रीकृष्ण का विग्रह नीलमेघ वर्ण का ही है, अतः उसे देखकर राधारानी को श्रीकृष्ण का स्मरण हो आया।

एक भक्त कहता है कि ध्यान में प्रमाद करने पर भी कभी-कभी श्रीकृष्ण के चारुचरण युगलारविन्द हृदय में स्फुरित हो जाते हैं। यह स्मृति निरन्तर अभ्यास का प्रभाव है। भाव यह है कि जो भक्त निरन्तर श्रीकृष्ण के चरणकमलों का स्मरण करते हैं, वे क्षणिक रूप से ध्यान से विचलित भी हो जायें तो भी श्रीकृष्ण के चरणकमलों को हृदय में प्रकट देखेंगे।

वितर्क

ब्राह्मणवंशी मधुमंगल श्रीकृष्ण का परम अंतरंग सखा था। श्रीकृष्ण के अधिकांश सखा वैश्यकुलों से थे; परन्तु कुछ ब्राह्मणवंशी भी थे। वृन्दावन में वैश्यों और ब्राह्मणों की प्रधानता है। यह मधुमंगल एक दिन श्रीकृष्ण से कहने लगा, "हे सखे! तुम्हारे सिर से मोरमुकुट बिलकुल गिर पड़ा और तुम्हें पता भी नहीं। उस पुष्पमाला का भी तुम्हें ध्यान नहीं है जो तुम्हें अर्पित की गई थी। तुम्हारे नेत्ररूपी भ्रमर श्रीमती राधारानी के

नेत्ररूप कमलों पर मँडरा रहे हैं, उसी का यह परिणाम है।" यह प्रेम में वितर्क का उदाहरण है।

श्रीकृष्ण को भ्रमण के लिए जाते हुए देखकर राधारानी की एक सखी उनसे कहने लगी, "हे सखि ! क्या यह तमालवृक्ष है ? नहीं, क्योंकि इसमें गति और सौन्दर्य प्रकट दीख रहा है। फिर क्या यह मेघ है ? नहीं, क्योंकि इसमें (मुखरूप) अमल-धवल चन्द्रमा चमक रहा है और त्रिभुवन-मोहिनी मधुर अतिमधुर वंशीध्वनि भी सुनाई दे रही है। अतः हे चन्द्रवदना ! निश्चय ही गोवर्धन पर्वत पर मुकुन्द खड़े हैं।" यह भी प्रेम में वितर्क का रूप है।

चिन्ता

श्रीमद्भागवत (१०.२९.२९) में श्रीकृष्ण का उन्हें घर लौट जाने को कहना गोपिकाओं को अत्यन्त अप्रिय लगा। इससे मर्माहत होने के कारण वे दीर्घ श्वास लेने लगीं और उनके सुन्दर मुख सूख से गए। इस अवस्था में वे निस्पन्द खड़ी रहीं। वे पैरों से धरती को कुरेद रही थीं और उनकी अश्रुधारा स्तनों पर उपलिप्त कुंकुम को धो चली थी। यह प्रेम के चिन्ता नामक व्यभिचारी भाव का द्योतक है।

एक सखा श्रीकृष्ण से कहने लगा, "हे मुरारि ! तुम्हारी स्निग्ध स्वभाव स्नेहमयी माँ यशोदा तुम्हारे घर न लौटने से अतिशय चिन्तित है। घर के प्रांगण में तुम्हारी प्रतीक्षा में उसने बड़ी कठिनाई से सान्ध्य-काल बिताया है। वह मलिनमुख, चिन्ता से व्याकुल और दुर्बल सी हो गयी है। हे क्रीड़ारस के लोभी ! आश्चर्य है तुम अपने घर और मैया को भी भूल गए।" यह प्रेम में होने वाली प्रगाढ चिन्ता का उदाहरण है।

मथुरा में श्रीकृष्ण के लौट आने के लिए आतुरता से प्रतीक्षा करती हुई यशोदा मैया को नन्द महाराज ने इस प्रकार सांत्वना दी, "हे यशोदे ! गहन अन्तश्चिन्ता के कारण नेत्रों से झरती गरम अश्रुधारा से अपने मुखकमल को प्लावित मत करो। मैं तुरन्त अक्रूर के साथ कंस के प्रासाद में जाकर तुम्हारे पुत्र को लौटा लाऊँगा।" यह श्रीकृष्ण के कष्ट से उत्पन्न चिन्ता है।

मति

पद्मपुराण के वैशाख माहात्म्य में एक भक्त कहता है कि यद्यपि अट्ठारह पुराणों में से कुछ पुराणों में भगवान् विष्णु के कीर्तन की पद्धति का

उल्लेख नहीं है, और देवताओं के माहात्म्य का कल्प की अवधि तक प्रतिपादन है। परन्तु पुराणों का ध्यानपूर्वक स्वाध्याय करने से सिद्ध हो जाता है कि विष्णु आदिपुरुष भगवान् हैं। यह मति से विकसित प्रेमभाव का उदाहरण है।

श्रीमद्भागवत (१०.६०.३९) में रुक्मिणी देवी के उस पत्र का उल्लेख है जिसमें उन्होंने श्रीकृष्ण से निवेदन किया कि किसी और से उन (रुक्मिणी) का विवाह हो, इससे पहले ही श्रीकृष्ण उन्हें अवहरण कर ले जायँ। उस समय श्रीकृष्ण के लिए अपने अनुराग को रुक्मिणी देवी ने इस प्रकार व्यक्त किया था, "हे प्राणनाथ! प्राकृत बन्धन से मुक्त मुनिजन आपकी दिव्य कीर्ति का गान करते हैं। इसके लिए आप उन भक्तों को आत्मदान कर बैठते हैं। आपके कृपा-कटाक्ष से कल्याण होता है और आपकी टेढ़ी भ्रुवों से प्रेरित सनातन काल के प्रभाव से सम्पूर्ण सुख नष्ट भी हो जाता है। इसलिए मैंने ब्रह्मा, इन्द्र आदि को छोड़कर आपको ही पतिरूप में वरण किया है। फिर अन्य देवताओं के लिए तो कहना ही क्या है?" श्रीकृष्ण का चिन्तन करने मात्र से रुक्मिणी ने अपने प्रेम का वर्धन कर लिया। यह प्रेम में मति का दृष्टान्त है।

धृति

ज्ञान, दुःखों की निवृत्ति अथवा भक्ति रूपी जीवन के अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति से होने वाली पूर्ण तृप्ति को धृति कहते हैं। इस अवस्था में मन पूर्ण रूप से स्थिर हो जाता है, बड़ी से बड़ी हानि से उद्विग्न नहीं होता और न उसे कुछ भी अपूर्णता रहती है।

विद्वान् भर्तृहरि के अनुसार, धृति की अवस्था को प्राप्त पुरुष सोचता है, "भिक्षा माँगकर खाने वाले, दिशारूप वस्त्र को ही धारण किए हुए भूमि पर विना गद्दे सोने वाले मुझे राजा की दासता से क्या काम?" भाव यह है कि जिसमें भगवत्प्रेम का उदय हो जाता है, वह देहात्मबुद्धि में कठिनाई समझे जाने वाली किसी भी परिस्थिति को सहन कर सकता है।

श्रीकृष्ण के पिता नन्द महाराज विचार किया करते थे, "मेरी गौशाला लक्ष्मी की क्रीड़ाभूमि हो रही है और हजारों गायें उसमें इधर-उधर दौड़ती हुई भ्रमण कर रही हैं। इससे भी अधिक, घर में कृष्ण के समान शक्तिशाली और अद्भुत कर्म बालक सुशोभित है। इसलिए गृहस्थ में भी मेरी पूर्ण तृप्ति हो गई है।" यह दुःख के अभाव से उत्पन्न धृति है।

एक अन्य प्रसंग में कोई दूसरा भक्त कहता है, "श्रीकृष्ण के अनन्त-

अनुपम अखिल रससार माधुरीगुण निलय लीलामृत सागर में विहरण करता हुआ मेरा मन धर्म, अर्थ, काम और ब्रह्मलीनता नामक मोक्ष को तृण के समान भी नहीं समझता है।" यह विश्व में सर्वोत्तम वस्तु की प्राप्ति से उपलब्ध धृति का उदाहरण है। कृष्णभावनाभावित हो जाना ही विश्व में सबसे उत्तम है।

हर्ष

विष्णुपुराण' में वर्णन है कि जब अक्रूरजी कृष्ण-बलराम को मथुरा ले जाने के लिए आए, तो उन दोनों को देखते ही उनका मुखकमल खिल उठा और सारे शरीर में पुलक आदि प्रेम के भाव छा गए।

श्रीमद्भागवत (१०.३३.११) में उल्लेख है कि श्रीकृष्ण की अपनी चन्दनालिप्त भुजा को अपने स्कन्ध पर रखे हुए देखकर रास करती हुई वह गोपी अतिशय हर्षित हो उठी और उसने श्रीकृष्ण को चूम लिया। यह अभीष्ट लाभ-जनित हर्ष है।

उत्सुकता

श्रीमद्भागवत (१०.७१.२३) में उल्लेख है, "श्रीकृष्ण द्वारका से इन्द्रप्रस्थ पधारे हैं"—यह सुनकर वहाँ की युवतियाँ उनके दर्शन के लिए इतनी उत्सुक हो उठीं कि रात्रि में अपने-अपने पतियों के साथ विश्राम करते हुए भी वे अपनी उत्कण्ठा को रोक न सकीं। उनकी वेशभूषा अस्त-व्यस्त हो रही थी, केश खुले थे और यद्यपि उन्हें बहुत से घर के काम थे, फिर भी वे सब कुछ छोड़कर तुरन्त श्रीकृष्ण को देखने राजमार्ग पर दौड़ पड़ीं।" यह प्रेम का औत्सुक्य है।

अपने ग्रन्थ स्तावली में श्रील रूप गोस्वामी ने श्रीमती राधारानी से कृपा की याचना की है, जो श्रीकृष्ण के वेणुरव से मुग्ध होकर वृन्दावन-वासियों से उनका पता पूछने लगीं। श्रीकृष्ण का पहले-पहले दर्शन करते ही वे प्रेम और आनन्द से कुछ ऐसी परिपूर्ण हो गयीं कि कान को खुजलाने लगीं। व्रजांगनाएँ एवं राधारानी चतुर वार्ता करने में बड़ी कुशला हैं, अतः श्रीकृष्ण को आते हुए देखते ही वे परस्पर वार्ता करने लगीं। श्रीकृष्ण भी कम लीलारस-विदग्ध नहीं हैं; वे उनके लिए पुष्प-चयन के व्याज से तुरन्त वहाँ से हट कर पर्वत की कन्दरा में चले गए। गोपिकाओं और श्रीकृष्ण की औत्सुक्यमयी प्रेम-क्रीड़ा का यह अन्यतम उदाहरण है।

उग्रता

जिस समय श्रीकृष्ण कालिया नाग से संघर्ष कर रहे थे तो कालिया ने उनके पदारविन्द पर काट लिया। इससे गरुड़ जी को बड़ा रोष हुआ और वे धीरे से कहने लगे, "श्रीकृष्ण इतने अप्रतिमप्रभाव हैं कि उनके गर्जनमात्र से इस तुच्छ कालिया नाग की स्त्रियों के गर्भपात हो जाता है। फिर भी इसने मेरे स्वामी का अपराध करने का दुस्साहस किया है। चाहूँ तो इसे क्षण भर में निगल कर जाऊँ, परन्तु अपने स्वामी के क्रोध से डरता हूँ।" यह श्रीकृष्ण के अपमान के कारण प्रेम में कुछ करने की उत्सुकता है।

महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में शिशुपाल को श्रीकृष्ण की अग्रपूजा का विरोध करते देखकर अर्जुन का अनुज नकुल बोल उठा, "जो श्रीकृष्ण का पूजन सहन नहीं कर सकता, वह असुर मेरा शत्रु है। इसलिए इसके मदोन्मत्त सिर पर टूट पड़ने के लिए यमदण्ड से भी भयंकर मेरा बायाँ पैर मचल रहा है।" फिर नकुल शोक करते हुए बोला, "भगवान् श्रीकृष्ण का सब प्रकार से मंगल हो। आश्चर्य है कि कुरुवंश के राजसिंहासन पर अनैतिक रूप से अधिकार करने वाले निर्लज्ज कौरव अब कूटनीतिक षड्यन्त्र के द्वारा श्रीकृष्ण की आलोचना कर रहे हैं। ओह ! यह असह्य है।" यह भी श्रीकृष्ण के अपमान से उत्पन्न उत्सुकता है।

अमर्ष—परिणाम में अपशब्द जनक

'विदग्धमाधव' में राधारानी की नन्द कुटिला कृष्ण की निन्दा करती हुई कहने लगी, हे कृष्ण ! तुम यहाँ खड़े हो और मेरे भाई की नवविवाहिता वधु राधा भी यहाँ है। मैं तुम्हें अच्छी प्रकार से जानती हूँ, तो फिर तुम्हारे भ्रमायमान नेत्रों से अपनी वधु को बचाने की व्याकुलता मुझे क्यों नहीं होगी" ? यह श्रीकृष्ण पर आक्षेप करने के लिए प्रयुक्त अपमानजनक शब्द हैं।

इसी भाँति कतिपय गोपिकाएँ श्रीकृष्ण का अपमान करती हुई बोलीं, "हे कृष्ण ! तुम चोरशिरोमणि हो, इसलिए शीघ्र यहाँ से भाग जाओ। हम जानती हैं कि तुम हमसे अधिक चन्द्रावली को प्रेम करते हो। अतः हमारे सामने उसका गुणगान करना व्यर्थ है। कृपया इस स्थान पर राधारानी का नाम दूषित मत करो।" यह भी प्रेम में श्रीकृष्ण के लिए अपमानसूचक शब्दों का प्रयोग है।

श्रीमद्भागवत (१०.३१.१६) में अन्य उल्लेख है। जब सारी गोपियाँ रात्रि में उनसे मिलने वृन्दावन में आ गयीं तो श्रीकृष्ण उन्हें स्वीकार करने के स्थान पर घर लौटने के लिए नीति का उपदेश करने लगे। इस पर गोपियाँ कहने लगीं, "हे कृष्ण ! तुम्हारे अदर्शन हमारे लिए दुःखमय हैं और तुम्हें देखने मात्र से ही अपार सुख प्राप्त हो जाता है। इसलिए हम सब अपने पतियों, बन्धु-बांधवों, को छोड़कर बस तुम्हारे पास आयी हैं, क्योंकि तुम्हारी वंशीध्वनि ने हमें मोह लिया है। हे अच्युत ! हमारे आने का कारण यही है। हे कपटी ! तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा ऐसा कौन होगा जो रात्रि में हम जैसी रमणियों का परित्याग कर दे ?" यह प्रेम में श्रीकृष्ण की वंचना है।

असूया

पद्यावली में एक सखी राधारानी से कहती है, "हे सखी ! यह गर्व न करो कि श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने हाथ से तुम्हारे ललाट का शृंगार किया है। सम्भव है कि वे किसी अन्य सुन्दरी पर भी आकृष्ट हो जायें। तुम्हारा ललाट नवमंजरी से शोभित है। अवश्य ही, श्रीकृष्ण में इसका चित्रण करते हुए सात्त्विक भावों का उद्वेलन नहीं हुआ होगा, अथवा वे ऐसा न कर पाते।" यह राधाजी के सौभाग्य से उत्पन्न असूया है।

श्रीमद्भागवत (१०.३०.३०) में कहा है, "रास के बाद राधाकृष्ण का अन्वेषण करते हुए गोपियाँ आपस में कहने लगीं," वृन्दावन की भूमि पर दीख रहे राधाकृष्ण के चरणचिह्नों से हमें अतिशय व्यथा हो रही है, क्योंकि श्रीकृष्ण ही हमारे सर्वस्व हैं। परन्तु वह बाला इतनी चतुरा है कि गोपियों से छीन कर अकेले में श्रीकृष्ण के अधरसुधा का पान कर रही है।" यह भी श्रीराधा के सौभाग्य से असूया का उदाहरण है।

कदाचित् ग्वालबालों के साथ वृन्दावन में क्रीड़ा करते हुए श्रीकृष्ण एक ओर हो जाते और बलरामजी दूसरी ओर। दोनों दलों में स्पर्धा और खेल-खेल में लड़ाई होती और जब श्रीकृष्ण का दल बलराम से परास्त हो जाता तो गोपबालक कहते, "यदि बलराम का दल ही सदा जीता करे तो संसार में हमारे समान दुर्बल कौन होगा ?" यह प्रेम में असूया है।

चपलता

श्रीमद्भागवत (१०.५२.४१) में अपने पत्र में रुक्मिणी देवी श्रीकृष्ण से कहती हैं, "हे अजित (कृष्ण) ! कल होने वाले विवाह के समय विदर्भ में

गुप्त रूप से प्रविष्ट होकर तथा मगधराज के सम्पूर्ण सैन्यबल को नष्ट करके मुझ को अपहरण करके राक्षस-विधि से विवाह कीजिए।''

वैदिक पद्धति के अनुसार विवाह आठ प्रकार के होते हैं, जिनमें राक्षस-विवाह भी आता है। इसमें किसी कन्या का बलपूर्वक अपहरण कर उससे विवाह किया जाता है। रुक्मिणी का विवाह उसके भाई की इच्छा से शिशुपाल से होने जा रहा था; तभी उसने यह पत्र लिखकर श्रीकृष्ण से अपना अपहरण करने का अनुरोध किया।

एक गोपी बोली, "जिससे गुरुजनों के सामने भी हमारी सारी शील-लज्जा खो जाती है, कृष्ण की वह मधुर और चपल वंशी यमुना की तरंगावली में बहकर सागर में गिर जाय।''

निद्रा

प्रतिदिन सन्ध्या समय श्रीकृष्ण वन से गोचारण करके लौटते थे। कभी-कभी उनके आने की सूचिका वंशीध्वनि को न सुनने के कारण चिन्ता के आक्रान्त हृदया यशोदा मैया को जड़ता आ घेरती थी। अतः कृष्णप्रेम में चिन्ताजनित निद्रा का भी अनुभव हो सकता है।

श्रीकृष्ण का बन्धन करके मैया सोचने लगी, "कृष्ण के अतिशय मृदु एवं कोमल अंग को बाँधने का काम मुझसे कैसे बन पड़ा?'' बस, यह सोचते ही बुद्धि में द्वन्द्व के कारण उसे निद्रा आ गयी।

गोपियों को उनके बड़े-बूढ़ों ने रात्रि में द्वार बन्द करके सोने को कहा था, पर अपनी निश्चिन्तता में उन्होंने इसका अच्छी प्रकार से पालन नहीं किया। श्रीकृष्ण के स्मरण में तन्मयता के कारण निर्भय हुई गोपियाँ रात्रि में अपने घरों के प्रांगण में ही सुखपूर्वक सो जातीं। यह श्रीकृष्ण के प्रति स्वाभाविक स्नेह से उत्पन्न प्रेम की निद्रा है।

यह जिज्ञासा हो सकती है कि कृष्णभक्तों को निद्रा क्यों होती है; निद्रा तो साधारणतः तमोगुण का लक्षण माना जाता है। इसके समाधान में श्रील जीव गोस्वामी लिखते हैं कि कृष्णभक्त माया के सभी गुणों से सदा मुक्त रहते हैं, उनकी निद्रा प्रकृति के गुणों के अधीन नहीं होती। उसे तो भक्ति में समाधि माना जाता है। 'गरुडपुराण' में साक्षात् श्रीभगवान् के आश्रय में स्थित योगियों के सम्बन्ध में प्रामाणिक वाक्य है—"जागृत, निद्रा औ सुप्ति—चेतना की तीनों अवस्थाओं में भक्तजन भगवान् के स्मरण में लीन रहते हैं। अतः वास्तव में वे सोते नहीं।''

स्वप्न

एकबार बलरामजी स्वप्न में कहने लगे, "हे कमलनयन (कृष्ण)! आपकी बाललीला आपकी स्वेच्छा से ही प्रकट होती है। इसलिए अब शीघ्र इस कालिय नाग के गर्व को दूर कर दीजिए।" बलरामजी को यह कहते सुनकर यदुवंशी आश्चर्य से हँसने लगे। फिर दीर्घ श्वासों से पेट को हिलाते हुए भगवान् हलधर प्रगाढ़ निद्रा में लौट गए। यह प्रेम में स्वप्न का उदाहरण है।

बोध

किसी भक्त का उद्गार है, "तमोगुण को जीत कर मैं ज्ञानरूपी दीपिका को प्राप्त हो गया हूँ और अब केवल परमानन्दकन्द श्रीभगवान् को खोज रहा हूँ।" यह प्रेम में होने वाला बोध है। अविद्या को पूर्ण रूप से विजय कर लेने पर ही दिव्य प्रबोध हो सकता है। उस अवस्था में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि का संग होने पर भक्त भगवान् की दिव्य सत्ता का ही अनुभव करता है। ऐसे में आँखों का खेलना, रोमांच, अधर फड़कना, निद्राभंग आदि लक्षण दीर्घकाल तक विद्यमान रहते हैं।

जब राधारानी ने श्रीकृष्ण को सर्वप्रथम देखा तो उन्हें तुरन्त सम्पूर्ण दिव्य सुख की अनुभूति हुई और शरीर के नाना अंग स्तम्भित हो गए। जब ललिता सखी ने उनके कान में कृष्णनाम की ध्वनि की तो उनकी आंखें खुल गईं। यह कृष्णनाम के श्रवण से उत्पन्न बोध है।

एक दिन हास-परिहास में श्रीकृष्ण ने राधारानी से कहा, "हे प्रिये! मैं तुम्हारा संग छोड़ने जा रहा हूँ।" यह कहते ही वे कहीं छिप गए। इससे राधारानी को ऐसा दुःख हुआ कि शरीर पर विवर्णता छा गई और वे बृन्दावन की भूमि पर गिर पड़ीं। वे श्वास-व्यापार से शून्यप्रायः हो गईं थीं; परन्तु श्रीकृष्ण की बनमाला की सुगन्ध के पहुँचने पर भावोन्मत हो कर फिर उठ बैठीं। यह गन्ध से उद्भूत दिव्य बोध का उदाहरण है।

श्रीकृष्ण को अपने अंग का स्पर्श करते देखकर कोई गोपी कहने लगी, "हे सखि! मेरा अंग-स्पर्श करता हुआ यह किसका मृदुल करकमल है जो यमुना वन को देखकर हुई मेरी मूर्च्छा को हटाकर पुनः सुखमयी मूर्च्छा ला रहा है?" यह स्पर्शजनित बोध है।

कोई गोपी श्रीकृष्ण से बोली, "हे कृष्ण! तुम्हारे रासमण्डल से छिप जाने पर अविलम्ब हमारी प्राणप्रिया राधारानी भूमि पर गिर कर अचेत हो गईं। किन्तु तुम्हारे चर्बित पान को जब मैंने उनके मुखारविन्द

में रखा तो वे पुलकितांग एवं सचेत हो गईं।" यह रस से उत्पन्न बोध है।

एक रात श्रीमती राधारानी स्वप्न में बोल रही थीं, "हे कृष्ण ! मुझसे और अधिक परिहास मत करो। बस, बहुत हुआ। मेरे वस्त्रों को भी मत छुओ। अन्यथा गुरुजनों को तुम्हारी चंचला की सारी कथा सुना दूँगी। इस प्रकार स्वप्न में कहती हुई राधारानी तुरन्त उठ बैठीं और सामने गुरुजनों को देखकर उनका मुख लज्जा से बिलकुल नीचे झुक गया। यह निद्रा-भंग से हुए बोध का उदाहरण है।

एक अन्य उदाहरण भी है। श्रीकृष्ण की दूती जैसे ही उनके पास पहुँची कि श्रीमती राधारानी निद्रा से जाग उठीं। इसी प्रकार रात्रि में श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि को सुनकर गोपसुन्दरियाँ स्वप्न से तुरन्त उठ बैठीं। इस सन्दर्भ में अतिशय सुन्दर उपमा है। "कमल कभी श्वेत हंसों से घिरा होता है तो कभी श्याम भ्रमरों से, जो मधुसंचय करते हैं। आकाश की गर्जना से हंस तो चले जाते हैं, पर श्याम भ्रमर कमल का रस लेने के लिए मँडराते रहते हैं।" गोपियों की निद्रा श्वेत हंस जैसी है और श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि मानो श्याम भ्रमर के समान है। जब श्रीकृष्ण की वंशी बज उठी तो गोपियों के निद्रारूपी श्वेत हंस भाग गए और वेणुरव रूपी श्याम भ्रमर गोपीसौन्दर्य को भोगने लगा।

अध्याय ३१

अन्य व्यभिचारिभाव

प्रेम के पूर्वोक्त ३३ भाव व्यभिचारि कहलाते हैं। इन सभी में प्रगाढ़ कृष्णप्रेम प्रकट रहता है। उत्तम, मध्यम और अधम—इस प्रकार इनका तीन कोटियों में विभाग किया जा सकता है। प्रेम में दूसरे-दूसरे भी बहुत से व्यभिचारि होते हैं, जैसे मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्लीवता, क्षमा, धैर्यहीनता, उत्कण्ठा, शोक, संशय, विनय, आश्चर्य, धृष्टता आदि। ये सब भाव ३३ व्यभिचारिभावों में आ जाते हैं। श्रील रूप गोस्वामी ने नाना प्रकार के व्यभिचारिभावों का अतिशय सुन्दर विश्लेषण किया है।

किसी दूसरे के उत्कर्ष को देखकर मन में उठने वाली असूया को 'मात्सर्य' कहते हैं। आकाश में बिजली चमकते देखकर प्राप्त त्रास से 'उद्वेग' उत्पन्न होता है। इसलिए त्रास में उद्वेग का अन्तर्भाव समझना चाहिए। अपने यथार्थ मनोभाव को छिपाना 'अवहित्था' कहलाता है। अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शित करता 'दम्भ' कहलाता है; अतः दम्भ को अवहित्था के अन्तर्गत माना जा सकता है। किसी दूसरे द्वारा किए अपराध को न सहना 'अमर्ष' है और दूसरे के ऐश्वर्य के प्रति असहिष्णुता 'ईर्ष्या' है। अतः ईर्ष्या अमर्ष में अन्तर्भूत हो जाती है। किसी शब्द का यथार्थ अर्थ स्थापित करना 'निर्णय' कहलाता है। इसके लिये 'विवेक' अपेक्षित है। अतः मति में दोनों विवेक और निर्णय का अन्तर्भाव है। अपने को अज्ञ बताना दैन्य है और उत्साह का अभाव 'क्लीवता' कहलाता है। इसलिए दैन्य में क्लीवता आ जाती है। मन की स्थिरता धृति कही जाती है; इसमें 'क्षमा' का अन्तर्भाव है। 'आश्चर्य' और 'उत्कण्ठा' औत्सुक्य के भीतर आ जाते हैं। किसी अपराध के लिए ग्लानि होने पर लज्जा आती है। इस प्रकार 'विनय' लज्जा में आ जाती है। 'संशय' वितर्क का ही एक रूप है। 'धृष्टता' के बाद चपलता का प्रदर्शन होता है, अतः धृष्टता चपलता में आ जाती है।

जब प्रेम में ये सभी भाव प्रकट रहते हैं तो उन्हें 'संचारिभाव' कहते हैं। ये सब भाव दिव्य हैं और नाना परिस्थितियों में परस्पर अनुभाव और विभाव के रूप में प्रकट होते हैं। इनके द्वारा ही प्रेमी-प्रियतम में प्रेम का विनिमय होता है।

ईर्ष्या अथवा निन्दा के कारण विवर्णता होती है। इससे भी विभाव माना जा सकता है। कभी-कभी सम्मोह, मूर्च्छा तथा तीव्र उद्वेग भी विभाव माने जाते हैं। प्रेम में प्रकट इन नाना भावों को विविध वर्गों में गिना जा सकता है।

श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं कि त्रास, निद्रा, श्रम, आलस्य, मदिरा से उत्पन्न मद को कभी-कभी संचारिभाव कहा जाता है। इसका कारण गाढ़ रति है।

वितर्क, मति, निर्वेद, धृति, स्मृति, हर्ष, बोध, दैन्य, स्वप्न भी प्रेम के विभाव हैं। संचारिभाव परतन्त्र और स्वतन्त्र—दो प्रकार के कहे गए हैं। परतन्त्र भी उत्तम और अधम भेद से दो प्रकार के हैं। श्रील रूप गोस्वामी ने इनके भेद का निर्णय किया है, जिसे यथास्थान प्रस्तुत किया जायगा।

एक भक्त कह उठा, "ओह ! जिसके नाम को सुनने से ही मेरा शरीर और रोम-रोम नाच उठता है, उस मथुरामण्डल को न देख सकने के कारण हाय मेरे नेत्र व्यर्थ ही हैं।" इस वाक्य से मथुरा-दर्शन की तीव्र उत्कण्ठा प्रकट होती है, जिसका उदय गाढ़ कृष्णरति से होता है। भीम के वचन में श्रीकृष्ण के लिए यह प्रगाढ़ रति व्यक्त है—"मेरे वज्रतुल्य बाहुओं को धिक्कार है, जो माधव पर आक्षेप करने वाले इस दुष्ट शिशुपाल को पीस नहीं डालते हैं।" यहाँ भीम के क्रोध से उत्पन्न निर्वेद श्रीकृष्ण में दृढ़ रति का कारण बना है।

जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण के उस विश्वरूप को देखा, जिसके कराल दाँत ब्रह्माण्ड के अस्तित्व को ही समाप्त-प्राय: कर कहे थे, तो उसका मुख सूख गया। उसे अपनी सुधी नहीं रही और न यह स्मरण रहा कि वह श्रीकृष्ण का सखा है, यद्यपि वह सदा श्रीकृष्ण की कृपा पर ही आश्रित था। यह अधम (अवर) परतन्त्रता का उदाहरण है।

कभी-कभी घोर क्रियाएँ भी कृष्णप्रेम का वर्धन करती हैं। प्रेम में अनुभव होने वाला यह भय मोह के कारण होता है। श्रीमद्-भागवत (१०.२३.४०) में याज्ञिक ब्राह्मणों ने कहा है "हमें जन्म से तीन सुविधायें मिली थीं। सबसे पहले हमारा जन्म ब्राह्मण-कुल में

हुआ; फिर हमारा यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ और सद्गुरु से विधिवत् दीक्षा भी प्राप्त हुई। परन्तु हाय ! इस सब के होते हुए भी हमें धिक्कार है। हमारे ब्रह्मचर्यव्रत को भी धिक्कार है।" इस प्रकार ब्राह्मण स्वयं अपनी क्रियाओं को धिक्कारने लगे। उन्हें अनुभूति हुई कि जन्म, विद्वत्ता और संस्कृति में निपुण होने पर भी वे माया-शक्ति के वश में हो रहे थे। उन्होंने यह भी माना कि बड़े-बड़े योगी भी भगवान् की भक्ति के अभाव में माया की आधीनता में ही पड़े रहते हैं। कर्मकाण्डी ब्राह्मणों का यह निर्वेदभाव कृष्णरति से शून्य है। इसके अतिरिक्त निर्वेद का एक रत्यनुस्पर्शी व्याभिचारिभाव भी है, जिसमें श्रीकृष्णरति रहती है। अरिष्टासुर का आक्रमण होने पर गोपांगनाएँ पुकार उठीं—"हे कृष्ण ! बचाओ ! हमें बचाओ।" निर्वेद के इस भाव में कृष्णरति है।

श्रीकृष्ण के हाथों केशी दैत्य का वध हुआ जानकर कंस में निर्वेद जाग उठा। वह कहने लगा—"रणविद्या को न जानने वाले इस अशिक्षित और असभ्य अभीर के बालक ने मेरे प्राणप्रिय केशी दैत्य को मार डाला है। इसलिए अब राजा इन्द्र को भी जीत लेने वाले मुझ कंस का जीना निरर्थक है।" इस निर्वेद के भाव में कृष्ण-विषयक रति की गन्ध अभिव्यक्त होती है, इसलिये यह रतिगन्धी व्यभिचारिभाव माना जाता है।

एक बार अक्रूर को डाँटते हुए कंस बोला—"अरे मूर्ख ! कालिय जैसे निर्विष सर्प को हराना कौन बड़ी बात है जो तू उस गोप-बालक को आदिदेव जगदीश बता रहा है। उसने गोवर्धन जैसे ढेले को उठा लिया तो क्या ? इससे कहीं अधिक आश्चर्य तो इस बात का है कि तू उसे भगवान् कहता है।" यह कृष्णप्रेम के निर्वेदभाव से होने वाली असूया जनित विपथा-वृत्ति है।

कदम्ब का कोई वृक्ष विलाप कर रहा था कि, "जिसकी छाया तक को श्रीकृष्ण ने स्पर्श नहीं किया, ऐसे मेरे जन्म को धिक्कार है।" भक्त उसे सान्त्वना देता हुआ कह रहा है—"हे कदम्ब ! तुम शोक न करो ! कालिय-मर्दन करते ही श्रीकृष्ण यहाँ आकर तुम्हारी अभिलाषा को पूरा करेंगे।"

विष्णुवाहन गरुड़जी एक समय कह रहे थे—"मुझ जैसा परमपवित्र, कुशल और निपुण दूसरा और कौन होगा ? वे मुझे प्रिय न समझें, मेरे संग में न आना चाहें, पर फिर भी मेरे पंखों का उपयोग तो वे करेंगे ही।" यह प्रेम के शान्तभाव में निर्वेद का उदाहरण है।

भाव के लक्षणों के कभी-कभी उत्पत्ति, सन्धि, शबलता और शान्ति रूप चार वर्ग किए जाते हैं।

एक दिन श्रीकृष्ण श्रीमती राधारानी से कहने लगे, "जब तुमने प्रातः एकान्त में मुझसे मिलने की चेष्टा की तो तुम्हारी सखी मेखला ईर्ष्यावश भूखी ही रही। उसे देखो तो।" श्रीकृष्ण के इस परिहास को सुनकर राधारानी अपनी भौंहों को टेढ़ा घुमाने लगीं। रूप गोस्वामी की प्रार्थना है कि राधारानी के इस भ्रू-नर्तन से सब का कल्याण हो। इस भाव में असूया के उदय का उदाहरण है।

एक रात पूतना के मृत शरीर पर बालकृष्ण को खेलता देखकर माँ यशोदा कुछ समय के लिये निश्चलदेह रह गई। यह दो भावों की सन्धि का उदाहरण है। ऐसी सन्धि इष्ट-अनिष्ट—दोनों में से कोई भी हो सकती है। पूतना का मरना इष्ट था; परन्तु आधी रात में अकेले बालकृष्ण का उसके वक्ष पर खेलना अनिष्ट की आंशका को जन्म दे रहा था। इस प्रकार यशोदा इष्ट और अनिष्ट के बीच पकड़ी गयीं।

जब कृष्ण ने चलना सिखा ही था कि वे बार-बार घर के बाहर जाते और फिर अन्दर आते। इस पर यशोदा ने आश्चर्य से कहा; यह बालक बहुत ही चंचल है और किसी से भी नहीं डरता। बार-बार बृन्दावन के अड़ौस-पड़ोस में जाता है और फिर वापस घर में लौट आता है। यह बिल्कुल निडर है, परन्तु फिर भी मुझे भय लगता है कि यह कहीं किसी संकट में न पड़ जाये। यह एक ही कारण से उत्पन्न दो परस्पर भिन्न व्यभिचारिभावों की सन्धि का उदाहरण है। बालक अत्यन्त निडर था; परन्तु फिर भी यशोदा को संकट का भय लग रहा था। इसमें हर्ष और शंका दो अलग-अलग हेतु हैं। भाव यह है कि बालक को बार-बार अन्दर बाहर आता देखकर यशोदा को हर्ष भी हो रहा था और भय की शंका भी हृदय में उठ रही थी।

जब देवकी ने अपने पुत्र कृष्ण के प्रसन्नवदन को कंस की रंगशाला में पहलवानों के सम्मुख देखा, तो उसके नेत्रों से ठंडे और गरम दोनों प्रकार के आँसू एक साथ विगलित होने लगे। यह दो अलग कारणों से उत्पन्न हर्ष और शोक की सन्धि है।

एक समय जब श्रीमती राधारानी वृन्दावन में यमुना के तीर पर खड़ी थीं तो श्रीकृष्ण ने उन्हें अपने परिरंभम में पकड़ लिया। श्रीकृष्ण ने ऐसा बलपूर्वक किया था। यद्यपि राधारानी ने इसके लिये बाहर अप्रसन्नता व्यक्त की; परन्तु अपने अन्तर में वे मुस्करा रही थीं और उन्हें अतिशय

तृप्ति का अनुभव हो रहा था। फिर भी उन्होंने बाहरी रूप से अपनी भौंहों को टेढ़े करते हुये ऐसा दिखाया मानो श्रीकृष्ण को त्याग रही हों। ऐसी मनोदशा में वृषभानुनन्दिनी राधारानी का सौन्दर्य खिल उठा और रूप गोस्वामी ने उसकी जय-जयकार की। इसमें भी नाना भावों की सन्धि है; पर केवल एक कारण हैं—श्रीकृष्ण।

कभी-कभी नन्दमहाराज के आवास में बड़े-बड़े महोत्सवों का आयोजन होता, जिनमें सारे वृन्दावनवासी सम्मिलित होते। ऐसे ही एक अवसर पर राधारानी को वह स्वर्ग का हार पहने देखा गया जो उन्हें श्रीकृष्ण ने उपहार में दिया था। माता यशोदा और राधारानी की माता ने भी यह बात तुरन्त जान ली, क्योंकि वह हार राधारानी के कण्ठ के लिये बहुत लम्बा था। इसके अतिरिक्त उस समय राधारानी को अपने समीप श्रीकृष्ण दिख रहे थे और अपना पति अभिमन्यु भी दृष्टिगोचर था। एक साथ इन सब कारणों से राधारानी को बड़ी लज्जा हुई और उनका मुखमण्डल परिग्लान हो चला। ऐसी अवस्था में वे बड़ी सुन्दर लग रही थीं। यहाँ लज्जा, अमर्ष, हर्ष और विशाद की सन्धि है। इस प्रकार यह अनेक हेतुओं से उत्पन्न अनेक भावों की सन्धि का उदाहरण है।

कंस कह रहा था, 'अरे यह अभीर का लड़का मेरा क्या कर सकता है?' दूसरे क्षण जब उसे सूचित किया गया कि उसके सारे असुर मित्र उस बालक द्वारा मार दिये गये हैं, तो कंस चिंतित होकर विचारने लगा, "तो फिर जाकर जल्दी से उसकी शरण स्वीकार कर लूं।" तभी उसे विचार हुआ, "मैं उससे क्यों डरूँ। मेरी सहायता के लिये अभी बहुत पहलवान बचे हुये हैं।" और फिर दूसरे क्षण वह सोचने लगा, "यह बालक निश्चित रूप से सामान्य नही है, क्योंकि उसने गोर्वधन पर्वत को अपने उल्टे हाथ से उठा लिया था। अतएव इस सम्बन्ध में मुझे क्या करना चाहिये। अच्छा तो मैं स्वयं आज ही वृन्दावन में जाकर वहाँ के निवासियों का नाश कर डालूँ। परन्तु मैं बाहर भी नहीं जा पाता, मेरा हृदय इस बालक के भय से काँप रहा है।" कंस की इस मनोदशा में गर्व, विशाद, दैन्य, मति, स्मृति, शंका, अमर्ष और त्रास—इन आठ भावों की सबलता पाई जाती है। वास्तव में कंस की मनोदशा इन आठों भावों से पूर्ण थी।

एक गृहस्थ भक्त ने कहा है, "हे नाथ मैं इतना अधम हूँ, इतना मन्दभाग्य हूँ कि यह दोनों आँखें कीर्तिमयी मथुरा नगरी को देखने की इच्छा कभी नहीं करतीं। इसलिये मेरी इन आंखों को धिक्कार हैं। मैं बहुत विद्वान् माना जाता हूँ, परन्तु मेरी सारी विद्वत्ता का उपयोग केवल

राजसेवा से हुआ है। मैंने बलि काल के विषय में नहीं सोचा, जो सबसे प्रबल है और सबको रचता और नष्ट करता है। मैं किसके लिए यह सब धन और वैभव छोड़ूँगा ? मैं जीर्ण-क्षीण होता चला जा रहा हूँ। अब क्या करूँगा ? तो फिर घर में ही रहकर भगवान् का भजन करूँ। नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि मन को तो वृन्दावन हठात् अपनी ओर खींच रहा है।" इस उदाहरण में निर्वेद, गर्व, शंका, धृति, विषाद, मति और उत्सुकता—इन सात भावों की शबलता है।

संस्कृत में उक्ति है कि **'नैराश्यं परं सुखम्,'** अर्थात् जब भावुकता अथवा अभिलाषा इतनी बढ़ जाये कि निराशामय कष्टों के बिना उसकी शान्ति न हो सके तो उनका असफल रह जाने में ही सुख है। एक बार वृन्दावन में श्रीकृष्ण को खोजते-खोजते गोप बालक खिन्न वदन हो गये थे। तभी उन्हें पहाड़ के ऊपर श्रीकृष्ण का मधुर वंशीरव सुनने को मिला। इससे वे आनन्द में मग्न होकर नाचने लगे। यह अत्यारूढ भाव के विलय, अर्थात् शान्ति का उदाहरण है।

श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं कि यद्यपि उनकी वाणी में शब्द, अर्थ और रसों का कोई चमत्कार नहीं हैं; फिर भी उन्होंने नाना प्रकार के प्रेम में होने वाले भावों का उदाहरण देने का प्रयास किया है। वे आगे कहते हैं कि ३३ व्यभिचारी भाव और ८ अन्य भाव, ये कुल ४१ 'मुख्यभाव' नाम से कहे जाते हैं। इन भावों से शरीर और इन्द्रियों, दोनों में विकार होते हैं। इन सबको हृदय में उठने वाले नाना प्रकार के भाव माना जा सकता है। कोई भाव स्वाभाविक होता है और कोई भाव आगन्तुक होता है। स्वाभाविक भाव भक्त के बाहर-भीतर निरन्तर बने रहते हैं।

जैसे वस्त्र को देखकर, वह किस रंग में रंगा गया है, यह जाना जा सकता है; उसी प्रकार इन भावों के लक्षणों के ज्ञान से यथार्थ स्थिति का बोध हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णरति एक ही है; परन्तु भक्त नाना प्रकार के होते हैं। इसलिये इस प्रकार की रति भी नाना रूपों में अभिव्यक्त होती है। जैसे लाल रंग में रंगा वस्त्र लाल प्रतीत होता है; उसी प्रकार किसी भी आगन्तुक भाव को उसके विशिष्ट लक्षणों से जाना जा सकता है। वास्तव में भक्तों के सभी भिन्न-भिन्न रस और भाव चित्त में विशिष्ट-विशिष्ट प्रकार की वृत्तियों को जन्म देते हैं और तीन भेदों के अनुसार प्रेम के लक्षण नाना रूपों और मात्राओं में प्रकट होते हैं। यदि चित्त गरीष्ठ है, गम्भीर है और महीष्ठ है तो प्रेम के एक प्रकार के लक्षण प्रकट होंगे और यदि हृदय कर्कश है, क्रूर है तो भिन्न

लक्षण अभिव्यक्त होंगे। भाव के लक्षण हृदय की स्थिति के अनुसार ही होते हैं। सामान्यतया लोग मन की नाना वृत्तियों को ही नहीं समझ सकते; परन्तु जब हृदय अत्यन्त मृदु एवं नम्र हो जाता है तो ये लक्षण बड़ी सुगमता से दृश्मान हो जाते हैं और इन्हें स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। गरीष्ठ हृदय स्वर्ण के समान है। गम्भीर हृदय समुद्र के समान है। महीष्ठ हृदय नगर के समान है। मृदु एवं नम्र हृदय रुई के समान है। हृदय में भाव की विद्युत् तरंग उठने पर स्वर्ण जैसे अथवा गम्भीर हृदय में क्षोभ नहीं होता; परन्तु कोमल और मृदु हृदय एकदम क्षुब्ध हो उठता है।

इसे एक और उदाहरण से समझा जा सकता है। गम्भीर और उदार हृदय जहाँ एक महानगर के समान है, वहीं कोमल हृदय शूद्र कुटिया जैसा है। महानगर में बड़े-बड़े दीप, महावलशाली हाथी आदि रहते हैं। परन्तु उन पर कोई विशेष ध्यान नहीं देता। यही दोप अथवा हाथी जब किसी शूद्र कुटिया के पास हों तो तुरन्त दिखलाई दे जाते हैं।

कर्कश चित्त तीन प्रकार का कहा गया है—वज्र के समान, स्वर्ण के समान और लाख के समान। वज्र वड़ा बलशाली होता है, कभी कोमल नहीं पड़ता। उसी प्रकार जो उग्र तप-त्याग में संलग्न हैं, वे सुगमता से द्रवित नहीं हो सकते। उग्र ताप से स्वर्ण पिघल जाता है; इसी प्रकार स्वर्ण के समान कर्कशचित्त अत्यन्त तीव्र भाव रूप अग्नि से पिघल जाता है। लाख के समान हृदय तो थोड़े ही ताप से विल्कुल सरलता से पिघल जाता है। मृदु अथवा कोमल चित्त मोम, मक्खन तथा अमृत के समान तीन प्रकार का माना जाता है। इन तीनों प्रकार के कोमल चित्त में भाव को सूर्य की उपमा दी जा सकती है। मोम और नवनीत को पिघलाने के लिये थोड़ा सा सूर्यताप भी पर्याप्त होता है। इसी प्रकार कोमलचित्त पुरुष बड़ी सरलता से द्रवित हो जाते हैं। परन्तु अमृत तो स्वभावतः द्रवीभूत अवस्था में रहता है। इसलिये जिन्हें श्रीकृष्ण का शुद्ध प्रेमभाव प्राप्त है, वे स्वभावतः अमृत के समान सदा द्रवित रहते हैं।

श्रीकृष्ण के शुद्धभक्त में सदा अमृत के समान गुण रहते हैं और कभी-कभी मक्खन और मोम के गुण भी पाये जाते हैं। सारांश में, उपरोक्त किसी भी भाववृत्ति वाले हृदय को विशिष्ट परिस्थितियों में द्रवित किया जा सकता है। ठीक उसी प्रकार जैसे रसायनों के विशेष सम्मिश्रण से कठोर हीरा भी पिघल जाता है। 'दानकेलिकौमुदी' में उल्लेख है, "जब भक्त के हृदय में प्रेम का उदय होता है तो वह अपने

भाव-विकारों को रोकने में उसी प्रकार असमर्थ हो जाता है, जिस प्रकार चन्द्रमा के उदय होने पर समुद्र अपने विकारों को रोक नहीं पाता। समुद्र स्वाभाविक रूप में निरन्तर गम्भीर और अचल बना रहता है; परन्तु जब चन्द्रोदय होता है तो समुद्र के वेग को कोई नहीं रोक सकता। इसी प्रकार जो शुद्धभक्त हैं, वे किसी भी कारण से अपने आन्तरिक भावविकारों को नहीं दबा सकते।

अध्याय ३२

स्थायिभाव के लक्षण

जो भाव प्रेम की सब क्षणिक अभिव्यक्तियों को और प्रेम के विरुद्ध भावों को दबा कर निरन्तर शक्तिशाली राजा के समान विराजित होता है, वह स्थायिभाव कहलाता है। यह भाव मुख्य और गौण दोनों प्रकार से अभिव्यक्त हो सकता है। इसलिए कृष्णविषया रति को मुख्या और गौण, ऐसा दो प्रकार का कहा गया है। शुद्धसत्त्व में स्थिर हो जाने पर ही इस कृष्णरति के भावों का उदय हो सकता है। मुख्यारति के भी दो भेद हैं—स्वार्था और परार्था।

जब भाव के अविरुद्ध लक्षण स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होते हैं तो किसी विरुद्ध भाव की अभिव्यक्ति से ग्लानि होती है। ऐसी रति को स्वार्था कहते हैं। जिस रति में अविरुद्ध और विरुद्ध भावों का परस्पर सामंजस्य हो सकता है, उसे मुख्या परार्था रति कहते हैं। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, और माधुर्य—इस प्रकार ये मुख्या परार्था रति के पाँच भेद हैं। यह रति प्रेम के पात्रों के वैशिष्ट्य के अनुसार अनेक भेदों को प्राप्त होती है।

शान्त

शुद्धा रति के सामान्या, स्वच्छा, और शान्त—ये तीन विभेद हैं। किसी विशेषता को प्राप्त हुये बिना सामान्य व्यक्तियों अथवा बालकादि द्वारा अभिव्यक्ति रति सामान्या है। यह कदाचित् अंगों के कंपन और नेत्रों की विवर्णता अर्थात् नेत्रों का लाल हो जाना, सफेद हो जाना इत्यादि लक्षणों के रूप में प्रकट होती है। इस रति का कोई विशेष लक्षण नहीं है।

कोई नवयुवक किसी वृद्ध से कह रहा है—'हे वृद्धे देखो ! यह तीन वर्ष की बालिका भी सामने खड़े श्रीकृष्ण को देखकर आनन्द में भरकर हुंकार करती हुई उनके पास पहुँचने के लिए आगे की ओर दौड़ रही है। देखो

तो।" यह बालिका के हृदय में सामान्या रति का उदाहरण है जिसके अपने कोई विशेष लक्षण नहीं होते। श्रीकृष्ण के प्रति नाना प्रकार की रति के अनुसार भक्तों के अनेक भेद हैं। उनके लक्षण रत्नों के समान ही स्फुट रूप से प्रकाशित हैं।

कहा जाता है कि एक महाभागवत ब्राह्मण कभी-कभी भगवान् को अपना प्रभु मानकर उनकी स्तुति करता। कभी मित्र के समान परिहास करता। कभी वात्सल्यप्रेम से भरकर उनकी रक्षा करता। कभी अपना प्रिय समझकर उन्हें पुकारता। और कभी कभी परमात्मा मानकर हृदय में उनका ध्यान करता। इस प्रकार ब्राह्मण ने अपनी भाव रति को नाना अवसरों पर नाना प्रकार से व्यक्त किया है। परन्तु निरन्तर कृष्णरति में डूबा होने से वह सब अवस्थाओं में परमानन्द में निमज्जित रहा और शुद्ध प्रेम में स्थित हो गया। इस प्रकार वह स्वच्छ माध्यम था, ठीक उस रत्न के समान जो अपनी प्रकृति के अनुसार नाना रंग दिखाता है।

देवर्षि नारद को अपनी वीणा पर भगवान् की लीला का गुणगान करते सुनकर ब्रह्म में लीन चारों कुमारों को भी शरीर में कंप हो चला। एक भक्त पुकार उठा—"यद्यपि केवल भक्तों की सेवा करने से ही मेरी मुक्ति हो सकती है। परन्तु फिर भी मेरा चित्त उन श्रीभगवान् के दर्शनों के लिये बड़ा आतुर हो रहा है जो नवोनित घनश्याम वर्ण हैं।" भक्त में भगवान् के सान्निध्य की ऐसी लालसा को शान्तरति का लक्षण माना जा सकता है।

केवला और संकुला रति

सामान्यतः कृष्णभक्तों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। सर्वप्रथम वे भक्त हैं जो निरन्तर पूर्ण रूप से श्रीभगवान् की कृपामय स्नेह पर निर्भर रहते हैं। दूसरी श्रेणी में वे भक्त हैं जिनका श्रीकृष्ण से सखाभाव का सम्बन्ध है। अन्तिम श्रेणी में वे भक्त आते हैं जो श्रीकृष्ण के साथ वात्सल्य प्रेम का सम्बन्ध रखते हैं, अर्थात् जो श्रीकृष्ण के पूज्य हैं। इन तीनों प्रकार के भक्तों का श्रीकृष्ण से भिन्न-भिन्न रसों में सम्बन्ध विकसित होता है। जब कृष्णविषया रति केवल एक रस पर आधारित हो तो उसे केवला कहते हैं। इस प्रकार की केवला रति वाला भक्त क्रमशः श्रीकृष्ण के रसाल जैसे किसी एक नित्य पार्षद जो गोलोक वृन्दावन में श्रीकृष्ण का निजी सेवक है अथवा श्रीदामा और सुदामा जैसे मित्रों अथवा नन्द यशोदा जैसे वात्सल्य मित्रों के चरणचिह्नों

की अनुगति की लालसा स्फुरित होती है। कृष्णविषयारति सीधे श्रीकृष्ण के लिए कभी अभिव्यक्त नहीं होती। इसके लिए गोलोक वृन्दावन में श्रीकृष्ण के किसी नित्य पार्षदों के चरणचिन्हों की अनुगति आवश्यक है।

जब कृष्णविषयक रस आपस में मिल जाते हैं—जैसे सख्य, दास्य, और वात्सल्य का परस्पर मिल जाना, तो परिणाम में होने वाली रति को संकुला रति (स्वाद) कहते हैं। ऐसे मिश्रित स्वाद उद्धव भीम, मुखरा नामक यशोदा मैय्या की धात्री आदि भक्तों में उदित होते हैं। संकुलारति में भी किसी एक रस का निरन्तर प्राधान्य रहता है। उसी प्रधान रस को भक्त का श्रीकृष्ण से मुख्य सम्बन्ध माना जाता है। उदाहरण के लिए उद्धव का श्रीकृष्ण से सख्यभाव है। परन्तु उद्धव के चरित्र में श्रीकृष्ण के लिए दास्यभाव भी दृष्टिगोचर होता है। इसका नाम सम्भ्रम सख्यभाव है। दूसरी ओर श्रीदामा और सुदामा जैसे सखाओं द्वारा अभिव्यक्त सखाभाव सम्भ्रम से बिल्कुल रहित है।

प्रीति

जो भक्त निरन्तर श्रीकृष्ण को आराध्य मानते हैं वे कृष्ण के अनुग्राह्य माने जाते हैं। उनकी रति प्रीति कहलाती है। ऐसे भक्त को श्रीकृष्ण के प्रति अपनी आधीनता बड़ी प्रधान रहती है और इसलिये वह कदाचित् ही किसी अन्य रस में रुचि लेता है।

मुकुन्दमाला में राज कुलशेखर कहते हैं—"हे प्रभो! आप जीवों का संसार रूपी नरक से उद्धार करने वाले हैं परन्तु अपने विषय में मुझे यह चिन्ता नहीं। मुझे चाहे स्वर्ग में रहना हो अथवा पृथ्वी पर अथवा चाहे नरक में ही क्यों न भेज दिया जाये मेरे लिये इसका कोई महत्त्व नहीं। मेरी केवल इतनी ही अभिलाषा है कि शरत् कालीन कमलों के समान सुन्दर आपके चरणों का ध्यान मरते समय भी मैं करता रहूँ।"

सख्य

जहाँ तक सख्य का सम्बन्ध है, जो उच्च कोटि के भक्त श्रीकृष्ण के प्राय: तुल्य हैं वे भगवान् से सख्यभाव के सम्बन्ध में अधिकारी माने जाते हैं, सख्यभाव के स्तर पर नाना प्रकार के परिहास, अट्टहास आदि होते हैं। इस प्रकार के सख्य सम्बन्ध का एक उदाहरण श्रीमद्भागवत में है जहाँ श्रीकृष्ण विचार कर रहे हैं—"गोचारण के समय मेरे आज सुन्दर

कानन में पुष्प चयन के लिये चले जाने पर मेरे वे मित्र गोपबालक क्षण भर के लिये मेरे विरह को न सह सके। इसलिये जब उन्होंने मुझे ढूंढ निकाला तो पहले मैं, पहले मैं, यह कहकर उन्होंने स्पर्धा पूर्वक मुझे स्पर्श करते हुये आलिंगन किया।''

एक मित्र ने श्रीकृष्ण को फटकारते हुए कहा, "हे दामोदर! यद्यपि श्रीदामा ने तुम्हें हराकर तुम्हारे अभिमान को चूर-चूर कर दिया है परन्तु फिर भी बल के मिथ्या दम्भ से अपनी इस लज्जा जनक पराजय को छिपाने का प्रयास कर रहे हो।''

वात्सल्य

जब माता यशोदा ने सुना कि श्रीकृष्ण की गायों को कंस के बलशाली सेवक बलात् हरकर लिये जा रहे हैं और बेचारे गोपबालक अपनी गायों की रक्षा का प्रयास कर रहे हैं तो वे सोचने लगीं, "मैं इन निरीह बालकों को कंस के सेवकों के आक्रमण से कैसे बचाऊँ?'' यह भक्त के वात्सल्य भाव का उदाहरण है।

श्रीकृष्ण को वन से गोचारण करके लौटता देखकर प्रेम से द्रवित हुई माता यशोदा तुरन्त उनके कपोलो को अपनी अंगुलियों से छूते हुए प्यार करने लगीं।

माधुर्य

श्रीकृष्ण और उनके माता-पिता में पाई जाने वाली वात्सल्यरति से भी ऊपर मधुरारति है। श्रीकृष्ण और गोपांगनाएँ कटाक्ष, भ्रू-विलास, प्रियवाणी, और स्मितादि के द्वारा इसे अभिव्यक्त करते हैं।

'गोविन्दबिलास' में एक वाक्य है—"श्रीमती राधारानी बड़ी ही उत्कंठा से श्रीकृष्ण का अन्वेषण कर रही थीं। उनकी यह उत्कंठा प्राय: निराशा में परिवर्तित हो चली थी।'' जब मधुरारति की ऐसी गौण अभिव्यक्ति होती है तो हास, आश्चर्य, उत्साह, विषाद, क्रोध, भय और कभी कभी जुगुप्सा का भाव भी होता है। इन सातों प्रकार के भावों से गौण रति बनती है।

मुख्या मधुरारति में हास, आश्चर्य, उत्साह, विषाद, भय तथा क्रोध तो रहते हैं, परन्तु जुगुप्सा नहीं होती। इन सभी लक्षणों को आनन्दरस का बड़ा निधान माना जाता है। जब ये सात प्रकार के प्रेम सम्बन्ध अभिव्यक्त होते हैं तो वे स्थायित्व को प्राप्त हो जाते हैं, जिससे ·रारति का स्वाद बढ़ता है।

अध्याय ३३

भाव के गौण लक्षण

हास

दो गोपियों के भांडों में से दही की चोरी करने के बाद पकड़े जाने पर श्रीकृष्ण ने अपनी गोपी सखी से कहा, "हे सखि ! हे सुमुखि ! मैं शपथ खाता हूँ कि मैंने तुम्हारे भाँड की दही को देखा तक नहीं है; परन्तु फिर भी तुम्हारी सखी राधारानी निर्लज्जता पूर्वक मेरे मुख की गन्ध को सूंघ रही है। मानो मैंने ही इसकी दही खा ली हो। इसे इस प्रकार के असाधु व्यवहार से रोको ।" श्रीकृष्ण के इस प्रकार कहने पर राधारानी की सखियाँ अपनी हँसी को रोक नहीं सकीं। यह हासरति का उदाहरण है।

विस्मय

ब्रह्मा ने देखा कि सारी गायें और सारे गोप-बालक पीताम्बर और नाना प्रकार के रत्नों से सुशोभित हैं। सभी बालक चर्तुभुजधारी थे और सैंकड़ों ब्रह्मा उनकी आराधना कर रहे थे। साक्षात् परब्रह्म श्रीकृष्ण के साथ होने के कारण उन गोप-बालकों का आनन्द खूब खिल रहा था। उस समय अपने विस्मय में ब्रह्मा कह उठे, "यह सब मैं क्या देख रहा हूँ ?" यह विस्मयरति का उदाहरण है।

उत्साहरति

शृंग की बनी वंशी की ध्वनि से जिसका आकाश गुंजायमान हो रहा था इस प्रकार की यमुना तट की भूमि पर श्रीकृष्ण के साथ लड़ने के लिये उद्यत गरजते हुए श्रीदामा ने बलपूर्वक अपनी कमर कस ली, अर्थात् लड़ने को कटिबद्ध हो गया।

शोकरति

श्रीमद्भागवत (१०.७.२५) में आंधी के रूप में आये तृणावर्त

दैत्य द्वारा श्रीकृष्ण के हरण का वर्णन है। श्रीकृष्ण को आकाश में उड़ा जाता देखकर सारी गोपियाँ उच्च-उच्च कंठ से रोने लगीं। नन्द-नन्दन को न देख पाने पर वे माता यशोदा को उपालम्भ देने लगीं। यह शोकरति का उदाहरण है। श्रीकृष्ण को कालिय नाग से लड़ता देखकर यशोदा मैय्या पुकार उठीं, "मेरा प्राणप्रिय कृष्ण कालिय सर्प की फणों में जकड़ा हुआ है; फिर भी हृदय टुकड़े-टुकड़े नहीं होता। इस शरीर की ऐसी कठोरता को धिक्कार है।" यह भी शोकरति का दृष्टान्त है।

क्रोधरति

जब अभिमन्यु की माता जटिला ने श्रीकृष्ण को एक रत्नहार पहने देखा तो वह समझ गई कि यह अवश्य उन्हें राधारानी ने भेंट किया है। वह क्रोध से भर गई और टेढ़ी भौंहों से उन्हें घूरने लगीं। यह क्रोधरति का उदाहरण है।

जुगुप्सारति

यामुनाचार्य जी कहते हैं, "जब से मैं श्रीकृष्ण के साथ नित्य नव-नव रसों का आस्वादन आदान-प्रदान करने लगा हूँ, तबसे अपने पिछले स्त्रीसंग की याद आते ही मेरे होंठ घृणा से सिकुड़ जाते हैं; यहाँ तक कि मैं उस विचार पर ही थूकने लगता हूँ।" यह जुगुप्सारति है।

भयरति

एक पुराना भक्त कहने लगा, "हे नाथ ! जब हम आपसे दूर होते हैं तो फिर आपके दुबारा दर्शनों के लिये बड़ी उत्कंठा होती है। हमारा जीवन दुःखों से भर जाता है। परन्तु जब आप फिर मिलते हैं तो विरह का भय उपस्थित हो जाता है। अतएव चाहे आप मिलें अथवा न मिलें हमें सदा नाना प्रकार का भय सताया करता है।" यह कृष्णरति में विरोधी भावों के संकुलन का उदाहरण है। ऐसी रति बड़ी ही आस्वाद्य होती है और कुशल रसाज्ञों ने इसे दही, शक्कर और कालीमिर्च के मिश्रण की उपमा दी है। इन सबका सम्मिलित स्वाद बड़ा ही रसमय होता है।

अध्याय ३४

भक्तिरसामृत

अलग-अलग भक्तों के हृदय में उदित होने वाले भिन्न-भिन्न विशिष्ट भावों को विभाव कहते हैं। इनके फलस्वरूप प्रकट कटाक्ष, भय, विस्मय, हास आदि पूर्ववर्णित भाव अनुभाव कहलाते हैं। अनुभाव और विभाव को जन्म देने वाले नाना कारण संचारिभाव हैं।

जब भी श्रीकृष्णलीला विषयक काव्य अथवा नाटक का आयोजन होता है तो श्रोताओं अथवा दर्शकों में नाना प्रकार के दिव्य सेवाभाव का उदय होता है और वे भिन्न-भिन्न विभाव, अनुभाव और संचारिभावों का आस्वादन करते हैं।

जो देहात्मबुद्धि के स्तर पर है वह केवल नाना शास्त्रवचनों के आधार पर भिन्न-भिन्न भाव और अनुभाव का ऐसा वर्णन नहीं करे। इनकी अभिव्यक्ति भगवान् की दिव्य आह्लादिनी शक्ति का कार्य है। बस यह समझना चाहिये कि दिव्य स्तर पर प्रेम का नाना प्रकार से आदान-प्रदान होता है। प्रेम के ऐसे आदान-प्रदान को प्राकृत अथवा लौकिक समझने की भूल कभी न करें। महाभारत उद्योगपर्व में चेतावनी है कि अचिन्त्य वस्तु को तर्क का विषय नहीं बनाना चाहिये। वास्तव में अपनी वर्तमान दशा में वैकुण्ठ जगत् की क्रियाएँ हमारे लिये अचिन्त्य हैं। रूपगोस्वामी जैसे महापुरुषों ने वैकुण्ठजगत् की दिव्य क्रियाओं का संकेत करने का प्रयास अवश्य किया है; परन्तु पूर्ण रूप से ये क्रियाएँ वर्तमान में हमारे चिन्तन से परे ही रहेंगी। श्रीकृष्ण से होने वाले दिव्य सेवाभाव-विनिमय को तभी समझा जा सकता है जब कोई वास्तव में उनकी आह्लादिनी शक्ति के संस्पर्श में स्थित हो जाये।

इस सन्दर्भ में रूपगोस्वामी आकाश के मेघों का उदाहरण देते हैं—आकाश में मेघ सागर से उठते हैं और बरस जाने पर उनका जल दुबारा नीचे गिरकर सागर को लौट जाता है। इस प्रकार सागर के समान ही श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति है। शुद्धभक्त रसधारी मेघ है और जब

वह दिव्य प्रेममयी सेवा से परिपूर्ण हो जाता है तो परिवर्षण के रूप में अपनी कृपा को बरसाता है और क्रमशः आह्लादिनी शक्ति कृष्णरूप सागर को लौट जाती है।

कृष्णभक्तिरस : मुख्य और गौण

भक्तियोग से मिलने वाले दिव्य आनन्द रस के दो भेद हैं—मुख्य भक्तिरस और गौणभक्तिरस। मुख्यभक्तिरस पाँच प्रकार का है और गौणभक्तिरस के सात दिव्य प्रकार हैं। मुख्यभक्तिरस के भेद हैं—शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य। गौणभक्तिरस के भेद हैं—हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक, बीभत्स। इस प्रकार मुख्य और गौण दोनों को मिलाकर भक्तिरस कुल बारह प्रकार का होता है। इन सबका अलग-अलग वर्ण माना गया है। ये क्रमशः इस प्रकाश हैं—श्वेत, चित-कबरा, अरुण, शोण, श्यामवर्ण, कपोत, पीत, गौर, धूम्र, रक्त, कृष्ण तथा नील। बारह दिव्य रसों के अधिष्ठाता, बारह अलग-अलग अवतार हैं—कपिल, माधव, उपेन्द्र, नृसिंह, नन्दनन्दन, बलराम, कूर्म, कल्की, राघव, भार्गव, वराह, तथा मत्स्य।

पूर्ति, विकास, विस्तार, विक्षेप, और विक्षोभ—प्रेम के आदान-प्रदान में ये पाँच लक्षण रहते हैं। शान्तभक्तिरस में पूर्ति, वीरभक्तिरस में विस्तार, करुणभक्तिरस में विक्षेप, तथा रौद्रभक्तिरस में विक्षोभ रहता है, इत्यादि।

भक्ति की करुण दशा अनुभवरहित भक्तों को दुःखात्मक लग सकती है; परन्तु दक्ष भक्त तो करुण अवस्था में भी अनुभव होने वाले भावों को अत्यन्त आनन्दमय ही मानते हैं। उदाहरण के लिये, रामायण करुणरस से परिपूर्ण है। इसलिये कभी-कभी उसे दुःखात्मक माना जाता है; परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। रामायण में वर्णन है कि किस प्रकार राज्याभिषेक के अवसर पर भगवान् श्रीराम को उनके पिता ने वन में निर्वासित कर दिया था। उनके प्रस्थान के अनन्तर पिता महाराज दशरथ का देहान्त हो गया। वन में उनकी अर्धांगिनी सीता देवी का रावण ने अपहरण किया और फिर एक महान् युद्ध छिड़ा। जब अन्त में सीता देवी रावण के चंगुल से छूटीं तो रावण और उसके सारे परिवार का नाश हो चुका था। जब सीता देवी घर लौट रहीं थीं तब उन्हें अग्निपरीक्षा देनी पड़ी और कुछ ही दिनों बाद उन्हें फिर वनवास मिला। रामायण का यह सब कथानक बड़ा ही करुण है और इसलिये कभी कभी पाठक को दुःखात्मक

प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। अन्यथा भगवान् राम के महाभक्त हनुमान् जी रामायण में वर्णित भगवान् राम के चरित्र का नित्य-पाठ क्यों करते। वास्तविकता यह है कि उपरोक्त भक्ति के १२ रसों में से किसी भी रस में सब कुछ दिव्य आनन्ददायी है।

श्रीलरूप गोस्वामी इस सन्दर्भ में उन लोगों के लिये शोक करते हैं जो मिथ्या वैराग्य की अग्नि में तप रहे हैं। मिथ्या वैराग्य, शुष्क ज्ञान और कुतर्कों की अग्नि में तपते हुए वे भक्तियोग की उपेक्षा कर देते हैं। जो वेदों के कर्मकाण्ड और निर्विशेष ब्रह्म में आसक्त हैं वे भक्तियोग के दिव्य आनन्द का आस्वादन नहीं कर सकते। अतएव श्रील गोस्वामी का परामर्श है कि जिन्हें यह महामृत प्राप्त है वे भक्ति के रसिक बड़ी सावधानी से शुष्क ज्ञानियों, स्वर्ग के अभिलाषी कर्मियों और निर्विशेष मोक्षकामियों से अपनी भक्ति की रक्षा करें। भक्तों को अपने भगवत्प्रेम रूप महारत्न को चोरों से बचाना चाहिये। भाव यह है कि शुद्धभक्त को उन्हें भक्तियोग और उसके विभिन्न तात्त्विक पक्षों का विवरण नहीं सुनाना चाहिये, जो केवल शुष्क ज्ञानी हैं अथवा मिथ्वा वैराग्य का अभिमान रखते हैं।

जो भक्त नहीं हैं उनके लिये भक्तिरस सर्वथा दुरुह है। अभक्त इस भक्तिरस के महत्त्व को, इसकी महिमा-गरिमा को कभी नहीं समझ सकता। उन्हें भक्तियोग का लाभ कभी नहीं मिल सकता। जिन्होंने भगवान् के चरणों में अपना जीवन-सर्वस्व चढ़ा दिया है वे भक्तजन ही यथार्थ भक्ति-रसामृत का आस्वादन कर सकते हैं।

भक्त जब भावना के पथ का उल्लंघन करके शुद्ध सत्त्व की सर्वोच्च भावभूमि पर आरूढ़ हो जाता है तब हृदय का सब प्रकार के दोषों से परिष्कार हो जाता है। जीवन की उस शुद्ध अवस्था में इस अमृत का आस्वादन हो सकता है। आस्वादन की इसी योग्यता का नाम रस है।

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ भक्तिरससामान्य निरूपणनामा दक्षिणो विभागः॥

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये दक्षिणो विभागः॥२॥

अथ पश्चिमो विभाग:

मुख्यभक्तिरस

याय ३५

शान्तरस

श्रील रूपगोस्वामी सनातन-स्वरूप श्रीभगवान् को सादर प्रणाम करते हैं, जो नित्य मनोहर रूपधारी हैं और जिनके लिये शुद्धभक्त निरन्तर प्रेममयी सेवा में संलग्न रहते हैं। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' के इस पश्चिम विभाग में पाँच प्रकार के मुख्य भक्तिरस अर्थात् शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य का वर्णन है। इन पाँचों तत्त्वों का यहाँ विशद रूप से प्रतिपादन किया जायगा। इसलिये इन्हें इस भक्तिरस रूपसागर की पश्चिम दिशा में उठने वाली पाँच लहरियों की उपमा दी गई है।

जब कोई निरन्तर शुद्धसत्त्व में स्थिर रह सकता है तो उसकी अवस्था भक्तिरस के शान्तरस में समझी जाती है। बहुत से महर्षियों को यह शान्त अवस्था तप-त्याग और इन्द्रियसंयम के लिये ध्यान करने से उपलब्ध हो चुकी है। ऐसे ऋषि सामान्यतः ध्यानयोगी कहलाते हैं और प्रायः उनकी प्रवृत्ति निर्विशेष ब्रह्म के दिव्यानन्द को भोगने की ओर रहती है। श्रीभगवान् के निज संग से प्राप्त होने वाले दिव्य आनन्द रस का उन्हें प्रायः कोई आभास नहीं होता।

वास्तव में परम पुरुष के संग में प्राप्त होने वाला दिव्य आह्लाद निर्विशेष ब्रह्मानुभूति से प्राप्त आनन्द से कहीं बढ़कर है क्योंकि इसमें श्रीभगवान् के सनातन रूप का सीधा साक्षात्कार होता है। निर्विशेषवादी भगवान् की लीलाकथा नहीं सुनते; इसीलिये उन्हें साक्षात् श्रीभगवान् के संग से होने वाला दिव्य सुख नहीं मिलता। इसलिये वे उस भगवद्गीता की वार्ता से भी कोई दिव्यसुख नहीं पाते, जिसे स्वयं श्रीभगवान् ने अर्जुन को सुनाया। उनकी निर्विशेष मनोवृत्ति का प्रधान सिद्धान्त उन्हें वह दिव्य सुख नहीं लेने देता जिसका आस्वादन परम पुरुष के संग में भक्तजन करते हैं। इसीलिये भगवद्गीता पर निर्विशेष भाष्य उत्पातकारी सिद्ध होता है, क्योंकि गीता के दिव्य आनन्द को जाने बिना निर्विशेषवादी उसे अपनी

सुविधा के अनुसार अर्थ देना चाहते हैं। परन्तु यदि कोई निर्विशेषवादी शुद्धभक्त के संग में आ जाये तो वह अपनी निर्विशेष ब्रह्मानुभूति से ऊपर पहुँच सकता है। अतएव बड़े-बड़े ऋषियों को भी परमोच्च दिव्य आनन्द के लिए भगवान् के विग्रह की आराधना का परामर्श दिया गया है।

अर्चा विग्रह की आराधना किये बिना 'भगवद्गीता' और 'श्रीमद्-भागवत' जैसे शास्त्रों को नहीं समझा जा सकता। जो दिव्य शान्त अवस्था में हैं, उन महर्षियों को भगवान् के चर्तुभुज नारायण रूप का प्रारम्भ में आश्रय लेना चाहिये। ध्यानयोगियों के लिये विधान है कि वे भगवान् विष्णु के रूप का ध्यान करें, जैसा कपिलमुनि ने सांख्ययोग में बताया है। दुर्भाग्यवश बहुत से ध्यानयोगी किसी शून्य पर ध्यान करने का प्रयास करते हैं और जैसा भगवद्गीता में कहा है, इसके परिणाम में उन्हें केवल कष्ट ही कष्ट होता है। कोई सफलता नहीं मिलती।

जब किन्हीं तपोनिष्ठ संत पुरुषों ने भगवान् विष्णु के चर्तुभुज रूप को देखा तो वे कहने लगे, "यह भगवान् का चर्तुभुज रूप है। ये घनश्याम आकृति प्रभु सारे रसों के निधान, आनन्दराशि और हमारे जीवन के केन्द्र हैं। वास्तव में जब हम विष्णु के शाश्वत् रूप को देखते हैं तो परमहंसों के साथ हम भी अविलम्ब भगवान् की माधुरी पर मोहित हो जाते हैं।" संत पुरुषों द्वारा भगवान् विष्णु का यह आस्वादन शान्तरस में होता है। प्रारम्भिक साधक कठोर तप-त्याग के द्वारा प्राकृत बन्धन से मोक्ष पाने का प्रयास करते हैं और ऐसा करते-करते निर्विशेष ब्रह्म साक्षात्कार तक पहुँच जाते हैं। इस ब्रह्मभूत मुक्तावस्था में जैसा भगवद्गीता में बताया गया है, जीव प्रसन्न, शोक और आकांक्षा से मुक्त तथा प्राणीमात्र में समभाव वाला हो जाता है। जब भक्त भक्ति के शान्तरस में स्थिर होता है, तो वह भगवान् के विष्णु रूप का आस्वादन करता है।

वास्तव में सम्पूर्ण वैदिक संस्कृति का लक्ष्य भगवान् विष्णु को जानना है। ऋग्वेद में एक मन्त्र कहता है कि, सभी संत पुरुष भगवान् विष्णु के चरणकमलों के ध्यान में ही नित्य संलग्न रहा करते हैं।

श्रीमद्भागवत के अनुसार मूर्ख नहीं जानते कि विष्णु जीवन के परम लक्ष्य हैं। सम्पूर्ण प्रामाणिक वैदिक शास्त्रों का निष्कर्ष है कि जब कोई विष्णु को समझ जाता है तभी उसके भक्तियोग का प्रारम्भ होता है। यदि योग्य गुरु के मार्गदर्शन में भक्ति का उत्तरोत्तर सेवन किया जाये तो भक्ति के अन्य पक्ष भी शनैः शनैः स्फुरित हो जायेंगे। शान्त

रस की इस अवस्था में दैत्यों को भी गति देने वाले भगवान् विष्णु को देखा जा सकता है। उनका साक्षात्कार किया जा सकता है। ऐसे भक्त भगवान् को सच्चिदानन्दघन, आत्मारामों में शिरोमणि, परमात्मा परब्रह्म, आत्मसंयमी, शुद्ध भक्तों पर कृपा करने वाले और किसी भी लौकिक परिस्थिति से परे अनुभव करते हैं। सन्त पुरुषों द्वारा संभ्रम और सम्मान के साथ भगवान् विष्णु के इन गुणों का ग्रहण शान्तरस का लक्षण माना जाता है।

शान्तरस की इस अवस्था की प्राप्ति निर्विशेषवादियों को तभी हो सकती है जब वे शुद्ध भक्तों के संग में हों; अन्यथा ऐसा नहीं हो सकता। ब्रह्म-साक्षात्कार के बाद जब कोई जीवन्मुक्त पुरुष भगवान् विष्णु के शुद्धभक्त के संग में आता है और आज्ञानुवर्ती विनम्रभाव से भगवान् श्रीकृष्ण की शिक्षा को अर्थ का अनर्थ किये बिना स्वीकार कर लेता है तब वह भक्तियोग के शान्तरस में सिद्ध हो जाता है। शान्तरस में सिद्ध संत पुरुषों के सर्वोत्तम उदाहरण सनक, सनातन, सनन्दन और सनत्कुमार हैं। ये चारों कुमार, जिन्हें चतुस्सम कहा जाता है, ब्रह्मा के पुत्र हैं। जन्म के बाद इन्हें पिता से आज्ञा मिली थी कि वे गृहस्थ बनकर मानव समाज का विस्तार करें। परन्तु उन्होंने इस आज्ञा को नहीं माना। उन्होंने कहा वे निर्णय कर चुके हैं कि गृहस्थ जीवन के प्रपंच में नहीं फंसेंगे; इसके स्थान पर आत्मसिद्धि के लिये संत ब्रह्मचारियों के रूप में ही रहेंगे। इस प्रकार ये संत पुरुष करोड़ों वर्षों से हैं; परन्तु अब भी इनका स्वरूप चार-पाँच वर्ष के बालकों जैसा है। इनका श्वेत वर्ण है, शरीर दिव्य ज्योति से दीप्त है और निरन्तर दिगम्बरधारी हैं। ये चारों निरन्तर एक साथ रहते हैं।

चारों कुमारों की एक प्रार्थना में इस प्रकार घोषणा है, "हे मुकुन्द!, हे मुक्तिदाता कृष्ण! जब तक नवतमाल की नीलद्युति वाले आपके सच्चिदानन्दघन रूप का दर्शन नहीं हो जाता तभी तक निर्विशेष ब्रह्म संतों को सुखदायी लगता है।"

संत पुरुष की योग्यता का वर्णन 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में इस प्रकार है—संत पुरुष वह है जो यह पूर्ण रूप से जानता हो कि केवल भक्तियोग का आचरण करने से उसकी मुक्ति निश्चित हो जायगी। वह निरन्तर भक्ति के विधिविधान में स्थित रहता है और साथ ही भव-बन्धन से छूट जाना चाहता है।

संत पुरुष इस प्रकार सोचते हैं, "वह दिन कब होगा जब मैं अकेले

पर्वत की कन्दरा में रह सकूंगा ? वह दिन कब होगा जब मैं केवल कौपीन धारण कर काम चला सकूंगा ? कब ऐसा होगा जब थोड़े से फल-फूल खाने से मेरी तृप्ति हो जाया करेगी ? ऐसा कब होगा जब ब्रह्मज्योति के स्रोत भगवान मुकुन्द के चरण युगल अरविन्द का मैं निरन्तर स्मरण करता रहूँगा ? इस प्रकार रहते हुए कब मैं अपने दिन रात को सनातन काल के क्षुद्र क्षण समझ सकूंगा ।

भगवान् की कीर्ति का गान करने वाले भक्त और स्वरूपप्राप्त पुरुष निरन्तर हृदय में भगवान् के लिये प्रेमभाव को धारण किये रहते हैं। इस प्रकार शान्तभाव रूप चन्द्रमा उन पर अमृत बरसाया करता है और वे सन्त कहलाते हैं।

सन्त पुरुषों में वेदों और विशेषत: उपनिषदों को पढ़ने की, निरन्तर एकान्त स्थान में रहने की, सदा-सर्वदा श्रीकृष्ण के शाश्वत् रूप के चिन्तन, विद्या की प्रधानता, कृष्णरूप के दर्शन, विष्णु रूप के दर्शन, ज्ञानी भक्तों के साथ सम्पर्क करने और अपने समान उच्च पुरुषों के साथ वेदों की वार्ता करने की ओर स्वाभाविक प्रवृति रहती है। अत: ये गुण सन्त पुरुष को शान्तरस के स्तर पर उठाने वाले उद्दीपन है।

'भक्तिरसामृतसिन्धु' में उल्लेख है कि जो सब उपनिषद् आदि वैदिक शास्त्रों के अध्ययन के लिए भगवान् ब्रह्मा द्वारा आयोजित पुण्य गोष्ठी में एकत्र हुए थे वे सब यदुवंश शिरोमणि श्रीकृष्ण के प्रेम से भाव-विह्वल हो उठे। वास्तव में उपनिषदों के स्वाध्याय का उद्देश्य भगवान् के तत्त्व को जानना है। संसार का निराकरण तो उपनिषदों का केवल एक आनुषंगिक विषय है। दूसरा विषय है निर्विशेष साक्षात्कार के बाद निर्विशेष ब्रह्म का उल्लंघन करने पर जब कोई भगवान् के संग में आता है तब उपनिषदों के स्वाध्याय का परम प्रयोजन सिद्ध होता है।

भगवान् के चरणों में अर्पित तुलसी को सूंघना, उनके शंख की ध्वनि को सुनना, गोवर्धन जैसे पुण्य पर्वत, वृन्दावन जैसे पुण्य वन को देखना; गंगा तट पर जाना; खाना, सोना, मैथुन और भय—इन शारीरिक आवश्यकताओं को जीत लेना; काल के सर्वसंहारत्व को जानना; कृष्ण-भावना परायण भक्तों से निरन्तर संग करना—ये सब संत पुरुषों को शान्तरस में आरूढ़ कर भक्तिरस की उच्च अवस्था में पहुँचा सकते हैं इसलिये इन्हें शान्तरस के विभाव कहा जाता है।

श्रीमद्भागवत (३.१५.४३) में सनकादि चार कुमारों का एक वाक्य है। उसके अनुसार जब वे वैकुण्ठ लोक में भगवान् का दर्शन करने के

लिये गये तो उन्हें प्रणाम करने के लिये झुकने पर भगवान् के चरणकमल के जल से मिश्रित तुलसी की सुगन्ध ने उनकी नासिका में प्रवेश किया और तुरन्त उनके चित को आकृष्ट कर लिया। यद्यपि ये चारों संत पुरुष निरन्तर निर्विशेष ब्रह्म में लीन रहते थे; परन्तु भगवान् के संग से और तुलसी को सूँघने से उनके शरीर में तुरन्त रोमांच हो आया। यह सिद्ध करता है कि ब्रह्म साक्षात्कार को प्राप्त पुरुष भी यदि शुद्धभक्ति परायण भक्तों का संग करे तो वह भी अविलम्ब भगवान् के सविशेष साकार रूप की ओर आकृष्ट हो जायगा।

भक्तियोग के शान्तरस में सिद्ध महर्षियों के लक्षण अर्थात् अनुभाव इस प्रकार हैं—वे अपनी दृष्टि को नासिका के अग्रभाग में स्थिर रखते हैं और अवधूतों के समान चेष्टा करते हैं। अवधूत उस उच्च कोटि के योगी को कहा जाता है जो किसी सामाजिक, धार्मिक अथवा वैदिक परिपाटी को नहीं मानता। वे देख-देख कर चलते हैं; बोलते हैं तो ज्ञानमुद्रा का प्रदर्शन करते हैं, अर्थात् तर्जनी और अंगूठे को जोड़े रहते हैं। वे नास्तिकों से द्वेष नहीं करते और न ही भक्तों में अधिक रुचि रखते हैं। ऐसे पुरुषों के लिए मुक्ति और विषयपरायण जीवन से अनासक्ति का बहुत महत्त्व है। वे निरन्तर उदासीन बने रहते हैं और उनमें ममता और अहंमता का अभाव रहता है। वे बहुत गम्भीर और मौन रहते हैं; परन्तु उनके विचार पूर्ण रूप से भगवान् पर केन्द्रित रहते हैं। इन असाधारण अनुभावों का विकास शान्तरस में स्थित भक्तों में होता है।

नासिका के अग्रभाग में दृष्टि को केन्द्रित करने के सम्बन्ध में 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में एक भक्त का कथन है। 'किसी योगी को ऐसा करते देखकर वह बोला, "यह योगी अपनी दृष्टि को नासाग्र में एकाग्र कर रहा है। इससे प्रतीत होता है कि इसे अपने अन्तर में भगवान् के शाश्वत् रूप का साक्षात्कार हो चुका है।'

कभी-कभी शान्तरस में भक्त जँहाई लेता है, अंगड़ाई लेता है, किसी को उपदेश करता है, भगवान् के स्वरूप को प्रणाम करता है, प्रार्थना करता है और अपने शरीर से प्रत्यक्ष रूप से उनकी सेवा करना चाहता है। ये शान्तरस में स्थिर भक्तों के कुछ साधारण लक्षण हैं। किसी भक्त को जँहाई लेते देखकर अन्य भक्त कहने लगा, 'हे योगी! लगता है तुम्हारे हृदय में कुछ भक्तिरस अवश्य है जिस कारण तुम जँहाई ले रहे हो।" शान्तरस में कभी-कभी पाया जाता है कि भक्त भूमि पर लोटने लगता है, उसे रोमांच हो उठता है और सम्पूर्ण शरीर कांपने

लगता है। इस प्रकार प्रेमसमाधि के विभिन्न लक्षण इन भक्तों में स्वत: प्रकाशित हो जाते है।

'भक्तिरसामृतसिन्धु' में उल्लेख है कि जब भगवान् श्रीकृष्ण अपने पाञ्चजन्य शंख का वादन कर रहे थे तो कन्दरावासी महर्षियों ने तुरन्त प्रतिक्रिया की। इससे उनकी समाधि खुल गई थीं। उन्होंने देखा कि उनके शरीर में रोमांच हो आया है। कभी-कभी शान्तरस में भक्तगण निर्वेद, शान्ति, हर्ष, मति, स्मृति, विषाद, हर्ष, आवेग और वितर्क आदि संचारिभावों को अभिव्यक्त करते हैं।

एक आत्मज्ञानी विषाद से तुरन्त कम्पित हो उठा। वह सोच रहा था कि उसके समय का अपव्यय हो रहा है। भाव यह है कि ऋषि को शोक हुआ कि भगवान् द्वारका में स्वयं विराजमान हैं, परन्तु फिर भी ध्यान में मग्न होने के कारण वह उनके दर्शनों से वंचित है।

जब कोई योगी सब प्रकार के मनोधर्मों से मुक्त होकर ब्रह्मभूत हो जाता है तो उसकी अवस्था को देहात्मबुद्धि से परे समाधि कहा जाता है। उस अवस्था में जब वह भगवान् की दिव्य लीलाकथा को सुनता है तो देह पुलकित हो उठती है।

ब्रह्म-साक्षात्कार के द्वारा निर्विकल्प समाधि की अवस्था को पहुँचा भक्त जब भगवान् श्रीकृष्ण के शाश्वत् स्वरूप के संस्पर्श में आता है तो उसका दिव्य आनन्द अनन्त गुणा बढ़ जाता है। एक महर्षि ने किसी दूसरे से जिज्ञासा की थी, "हे सखे! क्या तुम समझते हो कि जब मेरे अष्टांगयोग की सिद्धि हो जायेगी तो मैं भगवान् के शाश्वत् रूप को देख सकूँगा?" यह शान्तरस में स्थित भक्त की जिज्ञासा का उदाहरण है।

सूर्यग्रहण के अवसर पर जब भगवान् श्रीकृष्ण अपने अग्रज बलराम और बहन सुभद्रा को साथ लेकर रथ पर सवार होकर कुरुक्षेत्र पधारे तो बहुत से ध्यानयोगी भी वहाँ आये। जब इन योगियों ने भगवान् कृष्ण-बलराम को देखा तो वे कह उठे कि अब जबकि उन्होंने भगवान् की अनुपम विग्रह ज्योति को देख लिया है, वे निर्विशेष ब्रह्म साक्षात्कार से मिलने वाले दिव्य सुखको भुला बैठे हैं। इस सन्दर्भ में ही एक योगी ने श्रीकृष्ण के पास जाकर कहा, "हे प्रभो! आप सब दिव्य अवस्थाओं से परे अप्राकृत आनन्द से परिपूर्ण हैं। अतएव दूर से आपको देख लेने मात्र से ही मैं इस निष्कर्ष पर पहुँच गया हूँ कि मेरे लिये निर्विशेष ब्रह्म के आनन्द में स्थित होने की कोई आवश्यकता नहीं है।"

जब एक महान् योगी को श्रीकृष्ण के पाञ्चजन्य शंख की ध्वनि ने

ध्यानसमाधि से जगा दिया तो वह अविभूत हो उठा, इतना अधिक कि वास्तव में अपने सिर को भूमि पर बजाने लगा। उसकी आँखें प्रेमभाव के अश्रुओं से भर आई और वह अपने योग-अभ्यास के सारे विधि-विधान का उल्लंघन कर बैठा। इस प्रकार उसने ब्रह्म-साक्षात्कार की पद्धति की एकदम उपेक्षा कर दी।

विल्वमंगलठाकुर अपने ग्रन्थ 'कृष्णकर्णामृत' में कहते हैं—'निर्विशेषवादी चाहें तो निर्विशेष ब्रह्म को भजते रहें। यद्यपि मैं पहले ब्रह्म-साक्षात्कार के पथ पर दीक्षित हुआ था। पर अब एक नटखट बालक द्वारा मार्गभ्रष्ट हो चुका हूँ, जो बहुत चंचल है और गोपियों में अत्यासक्त है। अब उसी ने मुझे अपना दास बना लिया है। ऐसे में मुझे ब्रह्मसाक्षात्कार के पथ का विस्मरण हो गया है।''

विल्वमंगल ठाकुर पहले परतत्त्व के ब्रह्मसाक्षात्कार में दीक्षित थे। परन्तु बाद में वृन्दावन में श्रीकृष्ण का संग करके वे कुशल भक्त बन गये। यही शुकदेव गोस्वामी के साथ हुआ। वे भी भगवान् की कृपा से निर्विशेष ब्रह्म के पथ को छोड़कर भक्तिमार्ग में आ गये। शुकदेव गोस्वामी और विल्वमंगल ठाकुर, ये दोनों ही परतत्त्व के निर्विशेष स्वरूप को छोड़ कर भक्तिमार्ग में आये थे। अतएव ये शान्तरस में स्थित भक्तों के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। कुछ अधिकारियों के अनुसार इस अवस्था को रसों के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। परन्तु श्रील रूपगोस्वामी कहते हैं कि चाहे कोई इसे रस न भी माने; परन्तु यह तो मानना ही होगा कि इससे भक्तियोग का प्रारम्भ होता है। परन्तु यदि कोई इसके आगे भगवान् की वास्तविक सेवा की ओर नहीं बढ़ता तो उसे रस के स्तर पर नहीं समझा जा सकता। इस सन्दर्भ में श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव को स्वयं यह उपदेश दिया है, "स्थिर अवस्था में मेरे निज रूप में निष्ठा होती है। उसका नाम शान्तरस है।'' इस अवस्था में स्थिति के विना कोई भी शुद्ध भक्तियोग नहीं कर सकता। भाव यह है कि कम से कम शान्तरस में स्थित हुए विना कोई भी भगवान् के निज रूप में निष्ठ नहीं हो सकता।

अध्याय ३६

प्रीतिभक्तिरस

श्रीधर स्वामी जैसे आचार्यों ने प्रीति को भक्तिरस का एक सिद्धरूप माना है। यह ठीक शान्तरस के ऊपर है और दास्यरस के विकास के लिये अनिवार्य है। 'नामकौमुदी' नामक शास्त्र में इस अवस्था को श्रीकृष्ण के लिये रति स्थायिभाव माना है। शुकदेव आदि आचार्य प्रीति की अवस्था को शान्तरस में मानते हैं। चाहे जो हो, इस प्रीति का भक्तजन नाना स्वादों में आस्वादन करते हैं। इसलिये इसका सामान्य नाम प्रीति है अर्थात् श्रीकृष्ण के लिये शुद्ध रति।

दास्यभाव वाले भक्त श्रीकृष्ण में सम्भ्रम प्रीति रखते हैं। गोकुल (इस लोक में वृन्दावन) के कुछ निवासी श्रीकृष्ण में इसी प्रकार का स्नेह रखते हैं। वृन्दावनवासी कहते हैं, "श्रीकृष्ण निरन्तर हमारे सामने घनश्यामाकृति में अभिव्यक्त रहते है। उन्होंने अपने करारविन्द में अद्भुत वंशी धारण कर रखी है। पीताम्बर में सुशोभित हैं। सिर पर मोरमुकुट धारी हैं। जब श्रीकृष्ण इस सब निज रूप में गोवर्धन के निकट चलते है तो स्वर्ग और पृथ्वी के सारे निवासियों को दिव्य आह्लाद का अनुभव होता है और वे सब अपने को उनका शाश्वत् दास समझते हैं।" विष्णु श्रीकृष्ण के समान ही वस्त्र धारण किये रहते हैं और उनका वर्ण भी वही है। इसलिये कभी-कभी भक्त उनके चित्र को देखकर भी उसी सम्भ्रक और गौरव भाव से भर जाते हैं। दोनों में भेद केवल इतना है कि विष्णु चतुर्भुज हैं, जिनमें वे शंख, चक्र, गदा, और पद्म, धारण किये रहते हैं। इसके अतिरिक्त वे चन्द्रकान्त और सूर्यकान्त आदि अनेक अमूल्य रत्नों से सुशोभित हैं।

श्रीरूप गोस्वामी के 'ललितमाधव' में श्रीकृष्ण के दास का यह वाक्य है—"निःसन्देह कौस्तुभ मणि से युक्त होने के कारण भगवान् विष्णु बड़े सुन्दर हैं। अपने चारों हाथों में उन्होंने शंख, चक्र, गदा और पद्म

धारण किये हुए हैं और उनकी रत्नराशि देदीप्यमान है। गरुड़ पर विराजमान अपनी शाश्वत् अवस्था में वे बड़े ही भव्य लगते हैं। परन्तु अब वही भगवान् विष्णु इस समय कंस के शत्रु हैं और उनके इस निज रूप ने मुझे वैकुण्ठ के सारे ऐश्वर्यों को भुला दिया है।"

एक दूसरे भक्त ने कहा है—"हे भगवन्! जिनके रोमकूपों से निरन्तर करोड़ों ब्रह्माण्डों का नित्य उदय होता रहता है, जो कृपा के सागर हैं, अचिन्त्य शक्तिशाली हैं, सर्वसिद्धिमय सब अवतारों के बीज वही श्रीभगवान् परम ईश्वर, परम आराध्य, परम सर्वज्ञ, दृढ़ व्रत वाले, सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से पूर्ण, क्षमा के सागर तथा शरणागत जीवों के रक्षक हैं। वे उदार, सत्यप्रतिज्ञ, दक्ष, मंगलमय, बलशाली, शास्त्रों के अनुगामी, भक्तों के मित्र, वदान्य, तेजोमय, युक्त, कृतज्ञ, कीर्ति के आश्रय, मान्य, धर्मात्मा, सम्पूर्ण बल के निधान तथा प्रेम के वश में होने वाले हैं। अपनी ओर दास्यभाव से आकृष्ट भक्तों के एकमात्र वही आश्रय हैं।"

भगवान् के दास चार प्रकार के होते हैं—अधिकृत (जैसे ब्रह्मा, शिव आदि, जो रजोगुण और तमोगुण पर नियंत्रण के लिये नियुक्त किये गये हैं), आश्रित भक्त, नित्यपार्षद तथा वे भक्त जो निरन्तर केवल भगवान् ही के अनुगामी हैं।

अधिकृत सेवक

श्रीकृष्ण की अर्धांगिनी जाम्बवती और कालिन्दी के बीच परस्पर वार्ता हो रही थी। जाम्बवती ने पूछा, "यह कौन हमारे श्रीकृष्ण की प्रदक्षिणा कर रही है?"

कालिन्दी ने उत्तर दिया, "यह अम्बिका है। अम्बिका अर्थात् पार्वती, जिसके हाथ में सारे ब्रह्माण्ड की व्यवस्था है।"

फिर जाम्बवती ने पूछा, "यह कौन है जो श्रीकृष्ण को देखकर काँप रहा है?"
कालिन्दी ने उत्तर दिया, "ये भगवान् शिव हैं।"
फिर जाम्बवती बोली, "यह कौन प्रार्थना कर रहा है?"
कालिन्दी ने उत्तर दिया, "ये ब्रह्मा हैं।"
जाम्बवती बोली, "फिर कौन है जो भूमि पर गिर कर श्रीकृष्ण को दण्डवत् करता है?"
कालिन्दी ने उत्तर दिया, "देवराज इन्द्र।"

जाम्बवती ने आगे पूछा, "यह कौन है जो देवताओं के साथ आया है और उनके साथ हँस रहा है ?"

कालिन्दी बोली, "ये मेरे अग्रज यमराज हैं, जो मृत्यु के अधिष्ठाता हैं।"

इस वार्ता से पता चलता है कि यमराज सहित सारे देवता भगवान् की सेवा में नियुक्त हैं। इन्हें अधिकृत देवता कहा जाता है।

आश्रित भक्त

एक वृन्दावनवासी ने श्रीकृष्ण से कहा, "हे कृष्ण ! हे वृन्दावन के आनन्द ! इस संसार से डर कर हमने आपकी शरण ली है क्योंकि आप हमारी रक्षा करने में पूर्ण समर्थ हैं। हमें आपकी महिमा भलीभाँति ज्ञात है; इसलिये हमने मुक्ति की इच्छा को छोड़कर आपके चरणकमलों का पूर्ण आश्रय ग्रहण कर लिया है। आपके नित्य वर्धनशील प्रेम की कथा को सुनकर हम स्वेच्छा से आपकी दिव्य सेवा में संलग्न हो गये हैं।" यह भगवान् श्रीकृष्ण के एक आश्रित भक्त का वाक्य है।

जब यमुना में निवास कर रहे कालिय नाग के सिर पर निरन्तर श्रीकृष्ण के चरणों का आघात हुआ तो उसे बोध हो आया और उसने स्वीकार किया, "हे नाथ ! मैंने आपका कितना अपराध किया, परन्तु फिर भी हे दयामय ! आपने कृपापूर्वक अपने चरणचिह्न को मेरे मस्तक पर अंकित कर दिया है।" यह भी श्रीकृष्ण के चरणारविन्द के आश्रित का ही उद्‌गार है।

'अपराधभंजन' में एक शुद्धभक्त कहता है, "हे नाथ ! मुझे यह कहते हुए लज्जा का अनुभव होता है कि आज तक मैंने काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मात्सर्य रूपी स्वामियों का आज्ञापालन किया है। कभी-कभी तो ऐसा करने में मुझे बिल्कुल निकृष्ट आचरण तक करना पड़ा है। मैंने उनकी सेवा बड़े ही निश्छलभाव सेकी है। निरन्तर उनका आज्ञापालन किया है। परन्तु फिर भी वे तृप्त नहीं हुए और न ही मुझे अपनी सेवा से मुक्त करते। इस प्रकार मुझसे सेवा कराने में उन्हें लज्जा भी नहीं आती। परन्तु हे यदुनाथ ! अब मुझे समझ आ गई है और इसलिये अब मैं उनको छोड़कर अभय प्रदान करने वाले आपकी शरण में आया हूँ। इसलिये मुझे अपनी सेवा में नियुक्त कीजिये।" यह शरणागत होकर श्रीकृष्ण के चरणकमलों का आश्रय ग्रहण करने का उदाहरण है।

वैदिक शास्त्रों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब शुष्क ज्ञान के द्वारा

मुक्ति के लिये प्रयत्नशील व्यक्ति इस पद्धति को छोड़कर पूर्ण रूप में श्रीकृष्ण के चरणकमलों के आश्रित हो गये हैं। नैमिपारण्य के शौनक आदि ऋषि इसके अच्छे उदाहरण हैं। विद्वान् उन्हें पूर्ण ज्ञानी भक्त मानते हैं। 'हरिभक्तिसुधोदय' में एक वाक्य है जिसमें ये सब महान् ब्राह्मण शौनक ऋषि की अध्यक्षता में सूत गोस्वामी से कहते हैं—"हे महात्मन्! देखिये यह कैसा आश्चर्यजनक है। यद्यपि हम संसार के कितने ही दोषों से दूषित थे; परन्तु आपसे केवल भगवान् की वार्ता करने से शनैःशनैः मुक्ति तक की इच्छा से छूटते जा रहे हैं।"

'पद्यावली' में एक भक्त कहता है, "जो स्वरूप-साक्षात्कार के लिये शुष्क ज्ञान में आसक्त हैं, जिनका निश्चय है कि परम सत्य ध्यान से परे है और इस प्रकार जो सत्त्वगुण में सिद्ध हो गये हैं, वे शान्ति से अपना कार्य करते रहें। जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, हम तो केवल श्रीभगवान् में आसक्त हैं, जो स्वभाव से ही परम मधुर हैं। जिनका घनश्याम मेघ वर्ण है और जो पीताम्बरधारी हैं एवं जिनके नेत्र उत्फुल्ल कमलदल के समान हैं, हमें केवल उनके ध्यान की ही अभिलाषा है।"

जो स्वरूप-साक्षात्कार के प्रारम्भ से ही भक्तियोग में आसक्त हैं वे सेवानिष्ठ कहलाते हैं। सेवानिष्ठता का अर्थ है केवल भक्तियोग में आसक्ति। इसके उत्तम उदाहरण—शिव, इन्द्र, बहुलाश्व, राजा इक्ष्वाकु, श्रुतदेव, पुण्डरीक आदि भक्त हैं। एक भक्त ने कहा है, "हे भगवान्! आपके दिव्य गुण जीवनमुक्त पुरुषों को भी आकृष्ट करके भक्तों की गोष्ठ में ले जाते हैं, जहाँ निरन्तर आपकी कीर्ति का गान हुआ करता है। यहाँ तक किएकान्तवासप्रिय महर्षिजन भी आपकी कीर्ति के गान से वशीभूत हो जाते हैं। आपकी इस सम्पूर्ण दिव्य गुणावली से आकृष्ट होकर मैंने भी निश्चय किया है कि अपना सम्पूर्ण जीवन आपकी प्रेममयी सेवा में लगा दूँगा।"

नित्यपार्षद

द्वारका नगरी में निम्नलिखित भक्त श्रीकृष्ण के अन्तरंग पार्षद हैं—उद्धव, दारुक, सात्यकी, श्रुतदेव, शत्रुजीत, उपनन्द तथा भद्र। ये सब भगवान् के सचिवों के समान उनके साथ रहते हैं। परन्तु कभी-कभी उनका निजी सेवाकार्य भी करते हैं। कुरुवंश में भीष्म महाराज, परीक्षित तथा विदुर भी भगवान् श्रीकृष्ण के अंतरंग पार्षद माने जाते हैं। कहा है, "श्रीकृष्ण के सारे पार्षदों के शरीर दिव्य कान्ति से युक्त हैं तथा

नेत्र कमलदल के समान प्रफुल्ल हैं। वे देवताओं की शक्ति को भी निरस्त कर सकते हैं। विशेष रूप से अमूल्य रत्नों से विभूषित रहते हैं।"

जब श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थ में थे तो किसी ने उन्हें इस प्रकार सम्बोधित किया—"हे नाथ ! उद्धव आदि आपके निजपार्षद द्वारका के द्वार पर खड़े निरन्तर आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा करते रहते हैं। उनके नेत्र प्रायः अश्रुधारा से पूर्ण रहते हैं। अपने सेवाभाव के उत्साह में वे शिवजी की प्रलयाग्नि से भी नहीं डरते। वे पूर्ण रूप से आपके चरणकमलों के शरणागत हैं देव !"

श्रीकृष्ण के बहुत-बहुत से अन्तरंग पार्षदों में से उद्धव को सर्वोत्तम माना जाता है। उनका विवरण इस प्रकार है—उनके शरीर का वर्ण ठीक कालिन्दी के रंग जैसा है और उसी के समान शीतल है। वे निरन्तर श्रीकृष्ण द्वारा पहनी माला को धारण किये रहते हैं। उनके वस्त्र भी श्रीकृष्ण के समान ही पीतवर्ण हैं। उनके भुजदण्ड अर्गला के समान लम्बे और स्थूल हैं तथा नेत्र ठीक कमलदल जैसे हैं। ऐसे भक्तों और पार्षदों में सर्वप्रधान उद्धवजी के चरणकमलों में हम सादर प्रणाम करते हैं।" उद्धव ने भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य गुणों का वर्णन इस प्रकार किया है—"भगवान् श्रीकृष्ण, जो हमारे स्वामी और आराध्य देव हैं, ब्रह्मा, शिव और सम्पूर्ण जगत् के नियन्ता हैं। वे अपने पितामह उग्रसेन से आदेश ग्रहण करते हैं। वे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के स्वामी हैं; परन्तु फिर भी उन्होंने सागर से थोड़ी भूमि माँगी। विद्या के सागर होते हुए भी वे मुझे तुच्छ से कभी-कभी परामर्श लेते हैं। वे इतने महान् और वदान्य हैं; फिर भी अपनी नाना क्रियाओं में साधारण मनुष्य के समान संलग्न हैं।"

भगवान् के अनुगामी (अनुग)

जो निरन्तर भगवान् की निज सेवा में लगे रहते हैं, उन्हें अनुग कहा जाता है। इसके उदाहरण सुचन्द्र, मण्डल, स्तम्ब, सुतम्ब आदि हैं। ये सब द्वारकानिवासी हैं और अन्य पार्षदों के समान ही वस्त्रालंकारों से सुशोभित हैं। अनुग भिन्न-भिन्न प्रकार की विशिष्ट सेवाओं में नियुक्त रहते हैं। मण्डन सदा श्रीकृष्ण के सिर पर छत्र धारण किये रहता है। सुचन्द्र चँवर डुलाता है, और सुतम्ब ताम्बूल अर्पण किया करता है। ये सभी महाभागवत हैं और निरन्तर भगवान् की प्रेममयी दिव्य सेवा में संलग्न रहते हैं।

जैसे द्वारका में अनुग हैं, वैसे ही वृन्दावन में भी अनेक अनुग हैं।

इनके नाम इस प्रकार हैं—रक्तक, पत्रक, पत्री, मधुकण्ठ, मधुव्रत, रसाल, सुविलास, प्रेमकन्द, मरन्दक, आनन्द, चन्द्रहास, पयोद, बकुल, रसद तथा शारद।

वृन्दावन के अनुगों के रूप का वर्णन इस प्रकार है—"हम नन्द-नन्दन के नित्य अनुगों की सादर वन्दना करते हैं। वे निरन्तर वृन्दावन में वास करते हैं और उनके शरीर रत्नों के हार और कंचन किंकिणियों से सुशोभित हैं। वे भ्रमर और स्वर्णिम चन्द्र की सी कान्ति से युक्त हैं और उनके परिधान अपने-अपने विशेष रंग रूप के अनुरूप हैं।" उनकी विशेष-विशेष सेवाओं को यशोदा मैय्या के इस वाक्य से समझा जा सकता है—'बकुल! श्रीकृष्ण के पीताम्बर का परिमार्जन करो। वारिद तुम उनके स्नान जल को अगुरु से सुगन्धित करो। रसाल को ताम्बूल तैयार करना है। तुम सब देख सकते हो कि श्रीकृष्ण आ रहे हैं। चारों ओर धूल छा गई है और दूर से गाय भी दृष्टिगोचर होती हैं।'''

सारे अनुगों में रक्तक को प्रधान माना जाता है। उसके रूप का वर्णन इस प्रकार है—"सुन्दर पीताम्बर को धारण किये हुए, अपने अंगों की श्यामल कान्ति से दुरुवादल की कान्ति को लज्जित करने वाले, राग-विद्या में निपुण कंठ से युक्त तथा गोकुल के युवराज कृष्ण की अच्छी प्रकार से सेवा करने वाले रक्तक नामक प्रधान अनुचर का मैं अनुगमन करता हूँ।" रक्तक का श्रीकृष्ण में कसा अनुराग था, इसका एक उदाहरण रसद से उसके वाक्य द्वारा समझा जा सकता है, "हे मित्र सुनो! मुझ पर ऐसी कृपा करो कि मैं निरन्तर गिरिवरधारी व्रजेन्द्रनन्दन कृष्ण की सेवा में संलग्न रह सकूँ।"

श्रीकृष्ण की निज सेवा के परायण भक्त निरन्तर बड़े सावधान रहते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि भगवान् का निजी सेवक बन जाना कोई साधारण बात नहीं है। श्रीकृष्ण की सेवा में लगी हुई चींटी को भी प्रणाम करने वाला शाश्वत् सुख को प्राप्त हो जाता है। फिर उसका क्या कहना है जो साक्षात् श्रीकृष्ण की सेवा के परायण हो। रक्तक ने एक बार अपने अन्तर में कहा था, "जिस प्रकार श्रीकृष्ण मेरे आराध्य और देव हैं उसी प्रकार उनकी ये सखी गोपांगनाएँ भी मेरे लिये सेव्य और आराध्य हैं। गोपियाँ ही क्यों, जो कोई भी मेरे प्रभु की सेवा में संलग्न हो वह भी मेरे लिये आराध्य होगा। मैं जानता हूँ कि मुझे सावधानीपूर्वक इस अभिमान से बचना चाहिये कि मैं भगवान् के सेवकों और दासों में से एक हूँ।" इस वाक्य से समझा जा सकता है कि शुद्धभक्त, जो वास्तव में भगवान् की

सेवा के परायण हैं, वे निरन्तर इस बात का ध्यान रखते हैं कि उन्हें कभी अपनी सेवा का अभिमान न हो जाए।

श्रीकृष्ण के सीधे सेवक के ऐसे मनोभाव को 'धूर्य' कहते हैं। श्रीकृष्ण के पार्षदों का कुशल विशलेषणात्मक अध्ययन करके श्रील रूप गोस्वामी ने उन्हें धूर्य, धीर और वीर—इन तीन श्रेणियों में माना है। रक्तक धूर्य श्रेणी में हैं—अर्थात् जो निरन्तर श्रीकृष्ण की परम प्रेयसी गोपियों की सेवाओं में अनुरक्त रहते हैं।

श्रीकृष्ण का एक धीर पार्षद सत्यभामा की धात्री का पुत्र है। सत्यभामा द्वारका में श्रीकृष्ण की पट्टमहिषियों में से एक हैं और जब श्रीकृष्ण से उनका विवाह हुआ तो उनकी धात्री के पुत्र को भी उनके साथ जाने दिया गया, क्योंकि वे बाल्यकाल से भाई-बहन के समान साथ-साथ रहे थे। अतएव यह सत्यभामा की धात्री का पुत्र श्रीकृष्ण के साथ उनके साले के समान रहता था और कभी-कभी इस सम्बन्ध से वह श्रीकृष्ण के साथ परिहास भी कर बैठता। उसने एक समय श्रीकृष्ण से कहा, "हे कृष्ण ! मैंने कभी तुम्हारी अर्धांगिनी श्रीदेवी की कृपा-प्राप्ति का प्रयत्न नहीं किया है। परन्तु फिर भी में इतना भाग्यवान् हूँ कि मुझे तुम्हारे कुल का सदस्य अर्थात् सत्यभामा का भाई माना जाता है।"

वीरपार्षद

एक वीर पार्षद ने अपने अभिमान को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—"भगवान् बलराम प्रलम्बासुर के महान् बलशाली शत्रु हों तो हों; परन्तु मुझे उनसे कोई भय नहीं। जहाँ तक प्रद्युम्न का सम्बन्ध है, मुझे उससे कुछ लेना-देना नहीं है, क्योंकि वह तो एक नन्हा सा बालक है। अतएव मुझे किसी से कोई आशा नही है। मुझे तो केवल श्रीकृष्ण का कृपाकटाक्ष चाहिये। फिर तो मैं श्रीकृष्णप्रिया सत्यभामा को भी कुछ नहीं गिनता।"

श्रीमद्भागवत (४.२०.२८) में महाराज पृथु भगवान् का सम्बोधन करते हुए कहते हैं—"हे नाथ ! मुझे लक्ष्मीदेवी के कोप की चिन्ता नहीं है। यदि वे मुझसे रुष्ट भी हो जायें तो कोई भय नहीं, कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि मुझे आप पर पूर्ण विश्वास है। आप बड़े ही दीनवत्सल हैं और अपने भक्तों की, अपने सेवकों की तुच्छ सेवा को भी बहुत मान लेते हैं। अतएव मुझे विश्वास है कि आप मेरी तुच्छ सेवा को भी स्वीकार करेंगे। हे नाथ ! आप आप्तकाम हैं। आप किसी की भी सहायता के बिना जो

चाहें कर सकते हैं। चाहे लक्ष्मी देवी मुझसे सन्तुष्ट न हों, मैं जानता हूँ कि आप सदा मेरी सेवा को स्वीकार करते रहेंगे।"

भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा में अनुरक्त भक्त तीन प्रकार के हो सकते हैं—शरणागत, भक्ति के ज्ञान में उन्नत, एवं पूर्ण रूप से सेवा-परायण। ऐसे भक्त क्रमशः साधक, सिद्ध और नित्यसिद्ध कहलाते हैं।

अध्याय ३७

श्रीकृष्णसेवा के उद्दीपन

श्रीकृष्ण की अहैतुकी कृपा की प्राप्ति, उनके चरणकमल की रज की प्राप्ति, उनका प्रसाद, तथा उनके भक्तों का संग—ये वे कुछ उद्दीपन हैं जिनसे भक्त भगवान् की प्रेममयी सेवा में संलग्न होता है।

भीष्म पितामह के देहत्याग के अवसर पर उपस्थित होकर श्रीकृष्ण ने अपनी अहैतुकी कृपा का परिचय दिया था। कुरुक्षेत्र के युद्ध में पौत्र अर्जुन से हारकर भीष्मदेव शरशय्या पर विराज रहे थे। प्राकृत-जगत् से उनके प्रस्थान का समय निकट था। जब भगवान् श्रीकृष्ण, महाराज युधिष्ठिर तथा अन्य पाण्डव भीष्मदेव के निकट पहुँचे तो वे भगवान् श्रीकृष्ण से बड़े अनुगृहीत हुए और कृपाचार्य से कह उठे, "हे कृपाचार्य जी ! भगवान् श्रीकृष्ण की अद्‌भुत अहैतुकी कृपा का अवलोकन कीजिये। मैं परम अभागा हूँ, मुझमें कोई योग्यता नहीं। युद्ध में मैं श्रीकृष्ण के परम अंतरंग सखा अर्जुन का विरोध कर रहा था, यहाँ तक कि मैंने उसे मारने की भी पूरी चेष्टा की। मुझमें इतने अवगुण हैं, परन्तु भगवान् फिर भी इतने दयामय हैं कि वे जीवन के इस अन्तिम क्षण में मुझे मिलने आये हैं। वे सम्पूर्ण महर्षिवृन्द के आराध्य हैं। परन्तु फिर भी करुणावश मुझ जैसे अधम को दर्शन देने पधारे हैं।"

कभी-कभी श्रीकृष्ण की वंशी और शृंग की ध्वनि, उनकी हँसी, भूमि पर उनके चरणचिह्नों के अंक, उनकी दिव्य सौरभ और उनके वर्ण के समान आकाश में नवोदित मेघ—ये सब भी कृष्णप्रेम के उद्दीपन का काम करते हैं।

'विदग्धमाधव' में उल्लेख है—श्रीकृष्ण को वेणु बजाते देखकर बलदेव ने बड़ी आतुरता से कहा, "देखो देखो, श्रीकृष्ण के दिव्य वेणुरव को सुनकर देवराज इन्द्र अपने स्वर्ग में रोने लगा। भूमि पर उसकी अश्रुधारा के गिरने से वृन्दावन देवताओं का दिव्य निवास लग रहा है।"

कृष्णप्रेम में होने वाले अनुभाव इस प्रकार हैं—पूर्ण रूप से भगवान् की सेवा के परायण हो जाना; निष्ठा और श्रद्धापूर्वक उनकी आज्ञापालन में लगे रहना, पूर्ण रूप से प्रेममयी भगवत्सेवा में तत्पर होकर उद्वेग और ईर्ष्या से मुक्त हो जाना तथा श्रद्धा प्रेमसहित भगवान् की सेवा करने वाले भक्तों से मैत्री करना। ये सब लक्षण प्रेम के अनुभाव हैं।

प्रेम के पहले लक्षण अर्थात् किसी विशेष सेवा में तत्पर रहने का प्रतीक दारुक है। यह श्रीकृष्ण का सेवक है और निरन्तर उन्हें चँवर डुलाया करता है। इस प्रकार सेवा करते-करते वह प्रेमभाव से ओत-प्रोत हो गया और प्रेम के लक्षण उसके शरीर पर प्रकट हो गये। परन्तु दारुक की अपनी सेवा में ऐसी निष्ठा थी कि उसने प्रेम की सब अभिव्यक्तियों को रोक लिया क्योंकि उसके विचार में इनसे उसके सेवा कार्य में बाधा पड़ रही थी। ये सब लक्षण अपने आप उदित हुए थे; परन्तु उसने इन्हें कुछ भी महत्त्व नहीं दिया।

श्रीमद्भागवत (१०.८६.३८) में उल्लेख है कि श्रीकृष्ण को अपने घर आया देख श्रुतदेव ब्राह्मण इतना आनन्दविह्वल हो उठा कि श्रीकृष्ण के चरणकमलों में प्रणाम करके हाथ उठा-उठाकर नाचने लगा।

भगवान् श्रीकृष्ण का एक भक्त उन्हें सम्बोधित करते हुए कहने लगा, "हे नाथ! यद्यपि आप वृत्तिक नाचने वाले नहीं हैं; परन्तु आपके नृत्य ने हमें इतना आश्चर्यचकित कर दिया है कि लगता है कि आप स्वयं अखिल नृत्यकला के गुरु हैं। निःसन्देह आप ने साक्षात् प्रेम की देवी से नाचना सीखा होगा।" जब कोई भक्त प्रेमभाव में भरकर नाचता है तो सात्त्विक भावों का उदय होता है। इन भावों को सात्त्विक कहने का तात्पर्य यह है कि वे शुद्ध सत्त्व के स्तर पर प्रकट होते हैं। ये प्राकृत भावना के लक्षण नहीं हैं, ये तो साक्षात् आत्मा की अभिव्यक्ति हैं।

श्रीमद्भागवत (१०.८५.३८) में शुकदेव गोस्वामी परीक्षित महाराज से कहते हैं कि वामनदेव के चरणकमलों में अपना सर्वस्व अर्पण करके बलि महाराज ने तुरन्त उनके चरणों को पकड़ लिया और पकड़ कर अपने हृदय से लगा लिया। आनन्द विह्वल होने के कारण उनमें प्रेम के सारे दिव्य लक्षणों का उदय हुआ। उनकी वाणी कम्पित हो उठी और नेत्रों से अश्रुधारा बह चली।

प्रेमभाव की ऐसी अभिव्यक्तियों में अनेक गौण लक्षण भी होते हैं—जैसे हर्ष, गर्व, धृति, निर्वेद, विषन्नता, दैन्य, चिन्ता, स्मृति, शंका, मति, उत्सुकता, चपलता, वितर्क, आवेग, लज्जा, जाड्य, मोह, उन्माद,

अवहित्था, बोध, स्वप्न, क्लम, व्याधि, मृत्यु इत्यादि । श्रीकृष्ण से संयोग होने पर भक्त में हर्ष, गर्व, धृति, आदि लक्षण होते हैं और जब उसे श्रीकृष्ण से अति विरह का अनुभव होता है तो मोह, व्याधि, मृत्यु आदि लक्षण प्रधान रहते हैं ।

श्रीमद्भागवत (१.११.५) में उल्लेख है कि जब भगवान् श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र के युद्ध से अपने घर द्वारका लौटे तो सारे द्वारकावासी उनसे उसी प्रकार वार्तालाप करने लगे जैसे कोई बालक विदेशों को गये पिता से घर लौटने पर प्रेमपूर्वक बात करता है । यह हर्ष का उदाहरण है ।

जब मिथिला नरेश बहुलाश्व ने श्रीकृष्ण को अपने महल में देखा तो उसने संकल्प किया कि वह कम से कम सौ बार उन्हें दण्डवत् प्रणाम करेगा । परन्तु वह प्रेम के भाव में ऐसा विभोर हुआ कि केवल एक बार प्रणाम कर के अपनी स्थिति को भूल गया और फिर वापस नहीं उठ सका ।

स्कन्दपुराण में एक भक्त भगवान् श्रीकृष्ण से कहता है, "हे स्वामिन् ! जैसे सूर्य अपने प्रबल तेज से भूमि के सारे जल को सुखा डालता है उसी प्रकार मेरी मनोव्यथा ने मेरे मुख और शरीर के सारे तेज को सुखा डाला है । इसका कारण केवल आपका विरह है । "यह प्रेम में क्लम का उदाहरण है ।

निर्वेद की अभिव्यक्ति देवराज इन्द्र के कथन में है । उसने सूर्यदेव को देखा तो कहने लगा, "हे सूर्य ! तुम्हारी ज्योति धन्य है क्योंकि यह श्रीकृष्ण के चरणकमलों तक पहुँच रही है, जो यदुवंश के नायक हैं । मेरे हजार नेत्र भी निरर्थक ही सिद्ध हुए हैं,क्योंकि एक क्षण के लिये भी ये भगवान् के चरणारविन्द को नहीं देख पाये ।"

सम्भ्रम प्रीति उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होकर प्रेम में परिवर्तित हो जाती है । उससे आगे स्नेह और आगे बढ़कर राग का रूप धारण कर लेती है । श्रीमद्भागवत (१०.३८.६) में अक्रूर कहते हैं—"आज मेरे सब पापों का नाश हो गया है और जीवन धन्य-धन्य हो चुका है क्योंकि आज मैं योगियों के लिये ध्यान में भी दुर्लभ भगवान् के चरणकमलों को प्रणाम करूँगा ।"

एक अन्य भक्त अपने सम्भ्रम प्रीतिभाव में कहने लगा, "मेरे जीवन में वह धन्यातिधन्य दिन कब होगा जब मैं यमुना तट पर भगवान् श्रीकृष्ण को गोपाल वेष में खेलते देख सकूँगा ।"

जब इस प्रीति में ह्रास की शंका नहीं रहती उस समय भक्त प्रेम

की अवस्था को प्राप्त हो जाता है। इस अवस्था में भक्त द्वारा अभिव्यक्त भावों को अनुभाव कहते हैं।

बलि महाराज को जिस सम्भ्रम प्रीति का अनुभव हुआ था उसका वर्णन इस प्रकार है—"हे नाथ ! आपने एक साथ मुझे दण्डित भी किया है और मुझ पर अपनी अहैतुकी कृपा भी बरसाई है। अतएव यह निश्चित है कि यदि मैं आपके चरणकमलों के शरणागत हो जाऊँ तो फिर जीवन की किसी भी अवस्था में मुझे उद्वेग नहीं होगा। चाहे आप मुझे सारी यौगिक सिद्धियों को भोगने का अवसर दें अथवा नरक का भाग दें, मैं कभी उद्वेग में नहीं होऊँगा।"

श्रीकृष्ण ने स्वयं बलि महाराज को देखने के बाद उद्धव से कहा, "हे सखे ! मैं बलि महाराज के गौरवमय चरित्र का वर्णन किस प्रकार करूँ ? यद्यपि भृगुनन्दन ने इसे शाप दिया और वामन अवतार में मैंने इससे छलपूर्वक ब्रह्माण्ड का साम्राज्य हरण कर लिया और अभी भी मैं प्रतिज्ञा को पूर्ण न करने के कारण इसकी निन्दा करता हूँ; फिर भी मैंने उसे देखा है और वह मेरे लिये प्रेम से पूर्ण है। मेरे लिए उसका प्रेम अब भी अभिव्यक्त हो रहा है।"

प्रेम का यह भाव जब तीव्र हो उठता है तो उसे स्नेह कहते हैं। स्नेह की अवस्था में श्रीकृष्ण से क्षणभर का विरह भी नहीं सहा जा सकता।

एक भक्त श्रीकृष्ण के सेवक दारुक से कहता है, "हे दारुक ! इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि श्रीकृष्ण के विरह में तुम काष्ठवत् हो जाते हो। जब भी कोई भक्त श्रीकृष्ण को देखता है तो उसके नेत्र अश्रुधारा से भर जाते हैं; उनके विरह में तुम्हारे जैसा कोई भी भक्त कठपुतली के समान स्तम्भित खड़ा रह जाता है। इसमें कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं है।"

उद्धव के प्रेम-लक्षणों के सम्बन्ध में भी एक वाक्य है—"जब उन्होंने श्रीकृष्ण को देखा तो उसके नेत्र आँसुओं से भर आये, जिनके बहने से एक नदी बह चली, मानो कृष्णरूप समुद्र को समर्पण करने जा रही हो—उसी प्रकार जैसे पत्नी पति का अभिनन्दन करती है। रोमांच की अतिशयता के कारण उद्धव कदम्ब के पुष्प जैसे सुशोभित हो रहे थे। जब वे प्रार्थना करने लगे तो भक्तों के समूह में भी उनकी शोभा सबसे अधिक बढ़ गई।"

स्नेह को जिस अवस्था में दुःख भी सुख प्रतीत होने लगता है उसको

राग कहते हैं। राग में सब प्रकार के दुःखों का शान्तिपूर्वक सामना करने की योग्यता आ जाती है। मृत्यु का भय उपस्थित होने पर भी ऐसा भक्त भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा से अपने को वंचित नहीं करता। प्रेम का गौरवमय उदाहरण राजा परीक्षित ने उपस्थित किया है। उनकी मृत्यु आसन्न थी और वे सम्पूर्ण विश्व में फैले अपने राज्य से वंचित हो चुके थे। जीवन के शेष सात दिनों में उन्होंने जल की एक बूँद भी ग्रहण नहीं की थी। फिर भी शुकदेव गोस्वामी से भगवान् की दिव्य लीलाकथा को सुनते हुए उन्हें लेशमात्र भी दुःख न था। इसके विपरीत, वे शुकदेव गोस्वामी के संग में प्रत्यक्ष दिव्य आनन्द का अनुभव कर रहे थे।

एक भक्त का विश्वास इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है—"यदि मुझे श्रीकृष्ण की कृपा का एक विन्दु भी मिल जाये तो फिर मैं अग्नि अथवा सागर से घिरा होने पर भी सब प्रकार से चिन्तामुक्त रहूँगा। परन्तु यदि मैं उनकी अहैतुकी कृपा से वंचित रहूँ तो फिर द्वारका का राजा वन जाने पर राज्य का सिंहासन भी मेरे लिये कुशकंटक के समान होगा।"

महाराज परीक्षित और उद्धव जैसे सब भक्त स्नेह के आधार पर राग में स्थित हैं। इस प्रकार के स्नेह में सख्यभाव का लेश प्रकाशित होता है। सब प्रकार के सांसारिक द्वेषों से मुक्त होने पर जब उद्धव को भगवान् का दर्शन हुआ तो उनका कण्ठ रुद्ध हो गया और वे कुछ न बोल सके। केवल अपने भ्रू-विलास से ही भगवान् का आलिंगन कर रहे थे। महान् विद्वानों ने ऐसी प्रीति को दो भागों में विभाजित किया है—अयोग तथा योग। यदि भक्त को साक्षात् श्रीकृष्ण का संग प्राप्त नहीं है तो उसे विद्वानों ने अयोग कहा है। इस प्रकार उनके प्रेम में चित्त निरन्तर उनके चरणकमलों में एकाग्रित रहता है। ऐसा भक्त निरन्तर श्रीकृष्ण के दिव्य गुणगणों का अनुसन्धान किया करता है। उसके लिए सबसे महत्त्वपूर्ण भगवान् का संग प्राप्त करना है।

'नृसिंहपुराण' में राजा इक्ष्वाकु के सम्बन्ध में एक वाक्य है—जिससे इस प्रेमभाव का उदाहरण मिलता है--'श्रीकृष्ण के प्रति अत्यन्त स्नेह के वश राजा इक्ष्वाकु काले मेघ, काले मृग की काली आँखों और कमल जिसको सदा भगवान् की आंखों की उपमा दी जाती है, इन सब पदार्थों में आसक्त हो गये।" श्रीमद्भागवत (१०.३८.१०) में अक्रूर सोचते हैं, "इस समय श्रीभगवान् साक्षात् इस धरती पर भार हरण के लिये विद्यमान हैं, और सबको अपने निज रूप में दृष्टिगोचर हो रहे हैं। ऐसे में जब हम उन्हें अपने सामने पाते हैं तो क्या यह हमारे नेत्रों की परम कृतार्थता नहीं

है ?" भाव यह है कि अक्रूर को अनुभव हुआ कि नेत्रों की कृतार्थता श्रीकृष्ण के दर्शनों में ही है। अतएव जिस समय श्रीकृष्ण पृथ्वी पर साक्षात् दृश्यमान थे तो जिस किसी ने उन्हें देखा उसने नेत्रों की पूर्णता को प्राप्त कर लिया।

बिल्वमंगल ठाकुर के 'कृष्णकर्णामृत' में प्रेम में उत्सुकता का यह उदाहरण—"कैसा दुर्भाग्य है ! हे हरे ! हे दीनबन्धु ! हे प्रिय कृष्ण ! तुम्हें देखे बिना इन अधन्य दिनों को मैं कैसे व्यतीत करूँ ? हाय कैसे व्यतीत करूँ ?" इसी प्रकार की भावना उद्धव ने श्रीकृष्ण को लिखे अपने एक पत्र में व्यक्त की है, "हे व्रजराज ! आप नेत्रों के लिये अमृतसिन्धु हैं। आपके चरणकमलों और अंगकांति को देखे बिना मुझे किसी भी प्रकार, किसी भी अवस्था में शान्ति नहीं मिलती। चित्त निरन्तर दुःख-सागर में मग्न रहता है। आपके विरह का एक-एक क्षण मेरे लिये युगों के समान हो गया है।"

'कृष्णकर्णामृत' में ही कहा है—"हे नाथ ! आप कृपा के सागर हैं। अत्यन्त दीनता के साथ बद्धाञ्जलि होकर मैं आपसे निवेदन कर रहा हूँ। क्या आप कृपया अपने कृपाकटाक्ष रूपी शीतल जल से मेरा सिंचन करेंगे ? इससे मुझे बड़ा सन्तोष होगा।"

श्रीकृष्ण के एक भक्त ने कहा, "जब शशिशेखर शिव तक आपको नहीं देख सकते, फिर मुझ कीट से अधम के लिये क्या कहना। हे नाथ मैंने केवल पाप ही पाप किये हैं। मैं जानता हूँ कि मैं आपसे प्रार्थना करने के योग्य नहीं। परन्तु आपका एक नाम दीनबन्धु है। इसलिये आपसे प्रार्थना है कि कृपया अपने दिव्य कृपाकटाक्ष की किरण से अभिषिक्त करके मुझे शुद्ध कर दें। मेरी रक्षा तभी हो सकती है जब मैं पूर्ण रूप से आपके कृपाकटाक्ष में स्नान कर लूँ। अतएव हे नाथ ! कृपा करें।"

अध्याय ३८

निर्वेद तथा वियोग

महाभागवत उद्धव ने एक बार श्रीकृष्ण को यह पत्र लिखा—"हे कृष्ण ! मैंने अभी-अभी नाना प्रकार के दर्शन-ग्रन्थो और, वैदिक श्रुतियों का अध्ययन समाप्त किया है, जो जीवन के लक्ष्य का वर्णन करते हैं। अपने इस अध्ययन से मुझे प्रसिद्धि भी मिली है; परन्तु फिर भी मेरे इस ज्ञान को धिक्कार है क्योंकि यद्यपि मैं वैदिक ज्ञान की ज्योति का आस्वादन कर रहा हूँ परन्तु आपके चरण नखांकुर से प्रस्फुटित द्युति का रसास्वादन नहीं कर पाया। अतएव मेरा यह अभिमान और वैदिक ज्ञान जितनी शीघ्र समाप्त हो जाये, अच्छा है।" यह निर्वेद का उदाहरण है।

एक अन्य भक्त ने बड़ी आतुरता से अपने भाव को इन शब्दों में व्यक्त क्या है—"हे नाथ ! मेरा मन बड़ा अस्थिर है। इसलिये इसे मैं आपके चरणकमलों में एकाग्र करने में सफल नहीं हो पा रहा हूँ। अपनी इस अयोग्यता के कारण मुझे लज्जा आती है और सारी रात अपनी इस अयोग्यता पर शोक करते हुए मैं सो नहीं पाता।" यह चिन्ता है।

'कृष्णकर्णामृत' में विल्वमंगल ठाकुर ने अपनी चपलता इस प्रकार व्यक्त की है—"हे नाथ ! तुम्हारी शैशवकालीन चपलता त्रिभुवन में सबसे अद्‌भुत है। अब तुम स्वयं इसे जानते हो इसलिये मेरे मन की चंचलता को भी सहज समझ सकते हो। इसे केवल तुम जानते हो अथवा मैं। मैं तो बस यह जानने को उत्सुक हूँ कि किस प्रकार तुम्हारे चरणकमलों में मेरा मन एकाग्र हो सकता है।"

एक अन्य भक्त अपने को उद्धत बताकर कहता है, "हे नाथ ! अपनी शूद्रता पर विचार किये बिना मैं आपके सामने स्वीकार करता हूँ कि मेरे नेत्र श्याम भ्रमरों के समान आपके चरणकमलों पर मंडराना चाहते हैं।"

श्रीमद्‌भागवत (७.४.३७) में देवर्षि नारद महाराज युधिष्ठिर को महाभागवत् प्रह्लाद महाराज की गाथा सुना रहे थे। प्रह्लादजी की

स्वाभाविक भक्ति का प्रमाण इस बात से मिल जाता है कि जब वे नन्हें बालक थे तब भी उन्हें अपने सखाओं के साथ खेलना अच्छा नहीं लगता था। इसके स्थान पर वे सदा भगवान् की कीर्ति का प्रचार किया करते थे। अपने साथियों के खेलों में भाग लेने के स्थान पर वे जड़वत् समाधि में मग्न रहते, क्योंकि उनका ध्यान सदा श्रीकृष्ण पर था। अतएव बाह्य जगत् उन्हें स्पर्श भी न कर सका।

एक ब्राह्मण भक्त के सम्बन्ध में प्रसिद्ध उल्लेख है, "यह ब्राह्मण कर्मकाण्ड में बड़ा कुशल है पर न जाने क्यों यह अपलक नेत्र और निस्पंद देह को धारण किये हुए चित्रलिखित सा खड़ा है। लगता है उस विदग्ध वेणुवादन में रत कृष्ण की दिव्य माधुरी ने इसके मन को मोहित कर लिया है और उसके प्रति अनुरक्त होकर इसने अपनी दृष्टि को सामने घनश्याम मेघ पर लगा रखा है, जिससे इसे निरन्तर श्रीकृष्ण के विग्रह वर्ण का स्मरण हो रहा है।" यह प्रेमभाव में भक्त को होने वाली जड़ता का उदाहरण है।

श्रीमद्‌भागवत (७.४.४०) में प्रह्लाद महाराज कहते हैं कि अपने शैशव काल में भी जब वे भगवान् की कीर्ति का गायन करते तो निर्लज्ज पागल के समान नाच उठते। भगवान् की लीला के चिन्तन में पूर्ण रूप से निमग्न हो जाने के कारण कभी-कभी इन लीलाओं का अनुकरण भी करने लगते। यह भक्त के उन्माद का उदाहरण है। इसी प्रकार कहा जाता है कि देवर्षि नारद का श्रीकृष्ण में ऐसा भावोन्मत्त प्रेम था कि वे कभी-कभी नंगे नाचने लगते; कभी उनका पूर्ण शरीर स्तम्भित हो जाता; कभी वे जोर-जोर से हँसते और कभी उच्च स्वर से रुदन करने लगते; कभी वे एक दम चुप पड़ जाते और कभी व्याधिग्रस्त लगते, यद्यपि उन्हें कोई रोग नहीं था। यह भी भक्तिभाव में होने वाले उन्माद का उदाहरण है।

'हरिभक्तिसुधोदय' में उल्लेख है कि जब महाराज प्रह्लाद अपने को भगवान् के समीप जाने के अयोग्य समझ रहे थे तो वे दुःख के सागर में निमग्न हो गये और इस प्रकार आँसू बहाते हुए भूमि पर गिर पड़े और अचेतन हो गये।

एक महान् भक्त के शिष्यों ने एक बार आपस में इसप्रकार कहा—'हे भाइयों! हमारे गुरु महाराज श्रीकृष्ण के चरणकमलों को देखकर शोक की अग्नि में कूद पड़े हैं और इस अग्नि के कारण उनका चेतना रूपी जल बिल्कुल सूख गया है। अतः आओ उनके कर्णों में भगवन्नामामृत का प्रवेश करायें, जिससे उनके प्राणरूपी हंस फिर चेष्टा करने लगें।"

जब भगवान् श्रीकृष्ण शोणितपुर नगर में बलिपुत्र बाण से लड़ने गये और उन्होंने उसके हाथ काट डाले तो श्रीकृष्ण के विरह में उनके युद्ध का चिन्तन करते हुए उद्धव पूर्ण रूप से स्तम्भित होकर अचेतन हो गया।

जब कोई भक्त पूर्ण रूप से भगवत्प्रेम को प्राप्त हो जाता है तो भगवान् के विरह में उसमें ये भाव प्रकट हो सकते हैं—अंगों में संताप, कृशता, निद्रानाश, अनासक्ति, जड़ता, व्याधि, उन्माद, मूर्छा तथा मरण।

अंगों में संताप का उदाहरण इस प्रकार है—उद्धव ने एक समय नारद से कहा "हे महर्षि ! कमल हमें संताप दे तो कोई बात नहीं, क्योंकि वह सूर्य का मित्र है; बड़वानल सागर भी हमारे लिये कष्टदायक हो सकता है तथा दैत्य का मित्र इन्दीवर भी हमें नाना प्रकार से कष्ट दे तो हमें दुःख न होगा; परन्तु सबसे बड़ा दुःख तो इस बात का है कि ये सब हमें श्रीकृष्ण का स्मरण कराकर बहुत अधिक दुःख के सागर में पहुँचा देते हैं।" यह श्रीकृष्ण के विरह में होने वाले संताप का उदाहरण है।

श्रीकृष्ण के दर्शन के लिये द्वारका गये परन्तु द्वार पर ही रोके गये कुछ भक्त कहने लगे, 'हे कृष्ण ! हे पाण्डवों के बान्धव ! जैसे हँस जल में कमलों के बीच रहना चाहता है और जल से निकाल दिये जाने पर मर जाता है, उसी प्रकार हमारी एकमात्र इच्छा तुम्हारे साथ रहने की है। तुम्हारे वियोग में हमारे बाहु तक कृश और विवर्ण हो चले हैं।"

राजा बहुलाश्व अपने महल में बड़े सुखपूर्वक विराजमान थे। परन्तु श्रीकृष्ण के विरह में उनके लिये रात्रि बहुत लम्बी और दुःखात्मक हो गई।

राजा युधिष्ठिर ने एक बार कहा था, "हे कृष्ण ! हे पार्थसारथि ! अर्जुन के सारथि कृष्ण ही त्रिभुवन में मेरे एकमात्र बान्धव हैं, सम्बन्धी हैं। उनके चरणकमलों के विच्छेद में मेरा मन दिनरात उन्मत्त हो चला है। मैं नहीं जानता कि अपने को कहाँ टिकाऊँ अथवा मन की स्थिरता के लिये कहाँ जाऊँ।" यह आलम्बनशून्यता तथा अनासक्ति का भाव है।

श्रीकृष्ण के कुछ गोप-सखा कहने लगे, "हे कृष्ण ! हे मुरारि ! तनिक अपने निजी सेवक रक्तक का तो विचार करो। इसने एक मोरपंख क्या देख लिया कि आँखें बन्द कर ली हैं और अब घास चरती हुई गायों की ओर भी ध्यान नहीं दे रहा, वरन् उन्हें चारण करते हुए दूर छोड़

आया है। उनका नियंत्रण करने के लिये व्यष्टि का प्रयोग भी नहीं करता।" यह श्रीकृष्ण के विरह में होने वाली जड़ता का उदाहरण है।

श्रीकृष्ण को राजा युधिष्ठिर की राजधानी को गया जानकर उद्धव कृष्णविरह की अग्नि से ऐसा पीड़ित हुआ कि उसकी दग्ध देह से स्वेदधारा और आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। इस प्रकार वह पूर्णतः स्तम्भित हो गया, जड़ता को प्राप्त हो गया।

जब श्रीकृष्ण द्वारका छोड़कर स्यमंतक मणि को खोजने गये और लौटने में विलम्ब हो गया तो उनके विरह के अतिरेकवश उद्धव की देह में व्याधि के लक्षण प्रकट हो गये। वास्तव में श्रीकृष्णप्रेम की अतिशयता के कारण उद्धव द्वारका में पागल के रूप में प्रसिद्ध हो गया। सौभाग्यवश उस दिन उद्धव का पागलपन निश्चित रूप मे सार्थक हुआ। रैवतक पर्वत पर नवीन घनश्याम मेघ को देखकर विचलित बुद्धि, अधीर उद्धव पागलों की तरह प्रसन्न होकर उस मेघ की स्तुति और वन्दना करने लगा।

उद्धव ने श्रीकृष्ण को सूचित किया, "हे यदुनायक वृन्दावन में आपके अनुरागी सेवक आपके चिन्तन में डूबे रहने से रात को सो भी नहीं पाते। अतएव अब वे निश्चलांग होकर यमुनातट पर पड़े हैं। वे मृतप्राय हो रहे हैं और उनकी स्वास बहुत मन्द पड़ चुकी है।" यह श्रीकृष्ण के विरह में होने वाली मूर्छा का दृष्टान्त है।

श्रीकृष्ण को एक बार बताया गया, "हे कृष्ण! तुम सारे वृन्दावन वासियों के जीवनप्राण हो। अतएव तुम्हारे वृन्दावन छोड़ देने से वहाँ तुम्हारे चरणकमलों के सब सेवक पीड़ित हैं। तुम्हारे प्रचण्ड विरह के ताप से जिनके हृदयकमल सूख चुके हैं, इस प्रकार के तालाबों की पंक्ति में अब हंसरूप प्राण वास नहीं करना चाह रहे हैं।" इस उदाहरण में वृन्दावन-वासियों को तालाब की उपमा दी गयी है। कृष्णविरह रूपी प्रचण्ड तेजवश उनके हृदयकमल सूख चुके है; इसलिये अब प्राणरूपी हंस उनसे उड़ना चाहते हैं।" यह अलंकार श्रीकृष्ण के विरह में भक्तों की दशाको स्पष्ट करने के लिए दिया गया है।

अध्याय ३६

श्रीकृष्ण से योग के प्रकार

जब श्रीकृष्ण और उनके भक्त मिलते हैं तो उनके इस मिलन को योग कहा जाता है। श्रीकृष्ण और उनके भक्तों के योग तीन प्रकार के हैं—सिद्धि, तुष्टि तथा स्थिति। जब कोई भक्त बड़ी उत्सुकता के साथ श्रीकृष्ण से मिलता है तो उस मिलन को सिद्धि कहते हैं।

'कृष्णकर्णामृत' में बिल्वमंगल ठाकुर ने वर्णन किया है कि किस प्रकार मोर मुकुटधारी, वक्षःस्थल पर मरकतमणियों से सुशोभित तथा नित्य मोहक स्मित, कान्ति और चंचल नेत्र एवं कोमल शरीरांग श्रीकृष्ण अपने भक्त से मिलते हैं।

श्रीमद्भागवत (१०.३८.३४) में शुकदेव गोस्वामी राजा परीक्षित से कहते हैं, "हे राजन्! रथ पर सवार अक्रूर ने जैसे ही वृन्दावन में अग्रज बलराम सहित श्रीकृष्ण को देखा, वैसे ही वह रथ से नीचे उतर पड़ा और वैकुण्ठनाथ के अतिशय स्नेहवश उनके चरणों में साष्टांग दण्डवत् करने लगा। ये सिद्ध योग के कुछ उदाहरण हैं।

जब कोई भक्त लम्बे विरह के बाद श्रीकृष्ण से मिलता है तो उस मिलन को तुष्टि कहते हैं। श्रीमद्भागवत (१.११.१०) में उल्लेख है जब श्रीकृष्ण अपनी राजधानी द्वारका को लौटे तो वहाँ के निवासी कहने लगे, "हे नाथ! आप विदेश में इतने लम्बे समय तक रहेंगे तो हमें निस्सन्देह आपके मुस्कराते मुख मण्डल के दर्शन से वंचित रहना पड़ेगा। हे प्रभो! आपके मुख को देखकर हम आपके नित्य सेवकों को बड़ा सन्तोष होता है। सारी चिन्ताएँ और उद्वेग तुरन्त समाप्त हो जाते हैं। यदि द्वारका में आपकी अनुपस्थिति के कारण हम आपको न देख पाये तो और अधिक हमारे लिये जीवित रहना संभव न होगा।" यह दीर्घकालीन विच्छेद के बाद श्रीकृष्ण से योग होने से तुष्टि रूप का उदाहरण है।

श्रीकृष्ण का निजी सेवक दारुक द्वारका के द्वार पर श्रीकृष्ण को आया देख उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम करना तक भूल गया।

श्रीकृष्ण के साथ भक्त के सहवास को विद्वान् लोग भक्ति की सिद्धि कहते हैं। भक्तियोग की इस सिद्ध अवस्था का वर्णन 'हंसदूत' नामक ग्रन्थ में है। वहाँ वर्णन है कि किस प्रकार जिसके नाम से भी गोपियों को भय लगता था वह अक्रूर कृष्ण को कुरुवंश के कार्यकलापों के विषय में बताता था। बृहस्पति के शिष्य उद्धव को भी वह स्थिति प्राप्त थी। यह श्रीकृष्ण के सामने भूमि पर घुटने टेक कर उनके चरणकमलों को दबाया करता था।

जब कोई भक्त भगवान् की सेवा के परायण होता है तो उसे 'योग' को प्राप्त हुआ कहा जाता है। भाव यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण से योग का प्रारम्भ तभी से हो जाता है जब भक्त उनकी सेवा करने में प्रवृत्त होता है। दास्यभाव वाले भक्त जब भी उनसे मिलते हैं तो वे अपनी विशिष्ट सेवा का अर्पण करते हैं। वे श्रीकृष्ण के आगे आज्ञा की प्रतीक्षा में बैठ जाते हैं। कुछ व्यक्ति भक्ति की इस अवस्था को यथार्थ भक्तियोग मानने में संकोच करते हैं और कुछ पुराणों में भी भक्तियोग के इस दास्यभाव को यथार्थ भक्तियोग नहीं माना गया है। परन्तु श्रीमद्भागवत में स्पष्ट निर्देश है कि श्रीकृष्ण से दास्य का सम्बन्ध योग साक्षात्कार का यथार्थ प्रारम्भ है।

श्रीमद्भागवत (११.३.३२) में उल्लेख है कि भक्तगण श्रीकृष्ण का प्रेमपूर्वक चिन्तन करते हुए कभी हँसते हैं, कभी खिलखिलाते हैं, कभी असाधारण रूप में बोलने लगते हैं, कभी नाचते हैं, कभी गाते हैं, कभी पूर्ण रूप से उनकी सेवा में लग जाते हैं और कभी चुपचाप समाधिमग्न जैसे बैठ जाते हैं।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत (७.७.३४) में प्रह्लाद महाराज अपने मित्रों से कह रहे हैं, "जैसे ही शुद्धभक्त लीलामय भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य लीलाकथा को सुनते हैं अथवा उनकी गुणावली का उनके कर्ण रन्ध्रों में प्रवेश होता है वैसे ही वे आनन्द विह्वल हो उठते हैं। उनके शरीर में सारे सात्त्विक भावों का उदय हो जाता है। वे आँसू बहाते हैं, रुक-रुक कर बोलते हैं, उच्च स्वर से भगवान् का कीर्तिगान करते हैं और भावोन्मत्त नृत्य भी करने लगते हैं। ये सब भाव निरन्तर रहते हैं। परन्तु कभी-कभी वे सब सीमाओं का उल्लंघन भी कर जाते हैं और इस प्रकार सबके समक्ष प्रकट हो जाते हैं।

भगवान् की शरणागति के छः अंग हैं—भक्तियोग के अनुकूल जो कुछ हो उसका संकल्प; जो भक्तियोग के प्रतिकूल हो उसका त्याग; श्रीकृष्ण निरन्तर रक्षा करेंगे ऐसा दृढ़ विश्वास; अपने को श्रीकृष्ण के भक्तों के साथ

मानना; श्रीकृष्ण की सहायता के बिना अपने को निरन्तर अयोग्य समझना तथा श्रीकृष्ण के आगे सब प्रकार से दीनता का भाव धारण किये रहना, चाहे स्वयं कुछ करने की योग्यता भी हो। जब यह दृढ़ विश्वास हो जाये कि श्रीकृष्ण सदा-सर्वदा नित्य रक्षा करेंगे तो इस भाव को गौरवप्रीति कहते हैं। गौरवप्रीति श्रीकृष्ण और उनके अन्य रक्षित भक्तों के सम्बन्ध में होती है।

जिस समय श्रीकृष्ण द्वारका में निवास कर रहे थे, यदुवंश के वयोवृद्ध पुरुष प्रायः उनके सामने महत्त्वपूर्ण विषयों को रखते थे। ऐसे समय श्रीकृष्ण सावधानीपूर्वक इन विषयों पर ध्यान देते थे। यदि कोई हँसने योग्य बात होती तो वे तुरन्त मंद-मंद मुस्कराने लगते। कभी-कभी सुधर्मा सभा में राजकीय कर्तव्यों का पालन करते हुए श्रीकृष्ण वृद्ध सदस्यों से सत्परामर्श माँगते। इन सब कार्य-कलापों से वे महागुरु, महाकीर्तिशाली, महाबली, रक्षक वाले आदि गुणों को प्रकट करते हैं।

अध्याय ४०

श्रीकृष्ण के मित्र तथा अन्य लाल्याभिमानियों की गौरवप्रीति

यथार्थ गौरवप्रीति उनमें प्रकट होती है जो अपने को श्रीकृष्ण का कृपापात्र मानते हैं अथवा जो अपने को श्रीकृष्ण का पुत्र समझते हैं। इस लाल्याभिमान के सर्वोत्तम उदाहरण सारण, गद और सुभद्र हैं। ये सब यदुवंशी थे और निरन्तर अपने को श्रीकृष्ण द्वारा रक्षित समझते थे। इसी प्रकार श्रीकृष्ण के प्रद्युम्न, चारुदेष्ण, और साम्ब आदि पुत्र भी इसी प्रकार समझते थे। द्वारका में श्रीकृष्ण के अनेक पुत्र थे। अपनी सोलह हजार एक सौ आठ रानियों में से प्रत्येक से उनके दस-दस पुत्र थे। ये सब, जिनमें से प्रद्युम्न, चारुद्रेष्ण और साम्ब प्रधान थे, निरन्तर अपने को श्रीकृष्ण द्वारा रक्षित समझते थे। जब श्रीकृष्ण के पुत्र उनके साथ भोजन करते तो कभी-कभी वे अपना मुँह खोलते जिससे श्रीकृष्ण खिला सकें। जब श्रीकृष्ण अपनें किसी पुत्र की पीठ पर हाथ फेरते तो वह झट उनकी गोद में जा बैठता। श्रीकृष्ण जैसे ही उसका सिर सूंघते हुए आर्शीवाद देते, दूसरे आँसू बहाने लगते—यह सोचते हुए कि पूर्वजन्म में उसने कितने पुण्य कर्म किए होंगे। श्रीकृष्ण के अनेक पुत्रों में पट्टमहिषी रुक्मिणी का पुत्र, प्रद्युम्न सर्वप्रधान समझा जाता है। प्रद्युम्न का रूप ठीक श्रीकृष्ण जैसा है। श्रीकृष्ण के शुद्धभक्त प्रद्युम्न को सर्वोत्कर्षशाली कहकर जय-जयकार करते हैं, क्योंकि वह अपने रूप से श्रीकृष्ण भ्रम का उत्पन्न करने वाला है।

हरिवंश में प्रभावती का हरण करते हुए प्रद्युम्न के क्रियाकलाप का वर्णन है। उस समय प्रद्युम्न ने प्रभावती से कहा, "हे प्रभावती ! हमारे कुल के प्रधान श्रीकृष्ण गरुड़वाहन स्वयं साक्षात् नारायण हैं। वे ही हमारे परम स्वामी हैं। उनकी रक्षा का हमें ऐसा गौरव और विश्वास

हो चला है कि कभी-कभी तो हम त्रिपुरारी (शिवजी) से लड़ने में भी संकोच नहीं करते।

सम्भ्रम एवं गौरव से युक्त भक्ति दो प्रकार के भक्तों में पाई जाती है—जो भगवान् के कृपापात्र हैं और जो उनके पुत्र हैं। द्वारकानिवासी सेवक निरन्तर श्रीकृष्ण को परमाराध्य भगवान् के रूप में भजते हैं। उनमें श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य ज्ञान की प्रधानता रहती है। वे इसी पर मोहित रहते हैं। अपने को निरन्तर श्रीकृष्ण द्वारा रक्षित समझने वाले यदुवंशियों का यह विश्वास प्रायः विपदा पड़ने पर बहुत शीघ्र प्रत्यक्ष अभिव्यक्त हो जाता था। ऐसे अनेक अवसरों का उल्लेख है। कभी श्रीकृष्ण के पुत्र अनधिकार चेष्टा करते; परन्तु फिर भी कृष्ण-बलराम ने सदा उन्हें पूर्ण संरक्षण दिया।

श्रीकृष्ण के अग्रज बलराम भी कभी-कभी जाने-अनजाने उन्हें आदर देते थे। एक समय जब श्रीकृष्ण बलरामजी के सामने आये तो वे अपने अग्रज को प्रणाम करने को उद्यत हुए। परन्तु उसी समय बलराम की गदा श्रीकृष्ण के चरणकमलों में झुक गई। भाव यह है कि बलराम के हाथ ने श्रीकृष्ण को प्रणाम किया। ये लाल्य अथवा आश्रयता के भाव कभी-कभी अनुभाव के रूप में अभिव्यक्त होते हैं।

जब स्वर्गीय देवता श्रीकृष्ण के पास आये तो श्रीकृष्ण के सारे पुत्रों ने उनका अनुगमन किया और ब्रह्माजी ने अपने कमण्डलु से उन पर सुगन्धित जल का परिवर्षन किया। जब देवता श्रीकृष्ण के सामने आये तो पुत्र स्वर्ण सिंहासनों पर बैठने के स्थान पर श्रीकृष्ण के सामने भूमि पर बिछे हुए मृगचर्म के ऊपर बैठ गये।

कभी-कभी श्रीकृष्ण के पुत्रों का व्यवहार उनके निजी सेवकों के समान प्रतीत होता है। उदाहरण के लिये प्रणाम करना, अधिकतर चुप रहना, संकोच, विनय की बहुलता और अपने प्राणों को देकर भी आज्ञा का पालन करना, सिर नीचा रखना, स्थिरता, खांसने और हँसने आदि का परित्याग, और उनकी अत्यन्त गुप्त क्रीड़ा और बातों आदि से दूर रहना—ये सब दासों के समान लाल्यजनों में भी होने वाले अनुभाव हैं। अतएव गौरवभक्ति में लगे भक्तों को श्रीकृष्ण की माधुर्य लीला का वार्तालाप कभी नहीं करना चाहिए। मुक्त हुए बिना कोई भी श्रीकृष्ण से नित्य सम्बन्ध की घोषणा न करे बद्धदशा में भक्तों के लिये भक्तियोग के विधि-विधान का पालन अनिवार्य है। भक्तियोग के परिपक्व होने पर और स्वरूप का साक्षात्कार होने पर ही वह

श्रीकृष्ण से अपने नित्यसम्बन्ध को जान सकता है। कृत्रिम रूप से किसी सम्बन्ध को स्थापित करने का प्रयत्न करना ठीक नहीं। अपरिपक्व दशा में कभी-कभी देखा जाता है कि कोई बद्ध पुरुष अस्वाभाविक रूप से श्रीकृष्ण से माधुर्य प्रेम का सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह प्राकृत सहजिया बन जाता है। ऐसे व्यक्ति श्रीकृष्ण से माधुर्य सम्बन्ध स्थापित करने को तो बड़े आतुर रहते हैं; परन्तु देखा जाता है कि प्राकृत-जगत् में उनका बद्धजीवन फिर भी परम निकृष्ट बना रहता है। जिसका वास्तव में श्रीकृष्ण से सम्बन्ध हो गया है वह फिर प्राकृत स्तर पर कार्य नहीं कर सकता और उसका निजी चरित्र सर्वथा अनिन्द्य हो जाता है।

श्रीकृष्ण के दर्शन के लिये कंदर्प को आया देख किसी भक्त ने उसे संबोधित करते हुए कहा, 'हे कंदर्प ! अपने नेत्रों से श्रीकृष्ण के चरण युगलारविन्द देखने का तुम्हें सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इसलिये तुम्हारे शरीर पर श्वेदकण जमकर कंटकी के फलों की सी शोभा पा रहे हैं।'' ये श्रीभगवान् के लिये प्रीति और गौरव के लक्षण हैं। जब यदुवंशी राजकुमारों ने दूर से श्रीकृष्ण के पांचजन्य शंख की ध्वनि सुनी तो तुरन्त भावमय आह्लादवश उनके शरीर में रोमांच हो आया। प्रतीत होता था मानो उस समय राजकुमारों के रोम भावोन्माद में नृत्य कर रहे हैं।

हर्ष के अतिरिक्त कभी-कभी र्निवेद के लक्षण भी होते हैं। प्रद्युम्न ने एक बार साम्ब को सम्बोधित किया, "हे साम्ब ! तुम्हें पता है कि एक बार जब तुम भूमि पर लोट रहे थे तो तुम्हारी देह धूल से लथपथ हो गई थी, फिर भी हमारे पिता भगवान् श्रीकृष्ण ने तुम्हें अपने अंक में उठा लिया। मैं ऐसा मन्दभाग्य हूँ कि पिता से ऐसा प्रेम कभी नहीं पा सका।" यह प्रेम में निर्वेद का लक्षण है।

श्रीकृष्ण को अपना पूज्य मानना गौरवभाव है और जब इसके अतिरिक्त भक्त श्रीकृष्ण को अपना रक्षक मानता है तो श्रीकृष्ण के लिये उसका दिव्य प्रेम अधिक बढ़ जाता है। इस प्रकार के सम्मिलित भावों को गौरवप्रीति कहते हैं। यही स्थायी गौरवप्रीति आगे बढ़ने पर गौरव भक्तिमय प्रेम कहलाता है। इस अवस्था के दो प्रमुख लक्षण राग और स्नेह हैं। इस गौरव के भक्तिभाव में प्रद्युम्न ने अपने पिता से कभी उच्च स्वर में बात नहीं की। वास्तव में उसने अपनी होठों की मुद्रा को कभी तनिक भी नहीं खोला और न कभी प्रेमआँसुओं से पूर्ण अपने मुख को ऊपर

उठाया। वह निरन्तर अपने पिता के चरणकमलों की ओर ही देखा करता था।

श्रीकृष्ण का स्थायी प्रेम तब भी प्रकट हुआ है जब अर्जुन ने उन्हें अपने पुत्र अभिमन्यु की मृत्यु का समाचार सुनाया। वह कुरुक्षेत्र के युद्ध में दुर्योधन के सारे सेनापतियों, अर्थात् वर्ण, अश्वत्थामा, जयद्रथ, भीष्म, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य के समवेत बल के आगे परास्त होकर मारा गया। यह आश्वासन देने के लिये कि इस पर भी उनके प्रति सुभद्रा के प्रेम में कोई अन्तर नहीं आया है, अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा, "यद्यपि अभिमन्यु प्रायः आपकी उपस्थिति में मारा गया; फिर भी आपके लिये सुभद्रा के प्रेम में कोई अन्तर नहीं आया है और न ही उसमें मलिनता का लेश उठा है।"

श्रीकृष्ण अपने भक्तों के लिये जो स्नेह रखते हैं उसकी अभिव्यक्ति उन्होंने स्वयं प्रद्युम्न से इन शब्दों में की है—वे बोले, "हे पुत्र ! इस लज्जा के भाव को छोड़कर मुख मत लटकाओ। आँसू न बहाओ, मुझसे स्पष्ट वाणी में बोलो, सीधे मेरी ओर देखते हुए अपने हाथ को निःसंकोच मेरे शरीर पर रखो। अपने पिता के आगे गौरवबुद्धि प्रकट करना कहाँ तक उचित है।"

श्रीकृष्ण के लिये प्रद्युम्न की आसक्ति सदा उसके कार्यकलाप में अभिव्यक्त होती है। जब भी पिता उसे कुछ करने का आदेश देते वह अविलम्ब उनका आज्ञापालन करता और विष जैसे कठिन कार्य को भी अमृतमय समझता। इसी प्रकार जब वह किसी कार्य में पिता की असम्मति देखता तो उसे तुरन्त त्याग देता, चाहे वह अमृत के समान ही क्यों न हो। श्रीकृष्ण के लिये प्रद्युम्न की उत्कंठित आसक्ति अपनी पत्नी रति से कहे उसके इन शब्दों में प्रकट होती है—"शम्बर दैत्य पहले ही मारा जा चुका है। अब मैं पाञ्चजन्य नामक शंख को धारण किये हुए अपने गुरु अर्थात् पिता को कब देख सकूँगा ?" जब श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र के युद्ध के कारण द्वारका से अनुपस्थित थे तो प्रद्युम्न को उनका तीव्र विरह पीड़ित कर चला। वह बोला, "पिताजी के हस्तिनापुर को चले जाने से अब मेरा मन अपनी प्रिय कन्दुकक्रीड़ा को नहीं चाहता और न सुन्दर शास्त्राभ्यास में ही लगता है। इन सबका क्या कहना—अब तो द्वारका तक भी मुझे कारागार के समान प्रतीत होती है।"

शम्बरासुर का वध करके घर लौटकर जब प्रद्युम्न ने अपने सामने पिता श्रीकृष्ण को देखा तो वह तुरन्त ऐसा आनन्द विह्वल हुआ कि स्वयं अपने को ही न समझ सका। यह वियोग में सिद्धि का उदाहरण है। इसी

प्रकार की तुष्टि तब देखी गई, जब श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि से अपने घर द्वारका को लौटे। आनन्द की अतिशयतावश उनके भावोन्मत्त पुत्र बारम्बार हड़बड़ा गये। इस प्रकार का हड़बड़ाना पूर्णतुष्टि का लक्षण है।

प्रद्युम्न प्रतिदिन अश्रुपूरित नेत्रों से श्रीकृष्ण के चरणकमलों का दर्शन किया करते थे। जिन लक्षणों को पूर्व में सम्भ्रतप्रीति के विषय में कहा गया है, उन्हीं को प्रद्युम्न की गौरवप्रीति के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिये।

अध्याय ४१

सख्यभक्तिरस

जब कोई भक्त स्थायी रूप से भक्तियोग में स्थिर रहता है और नाना प्रकार के भाव-लक्षणों के द्वारा श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में एक सख्यरस अथवा स्वाद को विकसित और परिपक्व कर लेता है तो उसकी भाववृत्ति को सख्यरस कहते हैं।

भगवान् के लिये इस प्रकार के सख्यरस के उद्दीपन स्वयं भगवान् हैं। जब कोई जीवन्मुक्त हो जाता है और भगवान् से अपने शाश्वत् सम्बन्ध को जान जाता है तो भगवान् स्वयं उसके सख्य प्रेम को बढ़ाने में उद्दीपन का काम करते हैं। भगवान् के बृन्दावनीय शाश्वत् पार्षदों ने यह इस प्रकार वर्णन किया है, "जिनके श्रीविग्रह का वर्ण इन्द्रनील मणि जैसा है, जिनकी मुस्कान कुन्द के फूल के समान मधुर है; जो शरद्कालीन स्वर्ण दुर्वा के समान पीतवर्ण का वस्त्र धारण किये हुए हैं; जिनका वक्षःस्थल वैजयन्तीमाला से सुशोभित है और जो निरन्तर अपनी वेणु के वादन में निरत हैं—ऐसे ये अघासुर के शत्रु श्रीहरि वृन्दावन में भ्रमण करते हुए निरन्तर हमारे हृदयों का आकर्षण कर रहे हैं।"

वृन्दावन के बाहर भी सख्यरस के ऐसे ही भाव व्यक्त हुए हैं। जब युधिष्ठिर आदि पाण्डवों ने कुरुक्षेत्र के युद्ध से श्रीकृष्ण को शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज रूप में देखा तो वे अपने को बिल्कुल भूल गये और आनन्द अमृत के सिन्धु में निमग्न हो गये। इससे प्रकट होता है कि किस प्रकार पाण्डुपुत्र—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव, सबके सब श्रीकृष्ण के लिये सख्यप्रेम के वशीभूत थे।

कभी-कभी नाना नाम, रूप, परिकर, उपकरण तथा दिव्य गुण आदि सख्यरस को उद्भूत करते हैं। उदाहरण के लिये, श्रीकृष्ण का सुन्दर परिधान, उनका सुगठित शरीर, उनके शरीर पर विद्यमान सर्वमंगलमय चिह्न, नाना भाषाओं का ज्ञान, गीता के रूप में पाण्डित्यमय शिक्षा, सब प्रकार की चेष्टाओं में उनकी अद्वितीयता, विदग्धज्ञान, दया, वीरता,

प्रियता, बुद्धिमानी, क्षमाभाव, सब प्रकार के मनुष्यों को आकृष्ट करने की शक्ति, उनका ऐश्वर्य और उनका सुख—ये सब सख्यरस को उद्दीप्त करते हैं। श्रीकृष्ण के वृन्दावनवासी पार्षदों को देखने पर भी सख्यरस का उद्दीपन होना बड़ा स्वाभाविक है क्योंकि उनके निजी स्वरूप, गुण तथा परिधान आदि सब श्रीकृष्ण के समान हैं। ये पार्षद सदा श्रीकृष्ण की सेवा में प्रसन्न रहते हैं। इन्हें सामान्यतः वयस्य कहा जाता है अर्थात् समकालीन, समान आयु के मित्र। इन मित्रों को सदा श्रीकृष्ण के संग में विश्वास रहता है। भक्त कभी-कभी प्रार्थना करते हैं, "हम श्रीकृष्ण के वयस्क मित्रों को प्रणाम करते हैं, जिन्हें श्रीकृष्ण के सख्य और संरक्षण में पूर्ण विश्वास है और जिनकी श्रीकृष्ण में स्थायी भक्ति है। वे निर्भय हैं और श्रीकृष्ण के समकक्ष होकर अपनी दिव्य प्रेममयी सेवा का अर्पण करते हैं।" ये शाश्वत् वयस्य वृन्दावन के बाहर द्वारका, हस्तिनापुर आदि स्थानों पर भी पाये जाते हैं। वृन्दावन के अतिरिक्त श्रीकृष्ण की लीला के अन्य सब स्थल पुर कहलाते हैं। मथुरा और कुरुओं की राजधानी हस्तिनापुर—ये दोनों पुर हैं। अर्जुन, भीम, द्रौपदी, श्रीदामा, ब्राह्मण, इत्यादि सब पुरों में श्रीकृष्ण के सख्य भक्त हैं।

पाण्डवों द्वारा श्रीकृष्ण के संग का आस्वादन करने का वर्णन इस प्रकार है—"जब श्रीकृष्ण कुरुवंशियों की राजधानी इन्द्रप्रस्थ पधारे तो महाराज युधिष्ठिर तुरन्त उनकी अगवानी के लिये बाहर आये और श्रीकृष्ण के सिर को सूँघने लगे।" यह वैदिक परिपाटी है कि जब छोटे बड़ों को पैर छूकर प्रणाम करें तो बड़े उनका सिर सूंघा करते हैं। भीम और अर्जुन दोनों श्रीकृष्ण की भुजाओं से लिपट गये और नकुल और सहदेव ने अश्रुपूरित नेत्रों से झुककर श्रीकृष्ण के चरणकमलों में प्रणाम किया। इस प्रकार पाँचों पाण्डव श्रीकृष्ण के साथ दिव्य सख्यरस का आस्वादन कर रहे थे। पाँचों में अर्जुन का श्रीकृष्ण से सर्वाधिक अंतरंग सम्बन्ध है। उसके हाथ में 'गाण्डीव' नामक प्रख्यात धनुष रहता है; जंघाएँ हाथी की सूँड के समान सुन्दर हैं और नेत्र दीर्घातिरक्त हैं। जब श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों साथ-साथ रथ पर विराजते हैं तो उनकी बड़ी अतुलनीय शोभा होती है जिससे सबके नेत्रों को आनन्द मिलता है। अर्जुन प्रायः शैय्या पर लेटे हुए श्रीकृष्ण की गोद में सिर रखकर उनसे वार्ता अर्थात् परिहास किया करते। इस प्रकार मुस्कराते हुए श्रीकृष्ण के संग में उसे बड़ा सन्तोष मिलता।

जहाँ तक व्रजसम्बन्धी वयस्यों का सम्बन्ध है वे क्षणभर भी

श्रीकृष्ण को न देखने पर विह्वल हो उठते हैं।

श्रीकृष्ण के वृन्दावन के वयस्य मित्रों से एक भक्त की प्रार्थना है—"श्रीकृष्ण के वयस्य मित्रों की जय हो, जो आयु, गुण, विलास, वेष एवं शोभा में साक्षात् श्रीकृष्ण के समान हैं। वे निरन्तर अपनी वेणुओं को बजाते रहते हैं और उन सब के श्रृंग श्रीकृष्ण के समान ही इन्द्रनील, स्वर्ण और पद्मराग मणि से जड़ित हैं। वे निरन्तर श्रीकृष्ण के समान आह्लादित रहते हैं। श्रीकृष्ण के ये शोभामय मित्र सहचर हमारी रक्षा करें।"

वृन्दावन धाम के वयस्यों का श्रीकृष्ण से ऐसा अन्तरंग सख्य है कि कभी-कभी वे अपने को श्रीकृष्ण के समान समझने लगते हैं। इसका एक उदाहरण इस प्रकार है—"श्रीकृष्ण को अपने बायें हाथ से गोवर्धन पर्वत को धारण किये देखकर वयस्य कहने लगे, "हे सखे! तुम्हें गोवर्धन को धारण किये खड़े-खड़े बिना विश्राम किये सात दिन-रात बीत गये हैं। यह देखकर हमें बड़ा दुःख हो रहा क्योंकि तुम थक गये हो। इसलिये अब इस पर्वत को श्रीदामा के हाथ पर रख दो। यदि तुम समझते हो कि श्रीदामा इसे नही उठाता तो कम से कम अपने ही दाहिने हाथ में ले लो जिससे हम तुम्हारे बायें हाथ की अच्छी प्रकार से मालिश कर सकें।" यह उस अन्तरंगता का परिचायक है जिसमें वयस्य अपने को श्रीकृष्ण के बराबर समझते हैं।

श्रीमद्भागवत (१०.१२.११) में शुकदेव गोस्वामी राजा परीक्षित से कहते हैं, "हे राजन्! श्रीकृष्ण विद्वान् योगियों के लिये साक्षात् भगवान् हैं; निर्विशेषवादियों के लिये परम सुख हैं; भक्तों के लिये परम आराध्य देव हैं और जो माया के बन्धन में पड़े हैं उनके लिये साधारण बालक हैं। कल्पना तो करो कि ये गोप-बालक परम पुरुष के साथ समान भाव से खेल रहे हैं। अवश्य ही उन्होंने पूर्वजन्म में पुण्यों के पुन्ज एकत्र किये होंगे, जिससे भगवान् से उन्हें ऐसा अन्तरंग सख्यभाव का सम्बन्ध प्राप्त हुआ है।"

श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने वृन्दावनीय वयस्यों के लिये अपना भाव व्यक्त किया है। वे बलरामजी से कहते हैं, "हे भ्राता! जिस समय मेरे सखा अघासुर द्वारा निगले जा रहे थे तो मेरे नेत्रों से गरम-गरम आँसू झरने लगे। जैसे मेरे गाल उनसे भीगे, एक क्षण के लिये मैं अपने को भी पूर्ण रूप से भूल बैठा।"

गोकुल में श्रीकृष्ण के वयस्यों के सामान्यतः चार गोष्ठ माने जाते

हैं—सुहृद, सखा, प्रिय सखा, तथा प्रियनर्म सखा । श्रीकृष्ण के सुहृद उनसे तनिक बड़े हैं और इसलिये उनमें श्रीकृष्ण के लिये थोड़ा वात्सल्य पाया जाता है। वे निरन्तर सब प्रकार के भय से उनकी रक्षा के लिये तत्पर रहते हैं। इस प्रकार वे कभी-कभी अस्त्र भी धारण करते हैं जिससे श्रीकृष्ण का अनिष्ठ करने आए दुष्टों को मार भगाएँ। इनमें सुभद्र, मण्डलीभद्र, भद्रवर्धन, गोभट, यक्ष, यक्षेन्द्र भट, भद्रांग, वीरभद्र, महागण, विजय तथा बलभद्र आदि हैं। श्रीकृष्ण से थोड़े बड़े होने से वे निरन्तर उनका हितचिन्तन किया करते हैं।

उनके सख्य का उदाहरण इस प्रकार है—"हे मण्डलीभद्र ! तुम अपनी चमकती हुई तलवार को क्यों घुमा रहे हो। ऐसा लगता है मानो अरिष्ट सुर को मारने दौड़ते हो। हे बलदेव ! तुमने व्यर्थ ही अपने हल को क्यों धारण कर रखा है ? हे विजय ! बिना प्रयोजन घवड़ाओ नहीं। हे भद्रवर्धन इस प्रकार गरजने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि तुम ध्यान से देखो तो पाओगे कि यह केवल गोवर्धन पर्वत पर गरजने वाला एक बादल है। यह सांडरूप धारी अरिष्टासुर नहीं है, जैसा कि तुम समझ रहे हो।" ये सब श्रीकृष्ण के बड़े सुहृद सखा बड़े से मेघ को सांडरूप धारी अरिष्टासुर समझ बैठे थे। इसी उत्तेजना के बीच उनमें से एक को पता चला कि यह तो वास्तव में गोवर्धन पर्वत पर गरजने वाला बादल है। अतएव उसने दूसरों को सूचित किया कि श्रीकृष्ण के लिये चिन्ता करने का कोई कारण नहीं है--वर्तमान में अरिष्टासुर का भय नहीं है।

इन सुहृदों में मण्डलीभद्र और बलभद्र प्रधान हैं। मण्डलीभद्र का वर्णन इस प्रकार है—"पीतवर्ण वस्त्र से सुशोभित शरीरांग वाला, हाथ में चितकबरी लाठी पकड़े हुए, कमल जैसी कान्ति को धारण किये हुए मोरमुकुटधारी मण्डलीभद्र शोभायमान है।" उसका सख्यभाव इस वाक्य से प्रकट होता है, "हे सखाओं ! गायों को चारण कराते हुए दूर-दूर वन में विचरण करने से हमारे प्रिय श्रीकृष्ण बहुत थक गये हैं। इसलिये अब घर सोते हुए इनके सिर को मैं धीरे-धीरे दबाता हूँ। सुभद्र तुम चरण दबाओ।"

एक भक्त ने बलदेव के निजी सौन्दर्य का वर्णन इन शब्दों में किया है—"कपोलों से लगते कुण्डलों से जिनकी शोभा अतिशय हो उठी है, जिनका माथ कस्तूरी तिलक से सुशोभित है, वक्षःस्थल पर गुञ्जा की माला विराजमान है, जिनका वर्ण शरदकालीन मेघों के समान धवल है, जो नीलाम्बर धारण करते हैं और जिनकी वाणी बड़ी गंभीर है, भुजाएँ

अजानुलम्बित हैं और अपने महान् पराक्रम को जिन्होंने प्रलम्वासुर का वध करके प्रकट किया है, उन वलदेवजी की मैं शरण लेता हूँ।"

श्रीकृष्ण के लिये वलदेव का स्नेह सुवल से कहे इस वाक्य में अभिव्यंजित है—"हे सखे! कृपया श्रीकृष्ण से कह देना कि वे आज कालिय दह के निकट न जायें। आज उनकी जन्मतिथि है। इसलिये यशोदा मैय्या के साथ मैं उन्हें स्नान कराने जाना चाहता हूँ। उनसे कह देना कि आज घर से न जायें।" इसमें प्रकट होता है कि श्रीकृष्ण के अग्रज वलरामजी सख्यप्रीति के अन्तंगत होने वाले वात्सल्य से श्रीकृष्ण का ध्यान रखते थे।

जो श्रीकृष्ण से छोटे हैं, जिनमें प्रीति की गन्ध पाई जाती है और जो निरन्तर उनकी नाना प्रकार से सेवा करते हैं वे सखा हैं। इनके उदाहरण हैं—विशाल, वृषभ. ओजस्वी. देवप्रस्थ, वरूथप, मरन्द, कुसुमापीड, मणिवन्ध तथा करन्धम। श्रीकृष्ण के ये सव सखा केवल उनकी सेवा चाहते हैं। कभी-कभी वे प्रातःकाल जल्दी उठकर तुरन्त नन्द महाराज के द्वार पर जाकर खड़े हो जाते और गोचारण के लिए श्रीकृष्ण के साथ जाने को उनकी प्रतीक्षा करते। इस बीच यशोदा मैया श्रीकृष्ण को तैयार करतीं और जव वे किसी वालक को द्वार पर खड़े देखतीं नो पुकार कर कहतीं, 'अरे विशाल, तू वहाँ क्यों खड़ा है यहाँ आ।' इस प्रकार यशोदा मैय्या की अनुमति से वह अविलम्ब घर में चला जाता। यशोदा मैय्या को श्रीकृष्ण को वस्त्राभूषणों से अलंकृत करते देखकर वह भी श्रीकृष्ण को कंकण किंकणी पहनाने में सहायता करता। वह देखता श्रीकृष्ण परिहास में उसे अपनी वंशी से छूते। तव यशोदा जी कहने लगतीं, "कृष्ण यह क्या? तू अपने सखा को क्यों चिढ़ा रहा है।" इस पर श्रीकृष्ण हँस पड़ते और सखा भी हँसने लगता। यह सब श्रीकृष्ण के सखाओं की कुछ क्रियाएँ हैं। कभी-कभी सखा इधर-उधर जाकर गायों की देखभाल करते और श्रीकृष्ण से कहते, "कृष्ण तुम्हारी गायें इधर-उधर जा रही हैं।" और श्रीकृष्ण इसके लिये उनका धन्यवाद करते।

कभी-कभी सखाओं सहित श्रीकृष्ण के गोचारण के लिये चले जाने पर कंस उनको मारने के लिये किसी असुर को भेजता। अतएव प्रायः प्रतिदिन ही किसी न किसी प्रकार के असुर से युद्ध होता था। इस प्रकार के युद्ध के बाद श्रीकृष्ण बहुत थक जाते और उनके सिर के बाल भी बिखर जाते। ऐसे अवसर पर सखा तुरन्त आकर उन्हें नाना प्रकार से सुख देने का प्रयास करते। कुछ मित्र कहते, 'हे विशाल! लो यह कमल का पंखा और श्रीकृष्ण को हवा करो जिससे उन्हें कुछ सुख मिले। वरूथप उलझे हुए

बालों को ठीक करो। हे वृषभ ! व्यर्थ बोलना रोक कर शरीर को दबाओ क्योंकि उस असुर से युद्ध करने में हमारे श्रीकृष्ण के बाहुओं को बड़ी थकावट हो गई है।" ये श्रीकृष्ण के सखाओं के कुछ व्यवहार हैं।

देवप्रस्थ नामक सखा का रूप इस प्रकार है—"वह बड़ा बलवान है, धुरन्धर विद्वान् है, और गेंद खेलने में बड़ा दक्ष है। वह श्वेत वस्त्र धारण किये रहता है और उसके बाल रस्सी से बँधे रहते हैं। जब भी श्रीकृष्ण और असुरों में युद्ध होता है तो देवप्रस्थ सहायता में सबसे आगे होता है। युद्ध में वह हाथी जैसे लड़ता है।"

एक गोपी अपनी सखी से बोली, "हे सखि ! जिस समय नन्दनन्दन श्रीकृष्ण पहाड़ी की कन्दरा में विश्राम कर रहे थे तो उन्होंने अपना सिर श्रीदामा की भुजाओं में रख रखा था और अपने बायें हाथ को दामा के वक्ष पर टिका रखा था। इस अवसर का लाभ उठाकर देवप्रस्थ तुरन्त श्रीकृष्ण के लिये अपने तीव्र स्नेह से प्रेरित होकर उनके चरणों को दबाने लगा।" गौचारण में श्रीकृष्ण के सखाओं की इस प्रकार लीलाएँ होती हैं।

श्रीकृष्ण के अधिक अंतरंग मित्रों को प्रियसखा कहते हैं। उनकी वय प्रायः श्रीकृष्ण के समान है। अतिशय अंतरंगता के कारण इनके सम्पूर्ण व्यवहार का एकमात्र आधार शुद्ध सख्य है। विभिन्न प्रकार के सखाओं में वात्सल्य अथवा दास्य का पुट रहता है। परन्तु इन प्रिय सखाओं की क्रियाओं का आधार समस्तर पर शुद्ध सख्यभाव है। इनमें से कुछ प्रियसखा हैं—श्रीदामा, सुदामा, दामा, वसुदामा, किंकिणी, स्तोक कृष्ण, अंशु, भद्रसेन, विलासी, पुण्डरीक, विटंव और कलविंक। नाना लीलाओं में अपनी विविध क्रियाओं से ये सब श्रीकृष्ण को दिव्य आनन्द प्रदान करते हैं।

इन प्रिय सखाओं के व्यवहार का वर्णन करते हुए एक सखी राधा-रानी से कहती है, 'हे शोभामयी राधे ! तुम्हारे अंतरंग मित्र श्रीकृष्ण की उनके अंतरंग गोपसखा खूब सेवा करते हैं। उनमें से कुछ मन्द-मन्द स्वर से व्यंग्य करते हैं; इससे श्रीकृष्ण को बड़ी प्रसन्नता होती है।" उदाहरण के लिये श्रीकृष्ण का एक मधुमंगल नामक ब्राह्मण सखा था। यह बालक लोभी ब्राह्मण के समान भूमिका निभाकर व्यंग्य करता। जब भी सखा भोजन करते तो वह और सबसे अधिक खाता। विशेषतः उसे लड्डू बड़े प्रिय थे। सबसे अधिक लड्डू खा लेने पर भी मधुमंगल की तृप्ति नहीं होती और वह श्रीकृष्ण से कहता है, "यदि तुम मुझे एक और लड्डू दे दोगे

तो मैं तुमसे प्रसन्न होकर आशीर्वाद दूँगा जिससे सखी राधारानी तुम पर प्रसन्न हो जायगी।" सामान्यतया ब्राह्मण लोग वैश्यों को आशीर्वाद दिया करते हैं। श्रीकृष्ण नन्द महाराज के आत्मज के रूप में अपने को वैश्य मानते थे; अतः ब्राह्मण बालक के लिये उन्हें आशीर्वाद देना उचित ही था। इस प्रकार मित्रोचित परिहास में सखा के आशीर्वाद से श्रीकृष्ण को बड़ी प्रसन्नता होती और वे उसे लड्डू पर लड्डू देते जाते।

कभी-कभी कोई प्रियसखा श्रीकृष्ण के सामने पड़ने पर उन्हें अतिशय प्रीति और प्रेमवश गले लगा लेता। दूसरा पीछे से आकर श्रीकृष्ण के नेत्रों को अपने हाथों से ढक लेता। अपने प्रियसखाओं के साथ श्रीकृष्ण को इस प्रकार की लीलाओं में निरन्तर बड़े सुख का अनुभव होता था।

इन सब प्रियसखाओं में श्रीदामा प्रमुख है। श्रीदामा पीताम्बर और शृंग धारण किये रहता है। उसकी पगड़ी का ताम्र वर्ण है, शरीर की कान्ति श्यामवर्ण है और गले में सुन्दर माला शोभायमान है। सख्य के परिहास में वह निरन्तर श्रीकृष्ण से होड़ लगाये रहता है। उसी श्रीदामा की कृपा की हमें याचना है।

कभी-कभी श्रीदामा श्रीकृष्ण से कहता, "हे निर्दयी! तुम हम सबको नदी तट पर अकेला छोड़कर न जाने कहाँ चले गये। जानते हो तुम्हें न देखने पर हमें कैसा उन्माद हुआ। बड़े भाग्य से अब दिखाई दिये हो। हाय! अब आलिंगन के द्वारा हम सबको आनन्दित करो। हे सखे! विश्वास करो। तुम्हारी एक क्षण की अनुपस्थिति भी बड़ी उत्पात करने वाली है। हमारे लिये ही नहीं, बल्कि गायों के लिये भी। सब कुछ विरूप हो जाता है और हम तुम्हारे लिये पागल हो उठते हैं।"

नर्म वयस्य तो प्रियसखाओं से भी अधिक अंतरंग हैं। इनमें सुबल, अर्जुन, गन्धर्व, वसन्त, और उज्ज्वल आदि हैं। इनके सम्बन्ध में एक गोपी ने राधारानी से कहा है, "हे कृष्णांगी! देखो-देखो, सुबल तुम्हारे सन्देश को श्रीकृष्ण के कान में सुना रहा है। श्यामादासी के गुप्त पत्र को श्रीकृष्ण के हाथ में दे रहा है। फिर पालिका द्वारा भेजे ताम्बूल को श्रीकृष्ण के मुख में खिला रहा है। तारका द्वारा गुम्फित माला से श्रीकृष्ण को सुशोभित करता है। हे सखि! क्या तुम जानती हो कि श्रीकृष्ण के ये सब प्रिय नर्मसखा निरन्तर इसी प्रकार उनकी सेवा में लगे रहते हैं। नाना प्रिय नर्मवयस्यों में सुबल और उज्ज्वल सर्वप्रधान माने गये हैं।

सुबल के रूप का वर्णन इस प्रकार है—"उसका वर्ण द्रवित स्वर्ण की कान्ति को भी हरने वाला है, वह श्रीकृष्ण को अतिशय प्रिय है। निरन्तर गले में माला धारण किये रहता है और पीताम्बरधारी है। उसके नेत्र कमलदल जैसे हैं और वह इतना बुद्धिमान् है कि उसकी वाणी और नीति के द्वारा अन्य सखाओं को परमानन्द की प्राप्ति होती है। हम सब श्रीकृष्ण के उस सुबल सखा की सादर वन्दना करते हैं।"

सुबल और श्रीकृष्ण की अंतरंगता को इस बात से समझा जा सकता है कि उनमें होने वाला वार्तालाप इतना गुप्त था कि कोई भी उसे नहीं समझ सका।

श्रीकृष्ण के एक अन्य नर्म वयस्य का वर्णन निम्नलिखित है—"उज्ज्वल अरुण आम्बर धारण करता है और उसके नेत्रों की दृष्टि बड़ी चंचल है। उसे नाना प्रकार के पुष्पों से अपने को सजाना प्रिय है। शरीर का रंग प्राय: श्रीकृष्ण जैसा है और गले में मोतियों की माला झलकती रहती है। वह श्रीकृष्ण को सदा प्रिय है। श्रीकृष्ण के ऐसे प्रियनर्म सखा उज्ज्वल की जय हो।"

उज्जवल की अन्तरंग सेवा के सम्बन्ध में राधारानी अपनी एक सखी से कहती हैं, 'हे सखि ! मेरे लिये अपने मान की रक्षा करना असम्भव सा हो गया। मैं श्रीकृष्ण से अब बिल्कुल भी नहीं बोलना चाहती; परन्तु यह देखो वह उनका सखा उज्ज्वल दूत-कर्म के लिये मेरे पास आ रहा है। उसकी नर्मोक्तियाँ इतनी प्रबल होती हैं कि किसी भी गोपी के लिये उनके सामने अपने कृष्णप्रेम को रोक पाना असम्भव हो जाता है; चाहे वह अत्यन्त लज्जावती परिवार में निष्ठ और पतिव्रता ही क्यों न हो।"

उज्ज्वल के हर्षमय स्वभाव के सम्बन्ध में उसका यह वाक्य है—'हे कृष्ण ! हे अघारि ! तुमने अपने प्रेमव्यापार का इतना अधिक विस्तार कर लिया है कि अब तुम्हें अपार सागर की उपमा दी जा सकती है। संसार की सारी युवतियाँ, जो निरन्तर सच्चे प्रेमी को खोजा करती हैं, उन नदियों के समान हैं जो इस सागर की ओर दौड़ रही हैं। इस अवस्था में ये सब युवतीरूप नदियाँ यदि किसी ओर मुड़ने का प्रयास भी करें तो भी अन्त में तुम तक ही पहुँचेंगी।"

श्रीकृष्ण के सखाओं के नाना समूहों में कुछ शास्त्रों में और कुछ लोक में प्रसिद्ध हैं। वे नित्यप्रिय, सुरचर तथा साधक—ऐसे तीन प्रकार के कहे गये हैं। इनमें से कुछ, जो स्वभाव से ही श्रीकृष्ण की सेवा में स्थिर-

मति हैं, वे निरन्तर मन्त्रणा देते हुए उनकी सेवा करते हैं। कुछ चपल प्रवृत्ति के वयस्य विदूषक के समान श्रीकृष्ण को हँसाते हैं। कुछ सरल प्रवृत्ति वाले अपनी सरलता से भगवान् श्रीकृष्ण को प्रसन्न करते हैं। कुछ वाम प्रवृत्ति वाले अपनी क्रियाओं से आश्चर्यदायक परिस्थितियों का निर्माण करते हैं। वातुल श्रीकृष्ण के साथ निरन्तर तर्क करते रहते हैं। कुछ अन्य सखा बड़े सौम्य हैं और अपने मधुर शब्दों से श्रीकृष्ण को आह्लादित करते हैं। ये सब सखा श्रीकृष्ण के अतिशय अंतरंग हैं। सभी अपनी नाना क्रियाओं में दक्ष हैं। उन सबका एकमात्र उद्देश्य श्रीकृष्ण को प्रसन्न करना है।

अध्याय ४२

सख्यरस में प्रेम के व्यवहार

श्रीकृष्ण की आयु, उनका सौन्दर्य, विगुल, वंशी, शंख और उनका मधुर अंगन्यास तथा अभिवृत्ति—ये सब सख्य भक्तिरस में उद्दीपन का काम करते हैं। उनका असाधारण विनोद, भी, पराक्रम, जो कभी-कभी राजकुमार अथवा भगवान् के रूप में उनके अभिनय में प्रकट होता है, भक्तों में उनके लिये सख्यरस को जगाता है।

विद्वानों ने श्रीकृष्ण की आयु के तीन भाग किये हैं—एक से पाँच वर्ष तक की अवस्था कौमार कहलाती है, छठे से दसवें वर्ष तक पौगण्ड अवस्था रहती है और ग्यारवें से पन्द्रहवें वर्ष की अवस्था को कैशोर कहते हैं। गोचारण की लीला के दिनों में श्रीकृष्ण की आयु कौमार और पौगण्ड में रहती है। कैशोर अवस्था में वे गोकुल में रहते हैं और सोलहवें वर्ष में प्रवेश करते-करते कंस को मारने मथुरा चले जाते हैं।

कौमार अवस्था बालकृष्ण और मैय्या यशोदा में होने वाले प्रेम-विनिमय के उपयुक्त है। श्रीमद्भागवत (१०.१३.११) में शुकदेव गोस्वामी राजा परीक्षित से कहते हैं, "हे राजन! भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण यज्ञों के परम भोक्ता हैं। फिर भी वे अपने गोपसखाओं के साथ भोजन किया करते। उस समय उन्होंने साधारण बाल का रूप धारण कर रखा था। पेट और परिधान के बीच में वंशी को धारण किए हुए, शृंग और बेंत को बगल में दबाये हुए, दही-भात से सने बांयें हाथ में उठाये हुए और फल खाते हुए जब वे सखाओं के बीच बैठते तो ऐसा प्रतीत होता मानो कमलदल के बीच कमल की कर्णिका शोभायमान हो। उन्हें इस प्रकार के हास-परिहास का आनन्द लेते देखकर स्वर्ग के देवता आश्चर्य से चकित होकर आवाक् रह जाते।

श्रीकृष्ण की पौगण्ड आयु के आद्य, मध्य तथा शेष—ये तीन भेद हैं। पौगण्ड अवस्था का प्रवेश होने पर अधरों में लालिमा का आधित्य, उदर में कृश्यता और गर्दन में शंख के समान चिह्न आदि प्रकट होते

हैं। उस समय बाहर से वृन्दावन को लौटने वाले कृष्ण को देखकर कह उठते, "हे मुकुन्द ! तुम्हारा सौन्दर्य शनैः शनैः बढ़ रहा है, ठीक अश्व के किसलय के समान। हे कमलनयन ! तुम्हारा कंठ शंख के समान स्फुटित तीन रेखाओं से युक्त हो गया है। चन्द्रिका के प्रकाश में तुम्हारी दन्तावलि और कपोलराशि पद्मराग मणि से स्पर्धा कर रही हैं। इस प्रकार तुम्हारी यह वर्तमान अपूर्व शोभा तुम्हारे सुहृदों के आनन्द का विधान कर रही है।''

इस वय में श्रीकृष्ण भाँति-भाँति के पुष्पों की मालाओं से सुशोभित रहते थे। वे रंग-बिरंगे वस्त्र और पीत दुपट्टा धारण करते। इस प्रकार के वस्त्राभूषण श्रीकृष्ण के अलंकार माने जाते हैं। दिन में गोचारण के लिये जाते हुए श्रीकृष्ण इसी प्रकार का परिधान धारण करते। कभी वे वहाँ अपने सुहृद मित्रों के साथ कुश्ती करते और कभी सब मिल कर केलि नृत्य करने लगते। ये पौगण्ड अवस्था की कुछ विशिष्ट क्रियाएँ हैं।

श्रीकृष्ण के गोप-बालकों के लिये उनका संग बड़ा ही आनन्ददायक था। अपने दिव्य भाव को उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया है—"हे कृष्ण ! तुम निरन्तर शोभायुक्त वृन्दावन में सर्वत्र विचरती हुई गायों को चराया करते हो। सुन्दर माला, नन्हा शंख, पगड़ी पर मोर मुकुट, कानों में लगे कर्णिकार के फूल, वक्षःस्थल पर विराजती हुई मल्लिका की माला—ये सब तुम्हारे सौन्दर्य का वर्धन कर रहे हैं। इस सुन्दर स्वरूप में जब तुम हमसे लड़ने का अभिनय करते हो तो हमें असीम, अतुल आनन्द की अनुभूति होती है।''

श्रीकृष्ण के मध्य पौगण्ड में प्रवेश करने पर उनकी नाक नुकीला, गाल गोल-गोल और दीप्त हो जाते हैं। पार्श्व अंग में त्रिवलि का उदय होता है।

ऐसी अवस्था में गोपबालकों को श्रीकृष्ण के संग का बड़ा गर्व हुआ। उस समय श्रीकृष्ण की नाक तिल कुसुम का उपहास कर रही थी; कपोलों की दीप्ति मणियों की ज्योति को हर रही थी और दोनों पार्श्व अंग विशिष्ट सौन्दर्य को प्राप्त हो रहे थे। इस अवस्था में श्रीकृष्ण विद्युत् की सी कान्ति वाला पीत रेशमी वस्त्र धारण करते हैं। उनके सिर पर रेशमी वस्त्र की पगड़ी सुशोभित रहती है और हाथ में वे सोने की मूठ वाली यष्टि धारण किये रहते हैं। इस काल की विशिष्ट लीलाओं का परिवेषण भाण्डीरवन में होता है। यह भाण्डीरवन अन्य ग्यारह वनों के साथ आज भी वृन्दावन धाम में है और सम्पूर्ण वृन्दावन की परिक्रमा करने

वाले भक्तजन आज भी इन वनों की शोभा का आस्वादन कर सकते हैं। श्रीकृष्ण के अप्रतिम सुन्दर रूप को देखकर एक भक्त अपने सखा से कहने लगा, "हे मित्र ! तनिक श्रीकृष्ण की ओर तो देखो। आज वे दोनों ओर सोने से मढ़ी हाथ की लाठी धारण किये हुए हैं और चमकते सुनहरी रेशमी वस्त्र की पगड़ी पहने हुए उनकी वेशभूषा सखाओं को परम आह्लादित कर रही है।"

पौगण्ड की शेष अवस्था में श्रीकृष्ण की केशराशि कभी नितम्बों तक लटकने लगती है और कभी इधर-उधर बिखर जाती है। इस अवस्था में उनके दोनों कंधे ऊँचे और चौड़े होते हैं और मुखमण्डल निरन्तर तिलक के चिह्न से सुशोभित रहता है। उनके कंधों पर बिखरे बालों को देखकर लगता है मानो श्रीदेवी उनका आलिंगन कर रही है। इस आलिंगन का इनके सखा खूब आनन्द लेते हैं। सुबल ने एक बार उनसे कहा था, "हे केशव ! तुम्हारी गोल-गोल पगड़ी, हाथ में पकड़ा हुआ कमल, ललाट पर तिलक की सीधी रेखा, कुंकुम मिश्रित सुगन्ध और सुन्दर वेष मुझे भी परास्त देने वाला है, यद्यपि मैं तुम और तुम्हारे सखाओं से पराक्रमी हूँ। फिर स्वभाव से ही सरल-मृदु गोपांगनाओं की क्या दशा होगी ?"

इस अवस्था में श्रीकृष्ण अपने सखाओं के कानों में धीरे-धीरे बोलने में आनन्द लेते हैं और उनकी वार्ता का विषय होता है—गोपियों का सौन्दर्य, जो सामने खड़े-खड़े उन्हें निहारा करती हैं। सुबल ने एक बार श्रीकृष्ण से कहा, "अरे धूर्त ! तू बड़ा चतुर है। तू दूसरों के मन की जान लेता है, इसलिए मैं तेरे कान में कहता हूँ कि सब गोपियों में ये जो पाँच सबसे अधिक सुन्दर हैं, ये तेरी वेश-भूषा पर मोहित हो गई हैं। लगता है कन्दर्प ने उन्हें तुझे परास्त करने में नियुक्त किया है।' भाव यह है कि यद्यपि श्रीकृष्ण त्रिभुवनविजयी हैं, पर गोपियों का सौन्दर्य श्रीकृष्ण को जीत सकता है।

कैशोर वय के लक्षणों का वर्णन पहले हो चुका है। यही वह अवस्था है जब भक्त श्रीकृष्ण का सबसे अधिक आस्वादन कर सकते हैं। श्रीकृष्ण की राधारानी के साथ किशोर-किशोरी के रूप में आराधना की जाती है। श्रीकृष्ण की वय इस कैशोर से आगे नहीं बढ़ती। ब्रह्मसंहिता' में प्रमाण हैं कि यद्यपि वे पुराणपुरुष हैं और अनन्त रूपधारी हैं फिर भी उनका मूल रूप नित्य यौवन है। जब भी हम कुरुक्षेत्र के युद्ध में श्रीकृष्ण का कोई चित्र देखते हैं तो उन्हें किशोर ही पाते हैं, यद्यपि उस समय तक उनके

बहुत से पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र तक हो चुके थे। गोप-सखाओं ने एक बार श्रीकृष्ण से कहा, "हे कृष्ण तुम्हें इन अलंकारों से क्या प्रयोजन ? तुम्हारा दिव्य रूप इतना मनोहर है कि तुम्हें इनकी कोई आवश्यकता नहीं।" इस अवस्था में जब भी श्रीकृष्ण प्रातःकाल अपनी वंशी को बजाते हैं तो उनके सारे सखा तुरन्त शैय्या को त्याग कर उनके साथ गोचारण को जाने के लिये प्रस्तुत हो जाते हैं। श्रीकृष्ण के एक सखा ने कहा, "हे गोप बालकों ! गोवर्धन पर्वत के ऊपर से आ रही श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि बता रही है कि अब हमें उन्हें खोजने के लिये यमुना तट पर नहीं जाना पड़ेगा।"

पार्वती ने अपने पति भगवान् शिव से कहा, "हे पंचमुख ! तनिक पाण्डवों की ओर देखिये। श्रीकृष्ण के पांचजन्य नामक शंख की ध्वनि को सुनकर वे अपने बल को फिर से प्राप्त हो गये हैं और अब सिंह के समान गर्जन कर रहे हैं।"

इस अवस्था में एक बार श्रीकृष्ण ने ठीक राधारानी सा वेष बनाया। उनका प्रयोजन अपने मित्रों में हास-परिहास का संचार करना था। उन्होंने सोने के कुण्डल धारण कर लिये और अपने काले रंग को ढकने के लिये राधारानी के वर्ण के समान कुंकुम का आलेप कर लिया। उनकी इस वेश-भूषा को देखकर सुबल मित्र को बड़ा आश्चर्य हुआ।

श्रीकृष्ण कभी-कभी खेल-खेल में अपने अंतरंग सखाओं के साथ लड़ते अथवा भुजाओं से कुश्ती करते। कभी गेंद खेलते तो कभी द्यूत। कभी वे एक दूसरे को अपने कंधे पर उठाते और कभी कूदने में अपनी कुशलता दिखाते गोपबालक भी पलने के आसन वाले झूले पर साथ-साथ बैठकर तथा नाना प्रकार के परिहास और जलाशयों में एक साथ विहार करके श्रीकृष्ण को प्रसन्न करते थे। ये सब क्रियाएँ अनुभव कहलाती हैं। सब सखा श्रीकृष्ण के संग में इकट्ठे होते तो वे तुरन्त इन सब कार्यों, विशेषतया नाचने में प्रवृत्त हो जाते। उनकी कुश्ती के सम्बन्ध में एक मित्र श्रीकृष्ण से कहता है, "सखा ! हे अघारी ! तुम बड़े अभिमान के साथ आज मित्रों में घूम-घूमकर अपनी भुजाओं के बल का प्रदर्शन कर रहे हो इसका कारण कहीं यह तो नहीं कि तुम मुझसे ईर्ष्यालु हो। मैं यह भली प्रकार से जानता हूँ कि तुम कुश्ती में मुझे हरा नहीं सकते। मुझे हरा न सकने की निराशा में मैंने तुम्हें बहुत देर तक अकेले बैठे देखा है।"

श्रीकृष्ण के सारे सखा बड़े ही साहसी थे। किसी भी कठिनाई से नहीं डरते थे। उन्हें पूरा विश्वास था कि श्रीकृष्ण सब उद्यमों में

उन्हें विजयी बनायेंगे। वे आपस में बैठकर कर्तव्य-अकर्तव्य का विचार करते. एक दूसरे को हितकार्य में प्रवृत्त करते। कभी-कभी वे एक-दूसरे के मुख में पान खिलाते अथवा एक-दूसरे के शरीरों में चन्दन का आलेप करते। कभी-कभी हास-परिहास के लिये वे विचित्र रूपों में अपने मुखों को सजाते। श्रीकृष्ण के सखाओं का एक अन्य कार्य स्पर्धापूर्वक श्रीकृष्ण को हराना था। वे उनके वस्त्रों को खींच लेते, तो कभी उनके हाथ में पकड़े हुए पुष्पों को। कभी-कभी वे एक-दूसरे को अपने शरीर की सज्जा में प्रवृत्त करते और ऐसा न करने पर हाथापाई का प्रसंग भी उठ आता। श्रीकृष्ण और उनके सखाओं के ये सामान्य कार्य हैं।

श्रीकृष्ण के सखाओं का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य गोपियों के पास श्रीकृष्ण का और श्रीकृष्ण के पास गोपियों का दूत बनकर जाना है। वे गोपियों से श्रीकृष्ण का परिचय कराते और फिर श्रीकृष्ण के लिये दूत का कार्य करते। जब गोपियों और श्रीकृष्ण में प्रणयकलह हो जाती तो श्रीकृष्ण की उपस्थिति में तो ये सखा श्रीकृष्ण का ही पक्ष लेते, परन्तु जब श्रीकृष्ण वहाँ नहीं होते तो गोपियों का साथ देते। इस प्रकार कभी एक का पक्ष लेते हुए और कभी दूसरे का पक्ष लेते हुए वे बड़ी चातुरी के साथ कानाफूसी करते।

श्रीकृष्ण के सेवक समय-समय पर उनके लिये फूल चुनते, उनके शरीर को अलंकारों से सजाते-सँवारते, उनके आगे नाचते-गाते, उन्हें गोचारण में सहायता देते, उनके शरीर की मालिश करते, उनके लिये सुन्दर-सुन्दर पुष्पों के हार बनाते और कभी-कभी उन्हें हवा करते। ये सब श्रीकृष्ण के सेवकों के प्रधान कर्तव्य हैं। श्रीकृष्ण के सखा और सेवक दोनों मिलकर सेवा करते और उनकी इन सब क्रियाओं का नाम अनुभाव है।

जब श्रीकृष्ण कालिय नाग का अनुशासन करके यमुना से निकले तो श्रीदामा सबसे पहले उनका आलिंगन करने के लिये दौड़ा; परन्तु वह चाहते हुए भी अपने स्तम्भित हाथों को ऊपर न उठा सका।

जब श्रीकृष्ण अपनी वंशी बजाते तो उससे निकली ध्वनि स्वाति नक्षत्र में आकाश में होने वाली मेघों की गर्जना जैसी लगती। वैदिक ज्योति शास्त्र के अनुसार यदि स्वाति नक्षत्र की वर्षा सागर पर गिरे तो वह मोती को जन्म देती है और यदि सर्प पर गिरे तो रत्नों की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार जब स्वाति नक्षत्र के मेघगर्जन के समान श्रीकृष्ण की वेणु गरजी तो श्रीदामा के शरीर पर उत्पन्न स्वेदकण मुक्ताहल की सी शोभा पाने लगे।

श्रीकृष्ण और श्रीदामा को परस्पर आलिंगन करते देखकर श्रीमती राधारानी तनिक ईर्ष्या से भर गईं और अपने क्रोध को छिपाकर बोलीं, "हे सुबल ! तुम बड़े भाग्यवान् हो, जो पूज्यों की उपस्थिति में भी तुम्हें और श्रीकृष्ण को परस्पर आलिंगन करने में जरा संकोच नहीं हुआ। अवश्य ही तुमने पूर्वजन्म में महान् तप-त्याग किया होगा।" श्रीमती राधारानी प्रायः श्रीकृष्ण का आलिंगन किया करती थीं। परन्तु पूज्यों की उपस्थिति में उनके लिये ऐसा करना सम्भव न था; जबकि सुबल ऐसा खुले रूप से कर सका। अतएव राधारानी ने उसके सौभाग्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

जिस समय श्रीकृष्ण ने कालिय दह में प्रवेश किया तो उनके अंतरंग सखा इतने उद्विग्न हो उठे कि उनके शरीर का रंग उड़ गया और वे भयंकर धड़धड़ ध्वनि करने लगे। ऐसी अवस्था में वे तुरन्त अचेतन होकर भूमि पर गिर पड़े। इसी प्रकार जब वन में अग्नि लगी तो श्रीकृष्ण के सभी सखाओं ने अपने गोधन की चिन्ता किये बिना चारों ओर से उन्हें घेर लिया और अग्नि की ज्वाला से उनकी रक्षा करने लगे। सखाओं के इस व्यवहार को मनीषिजनों ने व्यभिचारी कहा है। व्यभिचारिभाव में कभी-कभी मद, दक्षता, भय, आलस्य, हर्ष, गर्व, श्रम, धृति, व्याधि, विस्मृति और दैन्य आदि भाव होते हैं। ये सब श्रीकृष्ण के व्यभिचारिभाव के सामान्य लक्षण हैं।

जब श्रीकृष्ण और उनके सखाओं में सम्भ्रम के भाव से सर्वथा रहित रति होती है जिसमें वे एक-दूसरे को समान समझते हैं तो ऐसे सख्य भाव को स्थायी कहते हैं। श्रीकृष्ण से ऐसी घनिष्ठ सख्यरति में प्रेम के प्रणय, प्रेम, स्नेह तथा राग आदि लक्षण प्रकट रहते हैं। स्थायी का उदाहरण अक्रूर से कहे अर्जुन (ये अर्जुन भगवद्गीता के अर्जुन से भिन्न हैं) के वाक्य से प्रकट होता है—"हे गान्दिनीनन्दन ! कृपया श्रीकृष्ण से पूछियेगा कि मैं अपनी भुजाओं में उनका आलिंगन कब कर सकूँगा ?"

जब श्रीकृष्ण की श्रेष्ठता का पूर्ण ज्ञान हो, परन्तु फिर भी उनसे सख्यरस के व्यवहार में सम्भ्रम की गन्ध का भी अभाव हो तो उस अवस्था को प्रणय कहते हैं। इस प्रणय का एक उज्ज्वल उदाहरण है—जब शिव आदि देवता भगवान् के कीर्तिमय ऐश्वर्यों को बखानते हुए सादर प्रणाम कर रहे थे तो श्रीकृष्ण के सामने उनके कन्धे पर हाथ रख कर खड़ा अर्जुन उनके मोरपंख से धूलि झाड़ने लगा।

जिस समय दुर्योधन द्वारा राज्य से निर्वासित होकर पाण्डव वन में अज्ञातवास कर रहे थे उस समय कोई भी उनके निवास को नहीं जान सका। ऐसे समय में देवर्षि नारद भगवान् श्रीकृष्ण से मिलने आए और कहने लगे, "हे मुकुन्द ! आप परम पुरुष स्वयं भगवान् हैं। परन्तु फिर भी आपकी मित्रता के कारण पाण्डव को विश्व के साम्राज्य के अपने उचित अधिकार से वंचित होना पड़ा है और अब वे वन में अज्ञात वास कर रहे हैं। यहाँ तक कि उन्हें दूसरों के यहाँ दास्य कर्म तक करना पड़ा है। ये सब लक्षण लौकिक दृष्टि से बड़े अमंगलमय प्रतीत होते हैं। परन्तु प्रसन्नता का विषय है कि इन सब दुःखों के होते हुए भी उनमें आपके प्रति जो विश्वास और प्रेम था उसमें कोई अन्तर नहीं आया है। वास्तव में तो वे निरन्तर आपके सख्यरूप अमृत में निमग्न हुए आपके नामों का ही कीर्तन किया करते हैं।"

श्रीकृष्ण के लिये स्नेह के आधिक्य का उदाहरण श्रीमद्भागवत (१०.१५.१८) में है। गोचारण भूमि में विचरते श्रीकृष्ण को तनिक श्रान्ति अनुभव हुई और वे विश्राम चाहने लगे। अतएव भूमि पर लेट गये। उस समय बहुत से गोप-बालक वहाँ एकत्रित हो गये और बड़े स्नेह से गीत गाने लगे, जिससे श्रीकृष्ण भली प्रकार से विश्राम कर सकें।

कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में कृष्ण और अर्जुन के सख्य का उदाहरण तो प्रसिद्ध है ही। युद्ध के बीच द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने अनुचित रूप से श्रीकृष्ण पर आक्रमण किया। उस समय के प्रचलित युद्धनियमों के अनुसार शत्रु को अपने शत्रु के सारथि पर कभी आक्रमण नहीं करना चाहिए। अश्वत्थामा ने नाना प्रकार से पाप का आचरण करते हुए श्रीकृष्ण के विग्रह पर भी आक्रमण करने में संकोच नहीं किया, यद्यपि श्रीकृष्ण अर्जुन का सारथ्य कर रहे थे। जब अर्जुन ने देखा कि अश्वत्थामा श्रीकृष्ण को मारने के लिये नाना प्रकार के बाण चला रहा है तो वह उन्हें रोकने के लिये एकदम श्रीकृष्ण के आगे आकर खड़ा हो गया। उस समय बाणों की चोट लगने पर भी अर्जुन को श्रीकृष्ण के लिये दिव्य प्रेम का अनुभव हो रहा था; बाणों की मार उसे फूलों की बरसात लग रही थी।

सख्यभक्तिरस में श्रीकृष्ण के लिये प्रेमभाव का एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है। वृषभ नामक गोपबालक वन में श्रीकृष्ण की माला के लिये पुष्प चुन रहा था। तभी मध्याह्न काल हो आया और सूर्य

ज्योति बड़ी प्रचण्ड हो उठी। परन्तु फिर भी वृषभ को वह चन्द्रिका के समान शीतल प्रतीत हो रही थी। वास्तव में भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा करने की यही विधि है। जब भी भक्तों को कष्ट होता है तो पाण्डवों के समान जैसा ऊपर वर्णन किया गया है, वे समझते हैं कि यह दुःख भगवान् की सेवा के लिये महान् अवसर है।

श्रीकृष्ण से अर्जुन के सख्य का वर्णन करते हुए नारदजी ने श्रीकृष्ण को स्मरण कराया, "बाण-विद्या को सीखने में लगा अर्जुन बहुत दिनों से आपको देख नहीं पाया था। परन्तु जैसे ही आप वहाँ पहुँचे, उसने अपने सम्पूर्ण कार्य रोक दिये और तुरन्त आपका आलिंगन किया।" तात्पर्य यह है कि युद्धविद्या सीखने में तत्पर होने पर भी अर्जुन श्रीकृष्ण को क्षणभर के लिये भी नहीं भूला और जैसे ही उसे श्रीकृष्ण को देखने का अवसर मिला, अर्जुन ने तत्क्षण उनका आलिंगन किया।

श्रीकृष्ण के एक पत्री नामक सेवक ने उनका एक बार सम्बोधन करते हुए कहा, "हे नाथ! आपने गोपबालकों की अघासुर की भूख से, कालिय के विष से और भयंकर वन-अग्नि से रक्षा की है; परन्तु मैं आपकी विरह-अग्नि से पीड़ित हूँ, जो अघासुर की भूख, कालिय के विष, और वन की अग्नि से भी अधिक है। ऐसे में इस विरह अग्नि से आप मेरी रक्षा क्यों नहीं करते?" एक अन्य मित्र श्रीकृष्ण से कहने लगा, "हे कंसारि! जब से हमें छोड़ गये हो तब से विरह की ज्वाला असाधारण हो उठी है। यह विरह व्यथा अधिक तीव्र हो उठती है जब हम यह जानते हैं कि भाण्डीर वन में आप भानु तनया राधारानी रूपी शीतल नदी की लहरों में श्रम खो रहे हैं।"

कोई मित्र श्रीकृष्ण से कहता है, 'हे कृष्ण! हे अघारी! राजा कंस को मारने के लिये तुम्हारे मथुरा चले जाने पर सब गोपबालकों के शरीरों में पाँच में से चार भूत अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि और आकाश कृशता को प्राप्त हो गये और पाँचवा, अर्थात् वायु भी उनकी श्वासमार्ग में बड़ी तीव्रता से चलने लगा।" कंस के वध के लिये श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर सब के सब गोप बालक विरह से ऐसे व्यथित हुए कि मृतप्रायः हो गए। जब कोई मर जाता है तो कहा जाता है कि उसने पंचमहाभूतों को छोड़ दिया है क्योंकि मृत देह पुनः इन पंचमहाभूतों में मिलकर विलीन हो जाती है। इस सन्दर्भ में पृथ्वी, जल, अग्नि और आकाश, ये चार तत्त्व तो बिल्कुल चले ही जा चुके थे; पाँचवा वायु तब भी बड़ा प्रधान था और बड़ी ही तीव्र गति से उनके श्वास मार्ग में चल रहा था। भाव यह है कि

जब श्रीकृष्ण वृन्दावन को छोड़ गए, तब गोपबालकों को इस बात की बड़ी चिन्ता हुई कि कंस से उनके युद्ध में क्या परिणाम होगा।

एक अन्य मित्र श्रीकृष्ण से कहने लगा, "हे सखे ! एक मित्र को तुम्हारे विरह ने ऐसा सताया कि उसके नेत्र रूपी कमल अश्रुधारा से अभिपूरित हो गये। अतएव निद्रारूपी काले भ्रमरों ने उसके नेत्रों में प्रवेश नहीं किया और उस स्थान को छोड़कर चले गये।" भ्रमर प्रायः मधु-संचय के लिये कमल पर मँडराया करते हैं। श्रीकृष्ण के सखा के नेत्रों को कमल की उपमा दी गई है और क्योंकि वे अश्रुधारा से पूर्ण थे, इसलिये निद्रारूपी भ्रमर उसके नेत्ररूपी कमलों से मधु का संचय नहीं कर सके और वहाँ से चले गये। भाव यह है कि विरह से अत्यधिक अभिभूत होने के कारण उसके नेत्र भर आये और वह सो न सका। यह श्रीकृष्ण के विरह में निद्रानाश का उदाहरण है।

आलम्बनशून्यता का उदाहरण इस प्रकार है—"श्रीकृष्ण के वृन्दावन से मथुरा चले जाने पर श्रीकृष्ण के प्रियतम ग्वाल सखाओं के चित्त एकदम हलका हो गये और रुई के समान हवा में इधर-उधर निराश्रित होकर चक्कर खाने लगे।" भाव यह है कि श्रीकृष्ण के विरहवश गोपबालकों के मन बिल्कुल साारहीन हो गये। अधृति का भी एक उदाहरण गोपबालकों में तब प्रकट हुआ जब श्रीकृष्ण मथुरा को गये थे। विरह की व्यथा में ये सब बालक अपने गोधन का ध्यान करना भूल गये और उन मधुर गीतों को भुलाने का प्रयास करने लगे जो वे गोचारण करते समय गाया करते थे। श्रीकृष्ण के विरह में उनमें जीने की भी कोई इच्छा शेष न रही।

श्रीकृष्ण के विरह में होने वाली जड़ता का वर्णन करते हुए एक सखा उनसे बोला कि उनके विरह में गोपबालक पर्वत-शिखरों पर खड़े पत्तों से रहित वृक्ष जैसे हो गये हैं। पत्तों अर्थात् वेशभूषा से रहित होने के कारण वे अत्यन्त कृश और रूखे लगते हैं। उनमें फल-फूलों अर्थात् कान्ति का भी सर्वथा अभाव हो गया है। इस प्रकार सब के सब गोपबालक पर्वत के शिखरों पर खड़े वृक्षों के समान स्तम्भित लग रहे थे। कभी-कभी उन्हें श्रीकृष्ण के विरह में व्याधि का अनुभव होता और इस प्रकार तीव्र विरहज्वर से शिथिलप्रायः होकर वे यमुनातट पर इधर-उधर टहलने लगते।

श्रीकृष्णविरह में होने वाले उन्माद के भी अनेक उदाहरण हैं। जब श्रीकृष्ण वृन्दावन से चले गये तो सारे गोपबालकों को उन्माद हो

आया और वे सब प्रकार के जगत्-व्यवहार को भूल बैठे। इस पागलपन में उन्हें अपने दैनिक कर्तव्यों की भी सुध न रही। वे कभी भूमि पर सो जाते, कभी धूलि में लौटने लगते, कभी हँसने और कभी दौड़ने लग जाते। ये सब लक्षण उन्हें पागल सिद्ध कर रहे थे। श्रीकृष्ण के एक सखा ने उनकी निन्दा करते हुए कहा, "हे नाथ ! कंस को मार कर अब आप मथुरा के नरेश बन गये हैं। यह बड़ा मंगलमय समाचार है। परन्तु वृन्दावन का भी कुछ विचार करें। वहाँ के सारे निवासी आपके विरह में निरन्तर रोने के कारण अन्धे हो चले हैं। वे व्याकुलता से पूर्ण हैं और उन्हें आपके मथुरा नरेश बन जाने पर तनिक भी हर्ष नहीं है।"

कभी-कभी श्रीकृष्ण के विरह में मृत्यु के लक्षण भी होते हैं। एक बार श्रीकृष्ण से कहा गया, "हे कंसारि श्रीकृष्ण ! तुम्हारे विरह की पीड़ा में गोप-बालक बहुत अधिक कष्ट पा रहे हैं और अब पर्वत की घाटियों में मन्द-मन्द श्वास लेते हुए पड़े हैं। उनकी दयनीय अवस्था से सहानुभूति दिखाते हुए वन के मृग तक आँसू बहा रहे हैं।"

स्कन्दपुराण के मथुराखण्ड में गोपबालकों के साथ निरन्तर गोधन की देखभाल करते हुए कृष्ण-बलराम का वर्णन है। जब श्रीकृष्ण द्रुपद नगर में कुम्भकार के घर में अर्जुन से मिले तो अपने शारीरिक रूप की समानता के कारण उनमें अंतरंग घनिष्टता हो गई। यह योग में सिद्धि, अर्थात् समान देहों के आकर्षण से होने वाली मित्रता का उदाहरण है।

श्रीमद्भागवत (१०.७१.२७) में उल्लेख है कि जब श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थ नगरी में पधारे तो प्रेम और आनन्द से विह्वल हुए भीमने अश्रुपूरित नेत्रों से और हँसते हुए मुख से अपने ममेरे भाई का तुरन्त आलिंगन कर लिया। उनके पीछे-पीछे अर्जुन के साथ नकुल, सहदेव भी खड़े थे और वे भी श्रीकृष्ण का दर्शन पाकर ऐसे अभिभूत हो गये कि श्रीअच्युत का आलिंगन करके पूर्ण सन्तोष प्राप्त किया। वृन्दावन के गोपबालकों के सम्बन्ध में ऐसा ही कथन है। जिस समय श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में विराज रहे थे; उस समय सारे गोपबालक नाना प्रकार के कर्ण-कुण्डल पहनकर उनके पास उन्हें देखने आये। अपने पुराने मित्र को देखकर रोमांचित भुजाओं से उन्होंने श्रीकृष्ण का अलिंगन किया। ये सब श्रीकृष्ण के सख्य में होने वाले पूर्ण सन्तोष के उदाहरण हैं।

श्रीमद्भागवत (१०.१२.१२) में कथन है कि महान ध्यानयोगियों के लिये कठोर तप-त्याग और योग का अभ्यास करने पर भी जिनके चरण-कमलों की रज दुर्लभ है, वही श्रीभगवान् वृन्दावनवासियों के लिये सुगमता

से दृष्टिगोचर हैं। भाव यह है कि इन भक्तों के महाभाग्य की कोई तुलना नहीं है। गोपबालकों का श्रीकृष्ण से जो सख्य सम्बन्ध है वह विशिष्ट प्रकार की दिव्य भावानुभूति है और प्रायः माधुर्य प्रेमभाव जैसा है। गोपबालकों और श्रीकृष्ण में होने वाले प्रेम व्यवहार का वर्णन बहुत कठिन है। श्रील रूप गोस्वामी जैसे विरक्त भक्तों ने श्रीकृष्ण और उनके गोपबाल सखाओं के अनिर्वचनीय भावों पर विस्मय व्यक्त किया है।

श्रीकृष्ण और उनके अन्तरंग सखाओं द्वारा परस्पर आस्वादित यह विशेष प्रकार का प्रेमभाव आगे वात्सल्यप्रेम में विकसित होता है और उससे आगे माधुर्यप्रेम का रूप धारण कर लेता है, जो श्रीकृष्ण और उनके भक्तों में होने वाला सर्वोच्च रस है।

अध्याय ४३

वत्सलभक्तिरस

जब प्रेम का भाव बढ़कर वात्सल्य सम्बन्ध में विकसित हो जाता है और स्थायित्व को प्राप्त हो जाता है तब उस सम्बन्ध को वात्सल्यरस कहते हैं। भक्ति के वात्सल्यरस का प्रकाश श्रीकृष्ण और उनके पिता-माता आदि गुरुजनों के परस्पर व्यवहार में पाया जाता है।

विद्वानों ने श्रीकृष्ण के गुरुजनों में उनके लिए पाए जाने वाले वात्सल्य प्रेम के उद्दीपनों का वर्णन किया है। वे कहते हैं—"जिनकी देह नवीन कुवलय माला के समान श्याम एवं कोमल है, कमलनयन केशराशि रूप भ्रमर पंक्ति से घिरे हुए हैं, ऐसे पुत्र कृष्ण को वृन्दावन में घूमते देखकर नन्द महाराज की गृहिणी यशोदा मैय्या के स्तनों से दुग्ध की धारा बह चली, जिससे उनका सारा शरीर भीग गया।" श्रीकृष्ण के लिए वात्सल्यप्रेम का उद्दीपन करने वाले कुछ विशिष्ट उद्दीपक हैं—उनकी श्यामल देह, उनका सर्वमंगलमयचिह्नों से युक्त स्वरूप, उनकी मृदुता, उनके मधुर वचन, उनकी सरलता, उनकी लज्जा, निरन्तर गुरुजनों के सम्मान करने की भावना, एवं उदारता—ये सब गुण वात्सल्यरस के उद्दीपन माने जाते हैं।

श्रीमद्भागवत (१०.८.४५) में शुकदेव गोस्वामी का कथन है कि जिन्हें सम्पूर्ण वेदों में सर्वोच्च देव, उपनिषदों में निर्विशेष ब्रह्म, दर्शन में परम पुरुष माना गया है; योगी जिन्हें परमात्मा जानते हैं और भक्त भगवान् स्वीकार करते हैं, उन्हीं श्रीकृष्ण को यशोदा मैय्या अपना पुत्र मानती हैं। एक बार यशोदा मैय्या ने अपनी एक सखी से कहा, "व्रजराज नन्द महाराज मेरे साथ भगवान् विष्णु की आराधना करते हैं। इसी के फलस्वरूप कृष्ण पूतना और अन्य राक्षसों के चंगुल से बच गया। अर्जुन को तेज आंधी ने गिरा दिया है और यद्यपि समझा जाता है कि कृष्ण ने बलरामजी के साथ मिलकर गोवर्धन पर्वत को धारण किया,

मैं समझती हूँ कि वास्तव में नन्द महाराज ने ही पर्वत को उठाया था। नहीं तो, नन्हे से बालक के लिये ऐसे बड़े पर्वत को उठाना कहाँ सम्भव था।" यह भी वात्सल्यरस का उदाहरण है। इस वात्सल्यरस का उद्भव भक्त के प्रेम में इस विश्वास के कारण होता है कि वह श्रीकृष्ण का पूज्य है और यदि वह कृष्ण का लालन-पालन नहीं करेगा तो श्रीकृष्ण जीवित नहीं रह सकेंगे। अतएव एक भक्त ने श्रीकृष्ण के माता-पिता से प्रार्थना की है— "मैं श्रीकृष्ण के गुरुजनों को प्रणाम करता हूँ। वे द्रवितचित्त महानुभाव निरन्तर श्रीकृष्ण की सेवा और लालन-पालन को आतुर रहते हैं। जगत् के पिता के लिए ऐसे कृपाभाव को रखने वाले इन महाभागवतों को सादर प्रणाम है।"

एक ब्राह्मण अपनी प्रार्थना में कहता है—"जो वेद उपनिषदों को पढ़ते हैं वे ऐसा किया करें और जो बन्धन के भय से मुक्त होने के लिये महाभारत को भजते हैं, वे भी भजते रहें। परन्तु जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं तो केवल महाराज नन्द का भजन करता हूँ जिसके आँगन में साक्षात् परब्रह्म श्रीकृष्ण बालरूप में क्रीड़ामग्न हैं।" श्रीकृष्ण में वात्सल्य स्नेह रखने वाले गुरुजनों के नाम इस प्रकार हैं—व्रजेश्वरी यशोदा मैय्या, व्रजेन्द्र नन्दमहाराज, बलराम की मैय्या रोहिणी, वे सब वृद्धा गोपियाँ जिनके पुत्रों को ब्रह्माजी ने हर लिया था, वसुदेव-गृहिणी देवकी, वसुदेव की अन्य पन्द्रह स्त्रियाँ, अर्जुन की माता कुन्ती, श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव, श्रीकृष्ण के गुरु सान्दीपनी मुनि—ये सब श्रीकृष्ण के गुरुजन उनमें वात्सल्य प्रेम रखते हैं। इनमें जिनका नाम पहले है वे अगलों से से श्रेष्ठ माने जाते हैं। इस प्रकार यशोदामैय्या और नन्दमहाराज का स्थान गुरुजनों में सर्वोच्च है।

श्रीमद्भागवत (१०.९.३) में शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित से यशोदा मैय्या के रूप और सौन्दर्य का वर्णन करते हैं। वे कहते है—"हे राजन्! यशोदा मैय्या ने कमर में रेशमी वस्त्र बाँधा हुआ था, पुत्र के लिये स्नेहवश उनके स्तनों से दुग्धधारा निर्झरित हो रही थी। नवनीत निकालने के लिये जब वे रस्सी को पकड़कर दुग्ध का मन्थन करतीं तो उनके हाथ के कंगन और कानों के कुण्डल हिलकर बजने लगते और केशराशि में सुशोभित पुष्प गिरने लगते। अतिश्रम के कारण उनका मुखमण्डल श्वेत कणों से भर जाता।"

एक अन्य भक्त ने अपनी प्रार्थना में यशोदा मैय्या का चित्रण किया है—"डोरी से जिनके घुंघराले बालों का जूड़ा बन्धा हुआ है, जिनकी माँग

सिंदूर से भरी हुई शोभा पा रही है, और जिनके अंग सम्पूर्ण अलंकारों का तिरस्कार कर रहे हैं, जो नेत्रों से निरन्तर श्रीकृष्ण को निहारा करती हैं और इस प्रकार जिनके नेत्र निरन्तर अश्रुपूर्ण रहते हैं, नीलकमल के समान कान्तिवाली, नाना वर्ण के परिधान से विभूषिता, यशोदा मैय्या की हम शरण लेते हैं। उनकी कृपा-कटाक्ष हम पर पड़े जिससे हम माया के बन्धन से बचकर सुगमता से भक्तिपथ पर अग्रसर हो सकें।''

श्रीकृष्ण के लिये यशोदा मैय्या के स्नेह का वर्णन इस प्रकार है—प्रातःकाल उठकर यशोदा मैय्या सबसे पहले श्रीकृष्ण को स्तनपान करातीं, फिर उनकी रक्षा के लिये नाना मन्त्रों का उच्चारण करतीं, उनके ललाट को अच्छी प्रकार से विभूषित करतीं और उनकी भुजा में मन्त्रौषधि बाँधती हैं। इस सबसे स्पष्ट है कि वे श्रीकृष्ण के लिये वात्सल्यरस की साक्षात् मूर्ति हैं।''

नन्द महाराज का रूप इस प्रकार है—"उनके सिर के बाल कुछ काले हैं और कुछ श्वेत हैं। वे बरगद के पत्ते के समान हरित वस्त्र धारण किए रहते हैं। उनका पेट बढ़ा हुआ है और शरीर का वर्ण ठीक पूर्ण चन्द्र जैसा है। वे सुन्दर दाढ़ी-मूँछ से युक्त हैं।'' बाल्यकाल में एक दिन श्रीकृष्ण घर के प्रांगण में पिता की उंगली पकड़े-पकड़े चल रहे थे। स्थिरतापूर्वक न चल सकने के कारण वे गिरे जा रहे थे। जिस समय नन्द महाराज अपने दिव्य पुत्र को इस प्रकार संरक्षण दे रहे थे तभी एकाएक उनके नेत्रों में आँसू आ निकले और वे हर्षातिरेक से विह्वल हो गए। उन नन्द महाराज के चरणकमलों में हमारा सादर प्रणाम।

कौमार की आयु, वेशभूषा, चेष्टा, बालक की चपलता, मधुर वचन, मुस्कराना, और लीला आदि को विद्वानों ने वात्सल्यरस का उद्दीपन बतलाया है। कौमार अवस्था आद्य, मध्य, और शेष—इस भेद से तीन प्रकार की मानी गई है। कौमार अवस्था के प्रारम्भ में कमर और जंघाओं की स्थूलता, नेत्रों के किनारों की श्वेतिमा, नन्हें-नन्हें दाँतों का निकलना, अत्यन्त मृदु तथा कोमलता आदि होते हैं। उस समय उनका वर्णन इस प्रकार है, "जिनका मुख तीन-चार दांतों से शोभायमान है, जिनकी जंघायें खूब मोटी-मोटी हैं और जिनका शरीर बहुत छोटा है, ऐसे श्रीकृष्ण अपनी शैशव क्रीड़ा से नन्द महाराज और यशोदा मैय्या के आनन्द का वर्धन कर रहे हैं। वे कभी-कभी बार-बार अपने नन्हें-नन्हें चरणों से चलने का प्रयास करते, कभी रोते, कभी हँसते और कभी अंगूठा चूसते हुए भूमि पर चित पड़ जाते।'' ये

सब बालकृष्ण की विविध लीलाएँ हैं, क्रीड़ाएँ हैं। जब श्रीकृष्ण भूमि पर चित पड़े हुए कभी अपने चरण के अंगूठे को चूसने लगने, कभी हँसते; कभी रोते तो उनकी इस प्रकार की लीला को देखकर यशोदा मैय्या उन्हें तनिक भी मना करने की चेष्टा नहीं करतीं। वरन् वे तो बड़ी उत्सुकता से देखते हुए अपने पुत्र की शैशव लीला का आनन्द लिया करती थीं। श्रीकृष्ण की कौमार अवस्था के प्रारम्भ में उनके गले में सोने के हार में बघनखा पहनाया गया था, ललाट पर गोरु चन्दन का तिलक था, नेत्रों में काजल और कमर में सुनहरी रेशमी डोरी थी। यह कौमार के प्रारम्भ में श्रीकृष्ण की वेशभूषा का वर्णन है।

वक्षःस्थल पर बघनखा धारण किए, नवीन तमाल वृक्ष के समान वर्ण से युक्त, गोरोचन तिलक से शोभायमान, हाथ में सुन्दर रेशमी डोरी बाँधे हुए और कमर में रेशमी वस्त्रों से सुसज्जित भगवान् श्रीकृष्ण के इस सुन्दर रूप को देखकर नन्द महाराज कभी तृप्त नहीं होते थे।

मध्य कौमार अवस्था में श्रीकृष्ण के बालों का अगला भाग नेत्रों के चारों ओर बिखर जाता। कभी वे कमर के नीचे वस्त्र धारण करते तो कभी एकदम नंगे रहते। कभी वे एक-एक पग बढ़ाकर आगे चलने का प्रयास करते और कभी टूटी भाषा में बड़ा मधुर बोलते। ये सब उनकी मध्य कौमार अवस्था के कुछ लक्षण हैं। उस समय यशोदा मैय्या ने उनके जिस रूप को देखा उसका वर्णन इस प्रकार है, "उनके बिखरे बाल भौंहों को छू रहे थे और नेत्र भी बड़े चंचल हो चले थे। वे अपने भाव को ठीक-ठीक व्यक्त नहीं कर पा रहे थे। फिर भी जब वे बोलते तो उनकी वाणी बड़ी मधुर और श्रुतिप्रिय होती। जब यशोदा मैय्या ने उनके नन्हें-नन्हें कानों और नन्हें शरीर की ओर देखा और पाया कि वे अपने नन्हें-नन्हें चरणों से जल्दी-जल्दी भागने का प्रयास कर रहे हैं, तो वे मानो अमृत के सिन्धु में निमग्न हो गईं। इस अवस्था में श्रीकृष्ण के आभूषण हैं—नाक के अगले भाग पर धारण किया हुआ मोती, हाथ में मक्खन और कमर आदि में बँधी किंकिणी। जब यशोदा मैय्या ने अपने बालक को कमर में बँधी किंकिणी का शिञ्जन करते हुए, नाक में सुन्दर मोती धारण किए हुए, हाथ में मक्खन लिए हुए और मुस्कराते हुए चलने का प्रयास करते हुए देखा तो वे अपने नन्हें से बालक की इस मुद्रा पर मुग्ध रह गईं।

जिस समय श्रीकृष्ण अपने कौमार की शेष अवस्था में थे, उस समय उनकी कमर पतली हो गई, वक्षःस्थल चौड़ा हो गया और

सिर घुंघराली अलकावली से सुशोभित हो गया जो काक पक्षा जैसे प्रतीत हो रहे थे। श्रीकृष्ण के इस अद्भुत स्वरूप को देखकर यशोदा मैय्या कभी चकित हुए बिना नहीं रहती थीं। कौमार के अन्त में श्रीकृष्ण हाथ में नन्हीं सी लाठी धारण करने लगे। उनके वस्त्र कुछ लम्बे हो गए और कमर में गाँठ लगा ली। कमर को लगाई लंगोटी सर्प-फन को लज्जित कर रही थी। इस वेषभूषा में वे घर के निकट ही बछड़ों की देखभाल करते और कभी-कभी अपने ही समवयस्क गोपबालकों के साथ खेलते। उनके पास एक पतली सी वंशी और एक शृंग भी था। एवं कभी-कभी वे पेड़ों के पत्तों से बनी वंशी भी बजाते थे। ये सब श्रीकृष्ण के अन्तिम कौमार के लक्षण हैं।

जब श्रीकृष्ण कुछ बड़े हो गए तो बछड़ों को चराते-चराते प्रायः वन के निकट चले जाते। घर लौटते में जब उन्हें थोड़ा सा भी विलम्ब हो जाता तो नन्द महाराज तुरन्त चन्द्रशालिका पर चढ़कर उनका मार्ग जोहने लगते। चन्द्रशालिका से वे तब तक नहीं उतरते जब तक यशोदा मैय्या को यह संकेत न दे पाते कि अपने नन्हें गोपसखाओं और बछड़ों से घिरे हुए श्रीकृष्ण लौट रहे हैं। पुत्र के सिर पर लगे मोरपंख की ओर संकेत कर-कर के नन्द महाराज अपनी प्रिय गृहिणी को सूचित करते कि बालक किस प्रकार उसके नेत्रों को आनन्दित कर रहा है।

यशोदा मैय्या तब महाराज से इस प्रकार कहतीं, "देखिए मेरे पुत्र को! जिसके नेत्र श्वेतिमा से युक्त हैं, जिसने अपने सिर पर पगड़ी धारण कर रखी है, और जिसके शरीर पर दुपट्टा और चरणों में बँधे नूपुर मधुर शिञ्जन कर रहे हैं। वह निकट आ रहा है, अपने सुरभि बछड़ों के साथ। देखो-देखो कैसे वह वृन्दावन की पावन भूमि में विहार कर रहा है।"

इसी प्रकार नन्द महाराज अपनी गृहिणी से कहते हैं, "हे यशोदे! अपने पुत्र कृष्ण को तो देखो। उसके देह की श्यामल कान्ति, रक्तारुण नयन, चौड़ा वक्षःस्थल और सुन्दर स्वर्ण हार कैसा अद्भुत लग रहा है और कैसे मेरे दिव्य आह्लाद को अधिकाधिक बढ़ा रहा है।"

जब नन्द महाराज के प्रियपुत्र श्रीकृष्ण किशोर में प्रवेश करते हैं तो उनका सौन्दर्य बहुत बढ़ जाता है; परन्तु फिर भी उनके माता-पिता उन्हें पौगण्ड अवस्था में समझते हैं, यद्यपि उनकी अवस्था दस और पन्द्रह के बीच की होती है। इसके विपरीत जब श्रीकृष्ण पौगण्ड अवस्था में रहते हैं तो उनके कुछ सेवक उन्हें कैशोर आयु में समझ लेते हैं। शैशव

काल की चपल लीलाओं में श्रीकृष्ण प्राय: दूध-दही के मटकों पात्रों को फोड डालते हैं. दही को आंगन में बिखेर देते हैं और मक्खन की चोरी करते हैं। कभी-कभी वे मथनी को भी तोड डालते हैं और कभी मक्खन को अग्नि मे स्वाहा कर देते हैं। इस प्रकार वे मैय्या यशोदा के दिव्य आनन्द को नित्य बढाया करते हैं। इस सन्दर्भ में यशोदा मैय्या ने एक बार अपनी दासी मुखरा से कहा था—"सशंक दृष्टि से चारों ओर देखता हुआ बार-बार धीरे-धीरे लता से निकल कर आगे पग रखता हुआ यह कृष्ण चला आ रहा है। अरि देख तो! लगता है यह सीधे माखन चुराकर आया है। चुपचाप खडी रह, इसे पता न चले कि हमने देख लिया है। मैं इसकी चतुर भ्रू-भगिमा, डरी हुई आँखों और सुन्दर मुख को देखना चाहती हूँ।"

श्रीकृष्ण के चुपके-चुपके माखन चुराने की लीला में यशोदा मैय्या को उनका सिर सूंघने, कभी कभी अपने हाथ से शरीर पर हाथ फेरने, आर्शीवाद देने, आज्ञा देने, लालन-पालन करने और चोरी न करने का उपदेश आदि देने का आस्वादन मिलता था। ये सब लीलाएँ वात्सल्यरस में होती हैं। यह विशेष रूप से दर्शनीय है कि चोरी करने की बालकोचित प्रवृत्ति भगवान में भी रहती है। अतएव यह प्रवृत्ति अस्वाभाविक नहीं है। परन्तु प्राकृत जगत् के विपरीत, अप्राकृत सम्बन्धरस में इस प्रकार चोरी करने में कोई दोष नहीं है।

श्रीमद्भागवत (१०.१३.३३) में शुकदेव गोस्वामी राजा परीक्षित से कहते हैं, "हे राजन! जैसे ही वृद्धा गोपियों ने पुत्रों को आते देखा, उनमें अनिर्वचनीय वात्सल्य उमड़ पड़ा और वे सब स्नेह से परिप्लावित हो गई। पहले वे अपने पुत्रों को माखन चोरी करने के लिए दण्डित करने का विचारकर रही थीं, परन्तु जैसे ही पुत्र नेत्रों के सामने आये कि वे अपने सारे क्रोध को भूल बैठीं और वात्सल्य से अभिभूत हो गई। अपने पुत्रों का आलिंगन करते हुए वे उनके सिर को सूंघने लगीं। इस प्रकार करते हुए पुत्रप्रेम में वे प्राय: पागल हो गईं। अपनी शैशव क्रीड़ा में ये सब गोपबालक श्रीकृष्ण के साथ माखन चोरी किया करते थे, परन्तु श्रीकृष्ण पर क्रुद्ध होने के स्थान पर यशोदा मैय्या जब भी उन्हें देखतीं तो स्तनों से निकली दुग्धधारा से भीग जातीं। श्रीकृष्ण के लिए अपने स्नेह के अतिरेक-वश वे बारम्बार उनके सिर को सूंघने लगतीं।

चुम्बन, आलिंगन, नाम लेकर पुकारना और कभी-कभी चोरी करने के लिए उलाहना देना, ये सब गोपबालकों की माताओं की सामान्य

क्रियाएँ हैं। ये सब वात्सल्यरस के सात्त्विक भाव हैं जिनमें आठ प्रकार के लक्षण पूर्ण रूप से प्रकट रहते हैं। श्रीमद्भागवत (१०.१३.२२) में शुकदेव गोस्वामी राजा परीक्षित से कह रहे हैं, "गोपबालकों की माताएँ श्रीभगवान् की योगमाया शक्ति से मोहित थीं। इसलिये जैसे ही वे अपने बालकों की वंशीध्वनि सुनतीं, वैसे ही उठ कर खड़ी हो जातीं और मन ही मन अपने पुत्रों का आलिंगन करने लगतीं, जो साक्षात् श्रीकृष्ण की अन्तरंगा शक्ति द्वारा रचे गये थे। उन्हें अपने से उत्पन्न जानकर वे उन्हें अपनी भुजाओं में लेकर आलिंगन करने लगतीं और उनकी देह को अपने हृदय पर रख कर सहलातीं। ऐसी अवस्था में उत्पन्न भाव अमृत से भी अधिक मधुर होते और माताओं के स्तनों से बहते दूध को उनके बालक तुरन्त पी जाते।"

श्रीलरूप गोस्वामी द्वारा संकलित 'ललितमाधव' में श्रीकृष्ण का इन शब्दों में सम्बोधन किया गया है—"हे कृष्ण! जब तुम गोचारण में संलग्न होते हो तो गाय और बछड़ों के खुरों से उठी हुई धूल तुम्हारे सुन्दर मुख और तिलक को ढक लेती है और तुम बिल्कुल धूली से भर जाते हो। परन्तु जब घर को लौटते हो तो यशोदा मैय्या के स्तनों से बहता हुआ दूध इस धूलि के आवरण को धो डालता है। जैसे अभिषेक में श्रीमूर्ति को स्नान कराया जाता है उसी प्रकार तुम भी इस दूध से शुद्ध हुए प्रतीत होते हो।" मन्दिरों में प्रथा है कि यदि कोई अशुद्ध कार्य बन जाए तो श्रीमूर्ति को दुग्ध में स्नान कराया जाता है। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। पर वे नित्य यशोदा मैय्या के स्तनों से निस्यन्दित दुग्धधारा में स्नान करते थे, जिससे धूलि का आवरण उन पर से हट जाता था।

कभी-कभी यशोदा मैय्या भाव में स्तम्भित हो जातीं। जिस समय श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत धारण कर रखा था उस समय यशोदा मैय्या को उनका आलिंगन करने में संकोच हुआ और वे स्तम्भित रह गईं। श्रीकृष्ण को पर्वत उठाकर संकट में पड़े देखकर यशोदा के नेत्रों में आँसू भर आये। नेत्रों के अश्रुपूरित हो जाने के कारण वे श्रीकृष्ण की ओर अधिक न देख सकीं और चिन्ता के कारण उनका कंठ रुद्ध हो गया। इसलिये वे श्रीकृष्ण को क्या करना चाहिये, यह भी नहीं बतला सकीं। यह प्रेम में स्तम्भित हो जाने का उदाहरण है।

अपने बालक को पूतना आदि राक्षसों के संकट से मुक्त हुआ जानकर यशोदा मैय्या को प्रेमवश अपार हर्ष होता। श्रीमद्भागवत (१०.१७.१९) में शुकदेव गोस्वामी कहते है कि खोये बालक के फिर से मिल जाने

पर यशोदा मैय्या अपने को बड़ा भाग्यवान समझतीं। वे तुरन्त उन्हें अपनी गोद में उठा लेतीं और बार-बार आलिंगन करतीं। इस प्रकार करते-करते उनके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा झरने लगतीं। वे अपने दिव्य आनन्द को अभिव्यक्त न कर पातीं। श्रील रूप गोस्वामी के "विदग्धमाधव" में उल्लेख है, "हे कृष्ण! तुम्हारी मैय्या का स्पर्श तो कर्पूर, पराग, चांदनी खस और चन्दन की शीतलता को भी जीतने वाला है।"

श्रीकृष्ण के लिये यशोदा मैय्या की वात्सल्य रति निरन्तर स्वभावतः प्रौढ़ता को प्राप्त होती जाती है। कभी अतिशय स्नेह और कभी प्रबल राग के रूप में शोभायमान होती है। वात्सल्यरति का उदाहरण श्रीमद्भागवत में (१०.६.४३) है। शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित से कहते हैं, "हे राजन्! जब महाभाग नन्द महाराज मथुरा से लौटे तो वे अपने पुत्र का सिर सूंघने लगे और इस प्रकार वात्सल्यरस के भावसिन्धु में निमग्न हो गये। इसी प्रकार का वाक्य यशोदा मैय्या के सम्बन्ध में है। गोचारण से श्रीकृष्ण के लौटने की प्रतीक्षा में वे उनकी वंशीध्वनि को सुनने के लिये अतिशय आतुर हो रही थीं। विलम्बवश श्रीकृष्ण की वंशी को सुनने की उनकी उत्कंठा द्विगुणित हो गई और स्तनों से दुग्धधारा प्रवाहित होने लगीं। उस अवस्था में वे कभी घर के अन्दर आतीं और कभी बाहर आ जातीं। वे निरन्तर मार्ग की ओर देख रही थीं कि कहीं गोविन्द वापस तो नहीं लौट रहे। जब बड़े-बड़े महर्षि अद्भुत लीलापराक्रम के लिये श्रीकृष्ण का जय-जयकार कर रहे थे तो गोकुलेश्वरी यशोदा मैय्या ने कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में प्रवेश किया। उनकी साड़ी का अधोभाग स्तनों से निकली दुग्धधारा से भीगा हुआ था। यशोदा मैय्या का कुरुक्षेत्र में यह प्रवेश युद्ध के अवसर पर नहीं हुआ था। एक अन्य समय श्रीकृष्ण द्वारका से सूर्यग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र आये थे। इसी समय वृन्दावनवासी भी उन्हें देखने के लिये वहाँ गये।

जब श्रीकृष्ण तीर्थयात्रा के लिये कुरुक्षेत्र पधारे तो वहाँ एकत्रित सारे जन कहने लगे कि देवकीनन्दन श्रीकृष्ण पधारे हैं। उस समय स्नेहमयी जननी देवकी श्रीकृष्ण के मुख पर हाथ फेरने लगीं। और फिर जब लोगों ने कहा कि वसुदेव पुत्र पधारे हैं तो दोनों नन्द महाराज और यशोदा मैय्या प्रेम से उल्लसित होकर अपना प्रगाढ़ आनन्द व्यक्त करने लगे।

अपने पुत्र को कुरुक्षेत्र में देखने जाते हुए यशोदा मैय्या गोकुलेश्वरी

को उनकी एक सखी ने कहा, "हे व्रजेश्वरी ! तुम्हारे स्तनरूप पर्वतों से निकलने वाली दुग्धधारा ने गंगा को श्वेतवर्ण कर दिया है और तुम्हारे नेत्रों से जो अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है उस कज्जल मिश्रित जल ने यमुना का जल काला कर दिया है। तुम इन दोनों नदियों के बीच खड़ी हो इसलिये अब अपने पुत्र के मुख को देखने के लिये ऐसी क्यों उत्कंठित हो। इन दोनों नदियों के रूप में तुम्हारा वात्सल्य प्रेम तो पहले ही व्यक्त हो चुका है।"

यशोदा मैय्या की उसी सखी ने श्रीकृष्ण से इस प्रकार कहा, "हे मुकुन्द ! यदि गोकुलेश्वरी यशोदा मैय्या को तुम्हारे मुखारविन्द का दर्शन होता रहे तो अग्नि में खड़ा होना भी उन्हें हिमालय जैसा लगेगा। दूसरी ओर, यदि उनका निवास अमृत के सिन्धु में हो, किन्तु तुम्हारा मुखारविन्द न दीख पड़े तो फिर यह अमृत का सिन्धु भी उनके लिए विष सागर जैसा हो जायेगा।" श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र को निरन्तर निहारने की व्रजेश्वरी यशोदा मैय्या की उत्कंठा त्रिभुवन में धन्यातिधन्य है।

इसी प्रकार कुन्ती देवी अक्रूर से कहती हैं, "हे भैय्या अक्रूर ! मेरा भतीजा मुकुन्द लम्बे समय तक हमसे अलग रहा है। क्या तुम उसे यह सन्देश कह दोगे कि शत्रुओं के बीच पड़ी तुम्हारी कुन्ती बुआ जानना चाहती है कि क्या वह दुबारा तुम्हारा मुखारविन्द देख सकेगी ?"

श्रीमद्भागवत (१०.४६.२८) में इस प्रकार का उल्लेख है। उद्धव से वृन्दावन में श्रीकृष्ण की द्वारकालीला का वर्णन सुनकर यशोदा मैय्या स्तनों से दूध बहाती हुई, नेत्रों से अश्रु विमोचन करने लगीं। श्रीकृष्ण के लिये यशोदा मैय्या के वात्सल्य प्रेम की पराकाष्ठा का एक उदाहरण तब प्रकट हुआ जब श्रीकृष्ण कंस की राजधानी मथुरा को चले गये। श्रीकृष्ण के विरह में, श्रीकृष्ण के नन्हे-नन्हे खिलौनों को देखकर यशोदा मैय्या उच्च स्वर से चिल्लाती हुई भूमि पर अचेतन गिर पड़ीं। भूमि पर लोटने से उनकी देह नाना प्रकार से घायल हो गई और वे पुकारने लगीं—हा पुत्र, हा पुत्र !" इस पर भी उन्हें सन्तोष न हुआ और वे दोनों हाथों से जोर से छाती पीटने लगीं। यशोदा मैय्या की इस क्रिया को दक्ष भक्तों ने विरहप्रेम की संज्ञा दी है। कभी-कभी बहुत से अन्य लक्षण भी होते हैं। जैसे—चिन्ता, शोक, निर्वेद, स्तम्भ, दैन्य, चापल्य, उन्मादन तथा मोह आदि।

जहाँ तक यशोदा मैय्या की चिन्ता का सम्बन्ध है, जब श्रीकृष्ण घर

से बाहर गोचारण भूमि में थे तो एक भक्त ने यशोदा मैय्या से कहा, "हे मैय्या ! मैं देख रहा हूँ कि तुम चिन्ता से भरी होने के कारण गति-शून्य हो गई हो। तुम्हारे नेत्र भी अलक्षित से लग रहे हैं और तुम्हारी श्वास में ऐसी उष्णता अनुभव होती है जिससे तुम्हारे स्तनों का दूध उबलने लगा है। हे व्रजेश्वरी ! इन लक्षणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि तुम पुत्रविरह के दुःख से आक्रान्त हो रही हो।"

जिस समय अक्रूर वृन्दावन में श्रीकृष्ण की द्वारका लीलाओं का विवरण सुना रहे थे तो यशोदा मैय्या ने अपने कानों में सुना कि उनकी अनेक रानियाँ हैं और वे निरन्तर उनके साथ गृहस्थ के कार्यों में लगे रहते हैं। यह सुनने पर यशोदा मैय्या को बड़ा विषाद हो आया। वे सोचने लगीं कि यह उनका कैसा दुर्भाग्य है कि पुत्र के कैशोर की समाप्ति होते ही उन्होंने उसका विवाह नहीं कर दिया। अपनी इस भूल के कारण वे पुत्र और पुत्रवधु को अपने महल में प्रवेश भी न करा पाईं। वे कह पड़ी, "हे अक्रूर ! कृष्ण को मथुरा ले जाकर तुमने मेरे सिर पर वज्रपात कर डाला है।" यह कृष्णविरह में यशोदा मैय्या में उदित विषाद का लक्षण है।

इसी प्रकार निर्वेद का अनुभव करते हुए मैय्या सोचती, "मेरे पास लाखों गायें हैं, फिर भी इनके दूध से श्रीकृष्ण की तृप्ति नहीं होती। अतएव इस दूध को धिक्कार है। मुझे भी धिक्कार है, क्योंकि लौकिक सम्पदा से समृद्ध होने पर भी अव मैं अपने पुत्र का उसी प्रकार सिर नहीं सूंघ सकतीं, और न अपने स्तनों का दुग्धपान करा सकती हूँ, जैसा उसके वृन्दावन में रहते समय कराती थी।"

श्रीकृष्ण के एक सखा ने उनका सम्बोधन किया, 'हे कमलनयन ! गोकुल में रहते समय तुम निरन्तर हाथ में छड़ी धारण किये रहते थे। वह छड़ी अब यशोदा मैय्या के घर में खाली पड़ी है। अब जब भी वे उसे देखती हैं तो उस छड़ी के समान ही जड़ रह जाती हैं। यह श्रीकृष्ण के विरह में होने वाली जड़ता का उदाहरण है। श्रीकृष्ण के विरह में यशोदा मैय्या इतनी दीन हो गईं कि अश्रुपूरित नेत्रों से भगवान् ब्रह्मा से याचना करने लगीं—"हे विधाता ! क्या तू इतनी भी कृपा नहीं करेगा कि मेरे पुत्र को एक बार फिर मेरे पास, चाहे क्षण भर के लिये ही, ले आये जिससे उसके मुखचन्द्र को निहार सकूँ। कभी-कभी चापल्य में पागल स्त्री के समान यशोदा जी नन्द महाराज पर आरोप लगातीं—'अरे निर्लज्ज ! तू इस महल में क्या कर रहा है ? लोग न जाने क्यों तुझे व्रज का राजा कहते

हैं। कितना आश्चर्य है कि पुत्रविरह में यह कठोर पिता पर्वत के समान वृन्दावन में बना हुआ है।

कभी-कभी श्रीकृष्ण के सखा उन्हें यशोदा मैय्या के उन्माद का इन शब्दों में वर्णन सुनाते, "उन्मादवश यशोदा मैय्या कदम्ब के वृक्षों से पूछने लगतीं, "हे कदम्बों ! तुम्हीं बताओ, मेरा पुत्र कहाँ गया ?" इसी प्रकार वे पक्षी और भ्रमरों से भी पूछतीं कि कहीं कृष्ण उनके आगे से तो नहीं गये अथवा क्या वे उनके बारे में कुछ जानते हैं। इस प्रकार हे कृष्ण ! तुम्हारे विषय में हर किसी से पूछते हुए यशोदा मैय्या वृन्दावन में भटक रही हैं। यह श्रीकृष्ण के विरह में उन्माद का उदाहरण है।

जब यशोदा मैय्या ने नन्द महाराज को पाषाण हृदय बतलाया तो वे बोले, 'हे प्रिय ! तुम इतनी उत्तेजित क्यों हो रही हो। जरा ध्यान से तो देखो ! देखो तुम्हारा पुत्र कृष्ण तुम्हारे सामने ही खड़ा है। इस प्रकार पागलों के समान मत बनो। कृपया मेरे घर को शान्त बनाये रखो।" श्रीकृष्ण को उनके सखाओं ने सूचित किया कि उनके विरह में नन्द महाराज भी इस प्रकार मोहित हो गये हैं।

कंस की यज्ञशाल में उपस्थित वसुदेव की सारी स्त्रियों ने जब श्रीकृष्ण के सुन्दर रूप को देखा तो तुरन्त वात्सल्य प्रेमवश उनके स्तनों से दुग्ध की धारा प्रवाहित होने लगी और उनकी साड़ियों के अधोभाग भीग गये। यह श्रीकृष्ण के योग से होने वाले प्रेमभाव का लक्षण है।

श्रीमद्भागवत (१.११.२९) में उल्लेख है कि जब कुरुक्षेत्र के युद्ध का अन्त होने पर श्रीकृष्ण ने द्वारका में प्रवेश किया तो उनकी दृष्टि सबसे पहले अपनी सब माताओं पर गई और उन्होंने तुरन्त उनके सादर चरणों में प्रणाम किया। माताओं ने भी श्रीकृष्ण को तत्क्षण अपने अंक में उठा लिया और वात्सल्य स्नेहवश उनके स्तनों से दूध बह चला। इस प्रकार अश्रुधारा के जल से मिश्रित उनके स्तनों का दुग्ध श्रीकृष्ण को प्रथम अर्पण हुआ। यह महाविरह के बाद तुष्टि का उदाहरण है।

'ललितमाधव' में एक अन्य वाक्य है—अहो ! कैसा आश्चर्य है कि नन्दगेहिनी यशोदा जी ने अपने वात्सल्यरस में अपने नेत्रजल और स्तन के दुग्ध के मिश्रण से पुत्र कृष्ण का स्नान कराया। 'विदग्धमाधव' में एक भक्त श्रीकृष्ण का सम्बोधन करते हुए कहता है, हे मुकुन्द ! तुम्हारे कमल की सुगन्ध से परिपूर्ण मुख की चन्द्रिका से आकृष्ट हुई यशोदा मैय्या प्रेम से अभिभूत हो गईं और तुरन्त उनके बड़े-बड़े स्तनों से दुग्ध

झरने लगा।" इस प्रकार यशोदा मैय्या के स्तनों से श्रीकृष्ण के लिये निरन्तर दुग्ध की धारा बरसती रहती थी।

ये सब श्रीकृष्ण के लिये उनकी माता, पिता, एवं अन्य गुरुजनों द्वारा अभिव्यक्त कतिपय वात्सल्य के भाव हैं। इनकी अभिव्यक्ति कृष्ण में पुत्रभाव करने पर होती है। श्रीकृष्ण के लिये निरन्तर वत्सलता का भाव वात्सल्यरस का स्थायिभाव है।

श्रीरूप गोस्वामी का यहाँ उल्लेख है कि कतिपय विद्वानों के अनुसार अब तक वर्णित तीन प्रकार के दिव्य रस, अर्थात् दास्य, सख्य और वात्सल्य कभी-कभी परस्पर मिल जाते हैं। उदाहरण के लिये, बलराम का सख्य भाव दास्य और वात्सल्य स्नेह से मिश्रित है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण के लिये युधिष्ठिर की रति में वात्सल्य, स्नेह और दास्य का मिश्रण है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण के पितामह उग्रसेन में दास्य और वात्सल्य दोनों पाये जाते हैं। वृन्दावन की सारी वृद्धा गोपियों का भाव वात्सल्य, दास्य और सख्य का मिश्रण है। माद्री के पुत्रों अर्थात् नकुल, सहदेव और महर्षि नारद का स्नेह भी सख्य और दास्य का मिश्रण है। भगवान् शिव, गरुड़, और उद्धव के भाव में दास्य और सख्य, दोनों पाये जाते हैं।

अध्याय ४४

मधुरभक्तिरस

मधुररति में श्रीकृष्ण के प्रति शुद्धभक्त के आकर्षण को भक्ति का मधुररस कहा जाता है। यद्यपि ऐसा मधुरभाव बिल्कुल भी प्राकृत नहीं होता, फिर भी इस दिव्य प्रेम और प्राकृत काम-क्रीड़ाओं में समानता सी लगती है। अतएव जो केवल लौकिक काम-क्रीड़ाओं में रुचि रखते हैं वे इस दिव्य प्रेम को नहीं समझ सकते। दिव्य भक्तिरस का यह विनिमय उन्हें बड़ा रहस्यमय प्रतीत होता है। यही कारण है कि श्रील रूपगोस्वामी मधुरभक्तिरस का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन करते हैं।

मधुरभक्तिरस के आलम्बन हैं श्रीकृष्ण, राधारानी और उनकी नित्य सहचारी श्रीकृष्ण की प्रियाएँ। श्रीकृष्ण असमोर्ध्व हैं। उनके समान कोई नहीं है और न ही कोई उनसे अधिक है। भगवान् श्रीकृष्ण का सौन्दर्य भी असमोर्ध्व है; उसकी कोई तुलना नहीं। मधुररस की क्रीड़ा में सबसे बढ़कर होने के कारण वे ही सम्पूर्ण मधुररस के आलम्बन माने जाते है।

जयदेव गोस्वामी के गीतगोविन्द में एक सखी किसी दूसरी से कहती है—"इस जगत् में श्रीकृष्ण सब आनन्द के रसराज हैं। उनकी देह कमल के समान अति कोमल है और गोपियों के साथ उनका आवास-व्यवहार किसी युवती के लिये किशोर के आकर्षण जैसा है।" यही दिव्य मधुररस का आलम्बन है। गोपियों के चरणचिह्नों की अनुगति करते हुए एक शुद्धभक्त उनसे प्रार्थना करता है—"आकर्षक अंग वाली गोपांगनाओं को सादर प्रणाम है, जो अपनी रूपमाधुरी से भगवान् श्रीकृष्ण का सेवन कर रही हैं।" इन सब गोपांगनाओं में श्रीमती राधारानी सबसे प्रमुख हैं।

श्रीमती राधारानी के रूप का वर्णन इस प्रकार है, "उनके नेत्र चकोरी की चारुता को भी हरने वाले हैं। जब कोई राधारानी के मुख-मण्डल को देख लेता है तो तुरन्त चन्द्रमा के सौन्दर्य की निन्दा करने लगता है। उनके श्रीअंग की दीप्ति स्वर्ण को भी लजाने वाली है। इस

प्रकार दिव्य सौन्दर्य से सुशोभित श्रीमती राधारानी को देखो।" राधारानी के लिये श्रीकृष्ण के आकर्षण को उन्होंने स्वयं व्यक्त किया है, "जब मैं श्रीमती राधारानी के सौन्दर्य का आस्वादन करने के लिये कुछ हास-परिहास करता हूँ तो राधारानी इन हास्य-वचनों को बड़े ध्यान से सुनती हैं। परन्तु अपने शरीर की अंग वृत्ति और कुछ अन्य कहकर बाहर ऐसा प्रकट करती हैं कि मानो वे मेरी बात को न सुन रही हों। उनके इस प्रकार मेरी उपेक्षा कर देने से मुझे अनन्त सुख मिलता है, इससे उनकी माधुरी इतनी बढ़ जाती है कि मेरा आनन्द शत् गुणा हो जाता है।" इसी प्रकार गीतगोविन्द में कहा है कि जब कंस के शत्रु श्रीकृष्ण राधारानी का आलिंगन करते हैं तो वे उनके प्रेम में बंध जाते हैं और अन्य सब गोपियों का संग छोड़ बैठते हैं।

श्रील रूपगोस्वामी की पद्यावली के अनुसार जब गोपियाँ श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि को सुनती हैं तो वे तुरन्त अपने गुरुजनों के रोष, अपकीर्ति और पतियों के कठोर व्यवहार को भुला देती हैं। वे केवल बाहर जाकर श्रीकृष्ण का अन्वेषण करने को आतुर हो उठती हैं। जब गोपियाँ श्रीकृष्ण से मिलती हैं तो परस्पर होने वाले कटाक्ष और स्मितादि अनुभाव कहे गये हैं।

'ललितमाधव' में रूपगोस्वामी ने वर्णब किया है कि श्रीकृष्ण का कटाक्ष ठीक यमुना जैसा है, और राधारानी की हँसी चन्द्रिका के समान है। जब यमुना और चन्द्रिका का संग होता है तो जल अमृत जैसा हो जाता है, उसे पीने से बड़ी तृप्ति होती है। वह हिम के समान शीतल और सब संतापों को हरने वाला होता है। इसी प्रकार पद्यावली में राधा की एक नित्य सहचरी कहती है, "हे चन्द्रमुखी राधे! तेरा शरीर अत्यन्त पुलकित हो रहा है; आँखों में आनन्द के आँसू भर आये हैं, वाणी गद्‌गद हो रही है और छाती काँप रही है, इससे जान पड़ता है कि कृष्ण की मुरलीध्वनि की माधुरी ने तेरे चित्त को चंचल बना दिया है, द्रवित कर दिया है।"

पद्यावली में ही प्रेम में होने वाले निर्वेद के भावों का वर्णन है, श्रीमती राधारानी कहने लगीं, "कामदेव! मेरे ऊपर अपने पंचबाणों को चलाकर मुझे उत्तेजित न करो। हे वायु! प्रगाढ़ मकरन्द रस से मेरी देह को मत भरो। श्रीकृष्ण की प्रेमभंगी से वंचित हो जाने के बाद अब इस देह को धारण करने का क्या लाभ? जीव आज इस देह को धारण करना नहीं चाहता।" यह श्रीकृष्ण के प्रेम में उठने वाले निर्वेद भाव का लक्षण है।

इसी प्रकार 'दानकेलिकौमुदी' में श्रीकृष्ण की ओर संकेत करते हुए श्रीमती राधारानी कहती हैं, "नीलकमल सी शोभा वाला यह वन-विहारी धूर्त त्रिभुवन की सारी युवतियों का आकर्षण कर सकता है। अपने दिव्य रस का आस्वाद दिलाकर इसने मुझे मदमस्त कर डाला है। मेरे धैर्य को भंग कर दिया है। अब मैं ठीक हाथी के मद से मदमस्त हुई हथिनी के समान अनुभव कर रही हूँ।" यह कृष्णप्रेम में हर्ष है।

मधुरभक्तिरस का स्थायिभाव ही देह के सम्भोग का मूल कारण है। पद्यावली में सम्भोग के इस मूल कारण का वर्णन करते हुए राधा-रानी अपनी एक सहचरी से कहती हैं, "हे सखि! यह कौन बालक है जिसकी निरन्तर थिरकती हुई भ्रू भंगिमा इसके मुख के सौन्दर्य को बढ़ाती हुई मुझमें माधुर्यरस का संचार कर रही है। कानों में अशोक की कलियों का कर्णफूल धारण किये हुए पीताम्बर से सुशोभित अपनी वंशी की ध्वनि से यह मुझे विवश किये दे रहा है।"

श्रीराधाकृष्ण की मधुररति सजातीय अथवा विजातीय किसी भी प्रकार के भाव से कभी विच्छिन्न नहीं होती। श्रीराधाकृष्ण की मधुररति के इस निरन्तर अचल स्वभाव का वर्णन इस प्रकार है, "श्रीकृष्ण से थोड़ी ही दूर यशोदा मैया खड़ी थीं और चारों ओर से वे अपने सखाओं से घिरे हुए थे। उनके नेत्रों के आगे चन्द्रावली थी और उसी समय उन्हें व्रज के द्वार पर वृषभासुर खड़ा दिखा। परन्तु फिर भी जब उन्हें लताकुंज में राधारानी दृष्टिगोचर हुईं तो तत्क्षण उन्हीं के ऊपर विद्युत् के समान चंचल श्रीकृष्ण के कटाक्ष होने लगे।"

एक अन्य प्रसंग का वर्णन इस प्रकार है, "प्रांगण में एक ओर शृगालों से घिरी हुई शंखासुर की मृतदेह पड़ी थी और दूसरी ओर बहुत से विद्वान् और संयमी ब्राह्मण थे। वे सब ग्रीष्म की शीतल मन्द-मन्द वायु के झकोरों के साथ सुन्दर स्तुतिपाठ कर रहे थे। श्रीकृष्ण के आगे सुधा-निधि बलदेव खड़े थे। परन्तु इन सब शीतल रूप विरुद्ध परिस्थितियों में भी राधारानी के लिये श्रीकृष्ण का प्रेमरूपी कमल म्लान नहीं हुआ। राधारानी के लिये श्रीकृष्ण के इस प्रेम को प्रायः प्रफुल्ल कमल की उपमा दी जाती है। अन्तर केवल इतना है कि श्रीकृष्ण का प्रेम नित्य नई सुन्दरता को धारण किये रहता है, सामान्य कमल की तरह मुरझाता नहीं।

मधुरभक्ति सम्भोग और विप्रलम्भ—दो प्रकार की मानी जाती है। विप्रलम्भ के तीन विभेद हैं—पूर्वराग, मान और प्रवास।

पहले कभी जिनका मिलन नहीं हुआ है, इस प्रकार के प्रिय और

प्रिया में होने वाले भाव को पूर्वराग कहते हैं। पद्यावली में राधारानी अपनी सखी से कहती हैं, "हे सखि ! यमुना तट पर जाते हुए अकस्मात् मेरी दृष्टि के आगे नवचन्दन वर्ण श्यामल बालक आ गया। उसने मेरी ओर ऐसे देखा जिसका मैं वर्णन नहीं कर सकती। परन्तु इसके बाद अब मेरा मन घर के काम-काज में बिल्कुल नहीं लगता।" यह श्रीकृष्ण के लिये पूर्वराग का उदाहरण है। श्रीमद्भागवत (१०.५३.२) में श्रीकृष्ण ने रुक्मिणीदेवी के पास से आये ब्राह्मण दूत से कहा है, "हे ब्राह्मण ! रुक्मिणी के समान मैं भी रात भर सो नहीं पाता। मेरा मन निरन्तर उसी में लगा रहता है। मैं जानता हूँ कि उसका भाई रुक्मी मेरे विरुद्ध है और उसी के कहने-सुनने से रुक्मिणी से मेरे विवाह को रोक दिया गया है।" यह भी पूर्वराग का लक्षण है।

मान के सम्बन्ध में गीतगोविन्द में निम्नलिखित प्रसंग हैं, "जब श्रीमती राधारानी ने देखा कि श्रीकृष्ण अन्य अनेक गोपियों के संग का आनन्द ले रहे हैं तो अपने उत्कर्ष के नष्ट हो जाने के कारण उन्हें कुछ ईर्ष्या हो आई। इसलिये वे वहाँ से हटकर भ्रमरों से गुंजायमान लता मंडप में जा बैठीं और वहाँ लताओं में छिपकर एक सखी से अपनी मनोव्यथा को कहने लगीं।" यह मान का उदाहरण है।

प्रवास का दृष्टान्त पद्यावली में इस प्रकार है—"हथेली के ऊपर सिर को रखकर निरन्तर आँसू बहाते हुए जिसका मुख भीग रहा है, उस कमलनयनी राधा को कृष्ण के मथुरा चले जाने के दिन से लेकर आज तक क्षणभर को भी निद्रा नहीं आई।" मुख के भीग जाने पर निद्रा का लोप हो जाता है; अतएव श्रीकृष्ण के विरह में निरन्तर रोते रहने से राधारानी के लिये सोने का प्रश्न ही नहीं बनता। 'प्रह्लादसंहिता' में उद्धव कहते हैं, "कामदेव के बाणों से पीड़ित होकर भगवान् गोविन्द रात-दिन तुम गोपियों का ही चिन्तन करते हुए न खाते-पीते हैं और न सो पाते हैं।"

जब प्रेमी और प्रियतम मिलकर प्रत्यक्ष संग में एक-दूसरे का आनन्द लेते हैं तो उसे सम्भोग कहा जाता है। पद्यावली में उल्लेख है, "श्रीकृष्ण ने श्रीमती राधारानी का ऐसी विदग्धता से आलिंगन किया, मानो वे मदन महोत्सव मना रहे हों।"

इस प्रकार श्रील रूपगोस्वामी अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' के दक्षिण विभाग की पाँचवी लहरी को समाप्त करते हैं। उनका सनातनस्वरूप भगवान् गोपाल को सादर प्रणाम है।

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ मुख्य भक्तिरस निरुपणनामा पश्चिमो विभागः ।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये पश्चिमो विभागः ।।३।।

अथ उत्तर विभागः

गौणभक्तिरस

अध्याय ४५

हास्यभक्तिरस

'भक्तिरसामृतसिन्धु' के चौथे विभाग में श्रील रूपगोस्वामी ने हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, भयानक तथा बीभत्स—इन सात गौण भक्तिरसों का विवरण दिया है। इन भक्तिरसों का वर्णन करते हुए उन्होंने विविध भावों की परस्पर मैत्री-वैर की स्थिति और रसाभासों का भी वर्णन किया है। जब एक प्रकार का भक्तिरस विरुद्ध विधि से किसी दूसरे रस से मिल जाये तो ऐसी स्थिति को रसाभास कहते हैं।

दक्ष विद्वान् कहते हैं कि हास्यरस प्रायः युवकों में अथवा वृद्धों और शिशुओं के समूहों में पाया जाता है। कभी-कभी अत्यन्त गम्भीर स्वभाव वालों में भी यह दृष्टिगोचर होता है। एक बार एक वृद्ध व्यापारी यशोदा मैया के द्वार पर पहुँचा तो श्रीकृष्ण ने यशोदा मैया से कहा, "मैया ! मैं इस सड़ी हुई आकृति वाले भयंकर बूढ़े के पास नहीं जाना चाहता। यदि मैं इसके पास जाऊँ तो यह मुझे अपनी पिटारी में बन्द करके तुमसे दूर ले जायगा।" इस प्रकार आश्चर्यमय कृष्ण अपनी माता की ओर देखने लगे जबकि द्वार पर खड़ा हुआ वह पथिक रोकने पर भी अपनी हँसी को नहीं दबा सका, अर्थात् हँस ही पड़ा। इस दृष्टान्त में स्वयं श्रीकृष्ण हास्यरस के आलम्बन हैं।

श्रीकृष्ण के एक सखा ने उन्हें सूचित किया, "श्रीकृष्ण मुख खोलो, मैं तुम्हें दही-बूरा खिलाता हूँ।" श्रीकृष्ण ने तुरन्त अपना मुख खोल दिया; परन्तु दही-बूरा के स्थान पर मित्र ने उनके मुख में एक फूल डाल दिया। जब श्रीकृष्ण ने उसे चखा तो अपने मुख को सिकोड़ कर मोड़ लिया यह देखकर वहाँ खड़े उनके सखा बड़े उच्च स्वर से हँसने लगे।

एक बार घर आये ज्योतिषी से नन्द महाराज ने पूछा, "हे महर्षि ! कृपया मेरे बालक का हाथ देखिये। मुझे बताइये कि यह कितने वर्ष तक जीवित रहेगा और क्या हजारों गायों का स्वामी बन पायेगा।" यह

सुनकर ज्योतिषी हँसने लगा तो नन्द महाराज ने उनसे पूछा, "श्रीमान् आप हँसते हुए अपने मुख को छिपा क्यों रहे हैं।"

इस प्रकार के हास्यरस में श्रीकृष्ण की वेशभूषा और चरित आदि उद्दीपन विभाव हैं। नाक, होंठ तथा गालों का फड़कना आदि अनुभाव तथा हर्ष, आलस्य, गोपन आदि व्यभिचारिभाव हैं।

श्रील रूपगोस्वामी की गणना के अनुसार हास्यरति छः प्रकार की होती है—स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित, अतिहसित। इनमें से स्मित, हसित और विहसित मुख्य भेद हैं और अवहसित, अपहसित और अतिहसित गौण भेद हैं।

जिस हँसी में दाँत न दिखलाई दें और नेत्रों तथा गालों का निश्चित विकास हो उसे स्मित कहते हैं। जब श्रीकृष्ण जरती के घर में दही चुरा रहे थे तो उसे उनकी क्रिया का भास हो गया और वह जल्दी-जल्दी उन्हें पकड़ने के लिए आने लगी। उस समय जरती से अत्यधिक भयभीत होकर श्रीकृष्ण अपने अग्रज बलदेव के पास गये। वे बोले, "हे भ्राता! मैंने दही की चोरी की है। देखो-देखो जरती शीघ्रता से मुझे पकड़ने आ रही है।" इस प्रकार पीछे आ रही जरती के भय से श्रीकृष्ण का बलदेव की शरण में जाना देखकर स्वर्ग के सब महर्षि गण हँसने लगे। उनकी इस हँसी को स्मित कहते हैं।

जिस हँसी में दाँत थोड़े-थोड़े दिखाई देने लगें उसे हसित कहते हैं। एक दिन जब राधारानी का तथाकथित पति अभिमन्यु घर को लौट रहा था तो उसने देखा कि श्रीकृष्ण उसके घर में हैं। श्रीकृष्ण ने तुरन्त अभिमन्यु का सा भेष बना लिया और अभिमन्यु की माँ जटिला के पास जाकर कहने लगे, "हे माता! मैं तुम्हारा असली पुत्र अभिमन्यु हूँ। देखो-देखो कृष्ण ठीक मेरा वेश बनाकर तुम्हारे पास आ रहा है।" जटिला को तुरन्त विश्वास हो गया कि यही उसका असली पुत्र है और इसलिये घर आते हुए अपने वास्तविक पुत्र पर वे बड़ी क्रुद्ध हुई। वह उसे बाहर भगा रही थी और वह पुकार रहा था, "माँ, माँ! तुम यह क्या कर रही हो?" यह देखकर वहाँ उपस्थित राधारानी की सब सखियाँ हँसने लगीं और उनके दाँत थोड़े दिखाई दिये। यह हसित का उदाहरण है।

जिस हँसी में दाँत स्पष्ट दिखाई दें उसे विहसित कहते हैं। एक दिन जब श्रीकृष्ण जटिला के घर में दही-मक्खन की चोरी कर रहे थे तो उन्होंने अपने सखाओं को आश्वस्त करते हुए कहा, "हे सखाओ! यह बुढ़िया इस समय बड़ी-बड़ी गहरी साँसें लेती हुई सो रही है। इसलिए

आओ बिना कोई उत्पात किये चुपचाप दही-मक्खन की चोरी करें।" परन्तु वह बुढ़िया जटिला सोई नहीं थी। वह चुपचाप लेटी हुई थी। ऐसे में वह अपनी हँसी को नहीं रोक सकी और उसके दाँत बिल्कुल स्पष्ट दिखने लगे। यह विहसित हँसी है।

जिसमें नाक फूल जाये और आँखें बन्द हो जायें, इस प्रकार की हँसी को अवहसित कहते हैं। एक दिन प्रातःकाल जब श्रीकृष्ण रासलीला रचा कर घर लौट रहे थे तो उनके मुखमण्डल को देखकर यशोदा मैया कहने लगीं, "हे पुत्र ! तेरी आँखों में इतना धातुराग क्यों लग रहा है ? क्या तूने बलदेव की वेशभूषा तो धारण नहीं कर ली है ?" जब यशोदा मैया श्रीकृष्ण से इस प्रकार कह रही थीं तो निकट खड़ी गोपांगना जोर-जोर से हँसने लगी। उसकी नाक फूल गई और आँखें बन्द हो गईं। यह अवहसित हँसी है। गोपी जानती थी कि श्रीकृष्ण रासलीला का आनन्द ले रहे थे। यशोदा मैया को अपने पुत्र की इन क्रियाओं का पता नहीं था, इसीलिये वे यह न जान पाईं कि उसके मुख पर गोपियों का अंगराग लगा हुआ है।

जिस हँसी में आँखों से आँसू आ जायें और कन्धे हिलने लगें उसे अपहसित कहते हैं। जरती की धुन पर बालकृष्ण को नाचता देखकर नारद को बड़ा आश्चर्य हुआ। जो श्रीभगवान् ब्रह्मा आदि देवताओं को नचाते हैं वे ही अब एक वृद्धा दासी के संकेत के अनुसार नाच रहे हैं। इस आनन्द को देखकर नारदजी भी नाचने लगे; उनके कन्धे काँपने लगे और नेत्र चपल हो उठे। हँसी के कारण उनके दाँत भी फूट पड़े। इस प्रकार उनके दाँतों से निकली ज्योति से आकाश के बादल सुप्रभ हो गए।

जब कोई हँसते हुए ताली बजा-बजाकर हवा में कूदता है तो उसे अतिहसित कहते हैं। इसका प्रदर्शन निम्नलिखित प्रसंग में है। श्रीकृष्ण ने जरती से कहा, "हे भद्रे ! तुम्हारी त्वचा पर झुर्रियाँ पड़ जाने के कारण तुम्हारा मुख अब बिल्कुल बन्दरों के समान हो गया है। अतएव बन्दरों के राजा बलिमुख ने तुम्हें अपनी जीवन-संगिनी बनाने का निश्चय किया है।" जिस समय श्रीकृष्ण जरती को इस प्रकार चिढ़ा रहे थे, उसने उत्तर दिया कि वह पहले ही निश्चित कर चुकी है कि नाना प्रकार के बलि असुरों का नाश करने वाले श्रीकृष्ण को छोड़कर और किसी से विवाह नहीं करेगी।" वातुल जरती के इस परिहास को सुनकर वहाँ खड़ी सब गोपांगनाएँ हाथ बजा-बजा कर जोर-जोर से हँसने लगीं। इसी का नाम 'अतिहसित' है।

कभी-कभी अप्रत्यक्ष रूप से हँसाने वाले वाक्यों से भी अतिहसित

की परिस्थिति उपस्थित हो जाती है । इसी प्रकार का एक वाक्य गोपांगनाओं ने राधारानी के तथाकथित पति अभिमन्यु की बहन (जटिला की पुत्री) कुटिला से कहा था । यह वाक्य परोक्ष रूप से कुटिला को अपमानित करने वाला था । 'हे कुटिले ! जटिलापुत्री ! तेरे स्तन लौकी के समान लटक गये हैं; नाक की आकृति मेढकी के समान मालूम होती है; दृष्टि की शोभा कुतिया को लजाने वाली है, अधर जलते हुए कोयले को लजा रहे हैं और पेट मृदंग के समान बड़ा है । इसलिये हे सुन्दरी कुटिले ! तू वृन्दावन की सब गोपांगनाओं में सर्वोत्कर्षमयी है। तेरी इसी असाधारण सुन्दरता के कारण श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि में इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह तेरा आकर्षण कर सके ।''

अध्याय ४६

अद्‌भुतभक्तिरस और वीरभक्तिरस

अद्‌भुतभक्तिरस

अद्‌भुतभक्तिरस की अनुभूति दो प्रकार से होती है—प्रत्यक्ष रूप से अपनी आँखों के अनुभव के द्वारा और परोक्ष रूप से दूसरों से सुनकर।

जब नारदजी द्वारका में भगवान् की लीलाओं को देखने आये तो उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण उसी रूप में अनेक महलों में विराजमान हैं और नाना क्रियाएँ कर रहे हैं। यह सब देखकर वे आश्चर्यचकित रह गये। यह साक्षात् अद्‌भुतभक्तिरस का उदाहरण है। यशोदा मैया की एक सखी ने कहा, "हे यशोधरे! जरा इस आनन्द को तो देखो! एक ओर तो तुम्हारा नन्हा सा बालक है जो सदा तुम्हारा स्तनपान करने को मुग्ध रहता है और दूसरी ओर यह विशाल गोवर्धन पर्वत है जो गगन को छू रहा है। फिर भी देखो कैसा आश्चर्य है कि यह महान् गोवर्धन तुम्हारे पुत्र के नन्हे हाथ की उँगली पर ठहरा हुआ है, मानो कोई खिलौना हो। क्या यह महान् विस्मय की बात नहीं है?" यह भी साक्षात् अद्‌भुतभक्तिरस का दृष्टान्त है।

परोक्ष अद्‌भुतभक्तिरस का अनुभव महाराज परीक्षित को हुआ जब उन्होंने शुकदेव गोस्वामी के मुख से श्रीकृष्ण द्वारा नरकासुर के वध का वर्णन सुना, जो ग्यारह अक्षौहिणी सेना के साथ श्रीकृष्ण के साथ युद्ध कर रहा था। एक अक्षौहिणी सेना में हजारों हाथी, हजारों घोड़े और रथ तथा लाखों सैनिक रहते हैं। नरकासुर के पास ऐसी ग्यारह अक्षौहिणी सेना थी और वे सब श्रीकृष्ण पर बाण चला रहे थे। परन्तु फिर भी श्रीकृष्ण ने अपनी ओर से केवल तीन बाण चलाकर उन सबका नाश कर दिया। जब महाराज परीक्षित ने इस अद्‌भुत विजय को सुना तो वे तुरन्त अपने नेत्रों से विगलित अश्रुधारा को पोंछते हुए हर्षातिरेक में मग्न हो गये। यह सुनने से होने वाला परोक्ष अद्‌भुतभक्तिरस है।

परोक्ष अद्भुत भक्तिरस का एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है—यह परीक्षा कर देखने के लिये कि क्या श्रीकृष्ण वास्तव में भगवान् हैं, ब्रह्माजी ने उनके सारे गोपबालकों और गायों को चुरा लिया। परन्तु कुछ ही क्षण बाद उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण अब भी अपने सब गोपबालकों, गायों और बछड़ों के साथ ठीक पहले के ही समान क्रीड़ा कर रहे हैं। जब उन्होंने अपने सत्यलोकवासियों को यह घटना सुनाई तो वे सब के सब चकित रह गये। ब्रह्मा ने बताया कि बालकों का हरण करने पर भी उन्होंने श्रीकृष्ण को फिर उसी प्रकार उन्हीं बालकों के साथ खेलते हुए देखा है। उनके शरीर का वर्ण प्रायः श्रीकृष्ण के जैसा श्यामल था। वे सब चतुर्भुजधारी थे। वे ही सब बछड़े और गायें पहले की भाँति वहाँ थे। इस घटना का वर्णन करते-करते ब्रह्मा प्रायः आप्ययित हो गये और आगे कहने लगे कि सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि अन्य अनेक ब्रह्माण्डों से भिन्न-भिन्न ब्रह्मा वहाँ श्रीकृष्ण और उनके पार्षदों की आराधना के लिये आए हुए थे।

इसी प्रकार जब भाण्डीर वन में आग लगी तो श्रीकृष्ण ने अपने सखाओं को अपनी-अपनी आँखें मींच लेने की आज्ञा दी। फिर जब श्रीकृष्ण ने अग्नि को बुझा दिया और गोपबालकों ने अपनी आँखें खोलीं तो देखा कि वे अग्नि के भय से बच गये हैं, उनका गोधन और बछड़े सब सुरक्षित हैं। श्रीकृष्ण द्वारा अपनी रक्षा हुई देखकर वे आश्चर्य में भर गये। यह भी अद्भुतभक्तिरस की अनुभूति का उदाहरण है।

जो हृदय को प्रिय हो उसकी तनिक सी असाधारण क्रिया भी विस्मय को उत्पन्न करने वाली होती है। परन्तु अप्रिय की एकदम अलौकिक क्रिया भी विस्मय को जन्म नहीं देती। प्रेम के कारण ही किसी अद्भुत क्रिया की मन पर छाप पड़ती है।

वीरभक्तिरस

जब भगवान् के लिये प्रेम और भक्ति के कारण एक विशेष प्रकार का वीरतापूर्ण उत्साह होता है तो परिणाम में होने वाली क्रियाओं को वीररस कहते हैं। उनकी अभिव्यक्ति युद्धवीरता, कामवीरता, दयावीरता और धर्मवीरता—इन चार रूपों में होती है। इन सब प्रकार की वीररस की क्रियाओं के श्रीकृष्ण आलम्बन हैं।

जब कोई सखा किसी वीररस की क्रिया से श्रीकृष्ण को संतुष्ट करना चाहता है तो श्रीकृष्ण को विरोधी समझ कर वह स्वयं उन्हें चुनौती

देता है। अथवा श्रीकृष्ण स्वयं तो ऐसे युद्ध को देखते हैं और उनकी इच्छा से अन्य सखा विरोधी की भूमिका निभाता है। किसी सखा ने एक बार श्रीकृष्ण को चुनौती देते हुए कहा, "हे माधव ! तुमको अपने कभी न हारने का बड़ा अभिमान हो चला है। परन्तु यदि तुम यहाँ से भागो नहीं तो मैं तुमको हरा कर दिखा दूँगा और इससे मेरे सब मित्रों को बड़ा सन्तोष होगा।"

श्रीकृष्ण और श्रीदामा बड़े अन्तरंग सखा थे। फिर भी श्रीदामा ने क्रोधवश उन्हें ललकारा। जब वे दोनों आपस में लड़ने लगे तो यमुना तट पर खड़े अन्य सखाओं ने दो मित्रों में होने वाले इस अद्भुत युद्ध का आनन्द लिया। वे युद्ध-अभिनय के लिये कुछ वाण बनाने लगे और श्रीकृष्ण उन्हें श्रीदामा के ऊपर छोड़ने लगे। श्रीदामा अपनी लाठी को घुमा-घुमाकर उन वाणों को बचाता और इस प्रकार श्रीदामा की वीररसमयी क्रियाओं से श्रीकृष्ण को बड़ा आनन्द हुआ। ऐसा युद्ध प्रायः वीरपुरुषों में हुआ करता है जिससे सब देखने वालों को बड़ी अद्भुत उत्तेजना होती है।

'हरिवंश' में उल्लेख है कि कभी-कभी जब कुन्ती की उपस्थिति में अर्जुन और श्रीकृष्ण आपस में लड़ते तो अर्जुन श्रीकृष्ण से परास्त हो जाता।

मित्रों में होने वाले इस प्रकार के वीर युद्धों में कभी-कभी आत्म-श्लाघा, ताल ठोकना, गर्व, बल, अस्त्रों का उठाना, पैंतरे बाजी, एक दूसरे को ललकारना आदि होते हैं। ये सब वीरभक्तिरस के उद्दीपन हैं। एक मित्र ने श्रीकृष्ण को चुनौती दी, "हे सखे दामोदर ! तुम केवल खाने में ही कुशल हो। तुमने छल से दुर्बल सुबल को हरा दिया, इसमें कौन बड़ी बात है। इस आधार पर अपने को वीर योद्धा घोषित न करो। तुमने अपने को सर्प बताया है और मैं मोर हूँ; इसलिए तुम्हें अवश्य परास्त कर दूँगा।" मोर सर्प का सबसे शक्तिशाली शत्रु है।

सखाओं में होने वाले इस प्रकार के युद्ध में आत्मश्लाघा को विद्वानों ने अनुभाव बतलाया है। पैंतरा बदलना, अकेले होने पर भी युद्ध की इच्छा तथा युद्ध से न भागना, ये सब वीररस की क्रियाएँ भी अनुभाव हैं। एक मित्र श्रीकृष्ण से बोला, 'हे मधुसूदन ! तुम मेरे बल-पराक्रम को जानते हो; फिर भी तुम बलशाली बलदेव को चुनौती देने के लिये भद्रसेन को उत्साहित कर रहे हो, मुझे नहीं। इससे मेरा अपमान हुआ है। मेरी भुजाएँ अर्गला की प्रतिद्वन्द्वी हैं।"

एक भक्त बोला, "हे कृष्ण ! मघगर्जन और सिंहनाद जैसी वीररस की क्रियाओं के लिये तुम्हारा प्रतिद्वन्द्वी श्रीदामा सर्वोत्कर्षशाली है।" युद्ध, दान, दया और धर्म सम्बन्धी वीररस की क्रियाओं को सात्त्विक कहते हैं जबकि गर्व, भावुकता, वृत्ति, घृणा, मति, हर्ष, उत्साह, अमर्ष, असूया, और स्मृति आदि व्यभिचारिभाव हैं। जब स्तोककृष्ण नामक श्रीकृष्ण का एक सखा उनसे लड़ रहा था तो उसके पिता ने श्रीकृष्ण से लड़ने के लिये उसे डाँटा; श्रीकृष्ण सम्पूर्ण व्रजवासियों के जीवन-प्राण जो ठहरे। पिता की डाँट को सुनकर स्तोककृष्ण ने लड़ना छोड़ दिया। परन्तु श्रीकृष्ण उसे चुनौती देते रहे; इसलिये इस ललकार का मुकाबला करने के लिये स्तोककृष्ण ने अपनी लाठी पकड़ कर और फिर उसे घुमा-घुमाकर अपनी दक्षता का परिचय दिया।

एक बार भद्रसेन को ललकार कर श्रीदामा बोला, "हे सखे ! तुम्हें अभी मुझसे कोई भय नहीं होना चाहिये। पहले बलराम को हराकर, श्रीकृष्ण को पीटकर ही मैं तुम्हारे सामने आऊँगा।" यह कहकर भद्रसेन बलराम के दल को छोड़कर श्रीकृष्ण के साथ हो गया। इससे उसके मित्रों को उतना ही क्षोभ हुआ जैसे मन्दराचल से मथे जाने पर समुद्र को हुआ था। अपने गम्भीर गर्जन से उसने अपने सब सखाओं को बहरा कर दिया और श्रीकृष्ण को अपनी वीर क्रियाओं से आह्लादित किया।

एक समय श्रीकृष्ण ने अपने सब मित्रों को चुनौती देते हुए कहा "हे सखाओ ! देखो-देखो मैं महान् वीरता के साथ कूद रहा हूँ; इसलिये, यहाँ से भागो मत।" इन चुनौती भरे शब्दों को सुनकर वरूथप नामक सखा श्रीकृष्ण की ललकार को स्वीकार करते हुए उनसे भिड़ गया।

एक सखा बोला, "श्रीदामा दामोदर को हारा देखने के लिये पूरा प्रयास कर रहा है। मैं समझता हूँ कि यदि हमारा शक्तिशाली सुबल उसके साथ हो जाए तो फिर दोनों की जोड़ी रत्नजड़ित स्वर्ण जैसी मनोहर लगेगी।"

इन वीररस की क्रियाओं में श्रीकृष्ण के सखा ही प्रतिद्वन्द्वी हो सकते हैं। श्रीकृष्ण के शत्रु वास्तव में उनका विरोध कभी नहीं कर सकते। अतएव श्रीकृष्ण के सखाओं का उन्हें इस प्रकार चुनौती देना वीरभक्तिरस कहलाता है।

दानवीर दो प्रकार के होते हैं—उदार और त्यागी। जो श्रीकृष्ण के सुख के लिये सर्वस्व त्याग कर सकता है उसे उदार कहते हैं। जब कोई श्रीकृष्ण को देखकर त्याग करने की इच्छा करता है तो श्रीकृष्ण उस दान-

क्रिया के उद्दीपन माने जाते हैं। जब श्रीकृष्ण उनके घर पुत्र रूप से अवतरित हुए तो नन्द महाराज ने शुद्धभाव से अपने पुत्र के लिये सम्पूर्ण मंगल की कामना की। वे सब ब्राह्मणों को मूल्यवान गायों का दान देने लगे। इस दानक्रिया से ब्राह्मण इतने सन्तुष्ट हुए कि उन्हें कहना पड़ा कि नन्द महाराज ने अपने दान से महाराज पृथु और नृग जैसे पूर्ववर्ती उदार राजाओं को भी हरा दिया।

जब कोई भगवान् की कीर्ति को पूर्णरूप से जानता है और इस लिये उनके लिये सर्वस्व अर्पण करने को तैयार रहता है तो उसे सम्प्रदानक कहते हैं।

जिस समय महाराज युधिष्ठिर राजसूय मण्डलयज्ञ में श्रीकृष्ण के साथ जा रहे थे तो वे मन ही मन श्रीकृष्ण के शरीर में चन्दन का आलेप करने लगे और गले में अजानुलम्बित माला सुशोभित करने लगे। उन्होंने श्रीकृष्ण को सोने की कसीदाकारी से युक्त वस्त्रालंकार पहनाए और नाना रत्नों से विभूषित अलंकारों से अलंकृत किया। श्रीकृष्ण को बहुत से सुसज्जित हाथी, घोड़े और रथ भी दिए। उन्होंने आगे श्रीकृष्ण को अपने सारे राज्य, अपने परिवार और स्वयं अपनी आत्मा तक का दान करने का संकल्प किया। ऐसा करने के बाद जब उन्होंने पाया कि वास्तव में श्रीकृष्ण को दान देने के लिये ऐसा कुछ भी नहीं है तो महाराज युधिष्ठिर अत्यन्त उद्विग्न और व्याकुल हो उठे।

इसी प्रकार महाराज बलि ने एक समय अपने पुरोहित शुक्राचार्य से कहा था, "हे ऋषे! आप वेदों के ज्ञान में पूर्ण निष्णात् हैं और इसलिए वैदिक कर्मकाण्ड के द्वारा भगवान् विष्णु की आराधना करते हैं। जहाँ तक इन वामन देव ब्राह्मण का सम्बन्ध है; ये चाहे स्वयं भगवान् विष्णु हों, कोई साधारण ब्राह्मण हों अथवा मेरे शत्रु ही क्यों न हों, मैंने संकल्प कर लिया है कि इनके द्वारा माँगी गई सारी भूमि इन्हें अवश्य दूंगा।" महाराज बलि इतने भाग्यवान् थे कि भगवान् ने उनके आगे अपने उसी हाथ को फैलाया जो लक्ष्मीदेवी के कुंकुम उपलिप्त वक्षःस्थल के स्पर्श से लाल सा हो गया। भाव यह है कि यद्यपि श्रीभगवान् की ऐसी अपार महिमा है कि साक्षात् लक्ष्मीदेवी उन्हें आनन्द प्रदान करने के लिये उनके आधीन रहती हैं; फिर भी उन्होंने बलि महाराज से दान लेने के लिये अपना हाथ फैलाया।

जो पुरुष श्रीकृष्ण को अपना सर्वस्व दान करना चाहता है, परन्तु बदले में कुछ नहीं चाहता वह सच्चा त्यागी समझा जाता है। अतएव

स्वयं भगवान् द्वारा दिये जाने पर भी भक्त मुक्ति को भी नहीं लेता। कृष्णप्रेम का वास्तविक प्रकाश तभी होता है जब श्रीकृष्ण दान को लेने वाले बन जाते हैं और भक्त दान देने वाला बन जाता है।

'हरिभक्तिसुधोदय' में ध्रुव महाराज का एक अन्य उदाहरण है। वे कहते हैं, "हे स्वामिन् ! मैं आपसे किसी अभिलाषा को लेकर तप-त्याग के अध्यात्म में प्रवृत्त हुआ था। परन्तु इसके बदले में आपने मुझे अपना मुनि-दुर्लभ दर्शन प्रदान किया है। मैं केवल कुछ काँच के टूटे टुकड़े ढूँढ रहा था। परन्तु उसके स्थान पर मुझे अमूल्य रत्न मिल गया। अतएव अब मैं पूर्ण सन्तुष्ट हो चुका हूँ। हे नाथ ! मुझे अब आपसे और कुछ नहीं चाहिये।"

इसी के अनुरूप श्रीमद्‌भागवत (३.१५.४८) में उल्लेख हैं—'सनक आदि चारों कुमार भगवान् को सम्बोधन करते हुए कहते हैं, "हे भगवन् ! आपकी निर्मल कीर्ति बड़ी आकर्षक है; अतएव आपकी ही कीर्ति गान के योग्य है और वास्तव में आप ही सम्पूर्ण तीर्थों के निवास हैं। सौभाग्य-शाली पुरुष आपका गुणगान किया करते हैं और वास्तव में आपके दिव्य स्वरूप को जानते हैं; वे आपके द्वारा दी हुई मुक्ति की भी परवाह नहीं करते। उन्हें दिव्य महानिधि प्राप्त हो जाती है, इसलिये वे देवराज इन्द्र का स्थान भी नहीं चाहते। वे जानते हैं कि स्वर्ग का आसन भी भय से खाली नहीं है, जबकि जो केवल आपकी दिव्य कीर्ति के गान में लगे रहते हैं उनके लिये केवल आनन्द और निर्भयता रहती है। ऐसे में इस प्रकार के ज्ञानी पुरुष स्वर्ग के सिंहासन के प्रति आकृष्ट क्यों हों ?"

एक भक्त ने राजा मयूरध्वज की दानपरायणता पर अपने भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है, "जिनकी दान-परायणता का वर्णन करना भी मेरे लिए असम्भव है उन राजा मयूरध्वज को सादर प्रणाम है।" मयूर-ध्वज बड़े बुद्धिमान् थे; अतएव एक समय जब श्रीकृष्ण ब्राह्मण रूप में उनके पास गये तो वे उनका प्रयोजन समझ गये। श्रीकृष्ण ने उनसे उनकी देह का आधा भाग माँगा। यह भी कहा कि स्वयं पत्नी और पुत्र उनके शरीर को काटें। राजा मयूरध्वज ने इसको मान लिया। अपने प्रगाढ़ भक्तिभाव के कारण वे निरन्तर श्रीकृष्ण के चिन्तन में निमग्न रहते थे। इसलिये जब उन्होंने जाना कि श्रीकृष्ण स्वयं ब्राह्मण रूप में आये हैं तो अपनी देह का आधा भाग देने में तनिक भी संकोच न किया। श्रीकृष्ण के लिये महाराज मयूरध्वज का यह त्याग जगत् में अद्वितीय है। अतएव हमें उनकी सादर वन्दना करनी चाहिये। उन्हें ब्राह्मण रूपधारी भगवान् का पूर्ण ज्ञान था और वे पूर्ण दानवीर कहलाते हैं।

जो पुरुष निरन्तर भक्तियोग के आचरण में बहुत कुशल हों उन्हें धर्मवीर कहा जाता है। धर्मानुष्ठान में लगे उत्तम भक्त ही इस धर्मवीर श्रेणी में आ सकते हैं। प्रामाणिक शास्त्रों के अध्ययन, नीति के पालन, श्रद्धाभाव, सहिष्णुता और इन्द्रियसंयम के द्वारा धर्मवीर बना जा सकता है। जो पुरुष श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिये धर्मानुष्ठान करते हैं वे भक्तियोग में स्थिर रहते हैं, जबकि दूसरे जो श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने की इच्छा के बिना धर्मानुष्ठान करते हैं वे केवल पुण्यात्मा कहलाते हैं।

धर्मवीरता के सर्वोत्तम प्रतीक महाराज युधिष्ठिर हैं। एक भक्त ने श्रीकृष्ण से कहा है, "हे कृष्ण ! हे दनुज-दमन ! महाराज पाण्डु के ज्येष्ठ पुत्र महाराज युधिष्ठिर ने आपकी प्रसन्नता के लिये नाना प्रकार के सब यज्ञों का आयोजन किया है। उनमें भाग लेने के लिये वे निरन्तर स्वर्ग के देवता इन्द्र का आह्वान किया करते हैं। इन्द्र की स्वर्ग से अनुपस्थिति में शची देवी प्रायः अपना समय कपोल को हथेली पर धारण किये हुए बिताती हैं।"

देवताओं के लिये नाना यज्ञ करना श्रीभगवान् के अंगों की आराधना करना है। देवताओं को विष्णुरूपधारी भगवान् के नाना अंग माना जाता है। इसलिये उनकी आराधना का अंतिम प्रयोजन अंगों की उपासना से साक्षात् श्रीभगवान् को प्रसन्न करना हो है। महाराज युधिष्ठिर की ऐसी कोई लौकिक इच्छा नहीं थी। उन्होंने सब यज्ञों का अनुष्ठान साक्षात् श्रीकृष्ण के निर्देशानुसार किया। वे उनसे कोई निजी लाभ नही उठाना चाहते थे। उनकी एकमात्र इच्छा श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने की थी। अतएव वे भक्तों के शिरोमणि माने गये। युधिष्ठिरजी वास्तव में निरन्तर प्रेममयी भक्ति के सागर में निमग्न रहते थे।

अध्याय ४७

करुणभक्तिरस और रौद्रभक्तिरस

करुणभक्तिरस

जब भक्तिभाव के कारण कृष्ण के सम्वन्ध में किसी प्रकार की शोकरति की उत्पत्ति हो तो उसे करुणभक्तिरस कहते हैं। इस भक्तिरस का उद्दीपन हैं श्रीकृष्ण के दिव्य गुण, रूप, लीला आदि। इस भक्तिरस में कभी-कभी शोक करना, भारी साँस लेना, रोना, भूमि पर गिर पड़ना और छाती पीटना आदि अनुभाव होते हैं। कभी-कभी आलस्य, निर्वेद, अपयश, दैन्य, चिन्ता, विषाद, ग्लानि, उत्सुकता, चपलता, उन्माद, विस्मृति, मरण, मोह और व्याधि आदि लक्षण भी होते हैं। भक्त के मन में श्रीकृष्ण के अनिष्ट की आशंका को शोकरति कहते हैं। वही इस करुणभक्तिरस में स्थायिभाव मानी जाती है।

श्रीमद्भागवत (१०.१६.१०) में यह विवरण है। श्रीकृष्ण को यमुना में कालिय नाग के फनों में लिपटा हुआ देखकर उनके सर्वप्रिय गोपबालक बड़े उद्विग्न हो उठे। शोक, संताप और भयवश, मूढ़ होकर वे भूमि पर गिर पड़े। वे मोहवश समझ रहे थे कि श्रीकृष्ण किसी विपत्ति में पड़ गये हैं। अतएव उनमें इन लक्षणों का प्रकट होना बिल्कुल आश्चर्यजनक नहीं। उन्होंने अपनी मित्रता, अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि अपनी इच्छा और आत्मा भी श्रीकृष्ण को अर्पण कर रखी थी।

श्रीकृष्ण के भयंकर विषमय कालिय ह्रद में उतर जाने पर यशोदा मैया नाना प्रकार की शंका करती हुई गरम-गरम साँस लेने लगीं। नेत्रों से विगलित अश्रुधारा ने उनके वस्त्रों को भिगो डाला। इस प्रकार वे प्रायः मूर्च्छित हो गईं।

इसी प्रकार जब शंखासुर दैत्य एक-एक करके श्रीकृष्ण की महिषियों पर आक्रमण कर रहा था तो श्रीकृष्ण के अग्रज बलराम जी एकदम काले पड़ गये।

'हंसदूत' में निम्नलिखित घटना का उल्लेख है। गोपियों ने हंसदूत से निवेदन किया कि वह श्रीकृष्ण के चरणकमलों के चिह्नों का अन्वेषण करे और मिल जाने पर उन्हें उसी प्रकार सिर पर धारण करे जिस प्रकार श्रीकृष्ण के सारे गोपबालकों को चुराने के बाद ब्रह्माजी ने उन्हें शिरोधार्य किया था। श्रीकृष्ण को चुनौती देने की भूल के लिये शोक करते हुए ब्रह्माजी ने उनके सामने झुककर प्रणाम किया था, जिससे उनका मुकुट श्रीकृष्ण के चरणचिह्नों से अंकित हो गया। गोपियों ने हंसदूत को स्मरण कराया कि कभी-कभी नारद जैसे महान् ऋषि भी इन चरण-चिह्नों को देखकर भाव-विह्वल हो जाते हैं और कभी-कभी जीवन्मुक्त महर्षियों में भी उन्हें देखने की लालसा जाग उठती है। "अतएव तुम्हें बड़े उत्साहपूर्वक श्रीकृष्ण के चरणचिह्नों को खोजना चाहिये," उन्होंने निवेदन किया। यह भी करुणभक्तिरस का सन्दर्भ है।

एक बार नकुल के अनुज सहदेव को श्रीकृष्ण के चरणों से निस्सृत तेजोमय दीप्ति को देखकर बड़ा आनन्द हुआ। वह रोते हुए पुकार उठा, "माता माद्री तुम कहाँ हो? पिता पाण्डु आप अब कहाँ हैं? हा शोक! हा शोक! इस अवसर पर श्रीकृष्ण के चरणचिह्नों को देखने के लिये आप यहाँ नही हैं।" यह भी करुणभक्तिरस है।

श्रीकृष्णविषया दृढ़ रति से रहित भक्ति में स्मित आदि लक्षण तो हो सकते हैं परन्तु करुणभक्तिरस का शोकभाव कभी नहीं हो सकता। इस करुणरति के मूल में सदा प्रेम रहता है। श्रीकृष्ण अथवा उनकी प्रियाओं को भय की आशंका को जैसे बलदेव और युधिष्ठिर प्रकट करते हैं, वैसा ऊपर वर्णन किया गया है। इस आशंका में श्रीकृष्ण की अचिन्त्य शक्तियों का अज्ञान कारण नहीं है; इनके मूल में है उनके लिये भक्त का प्रगाढ़ प्रेम। श्रीकृष्ण को भय होने की ऐसी आशंका पहले-पहल शोक के आश्रय के रूप में प्रकट होती है; परन्तु शनैः-शनैः वह करुणभक्तिरस में विकसित होकर विशिष्टता को प्राप्त हो जाती है और इस प्रकार अनिर्वचनीय आनन्द देती है।

रौद्रभक्तिरस

श्रीकृष्ण के लिये रौद्रभक्तिरस में श्रीकृष्ण ही निरन्तर क्रोध के विषय अर्थात् आलम्बन विभाव होते हैं। विदग्धमाधव (२.३७) में ललिता गोपी श्रीकृष्ण के कारण हुए अपने क्रोध को राधारानी के सामने व्यक्त करती है, "हे सखि! मेरा चित्त संताप से भर गया है; इसलिये अब मैं

मरकर यमराज के पास जाऊँगी। परन्तु मुझे दुःख है कि मुझे छल कर अब भी यह कृष्ण हँसे जा रहा है। हे राधिके ! तुम तो बड़ी बुद्धिमान् हो। फिर कैसे तुमने अपनी सारी प्रेम-सम्पदा को इस कामुक ग्वाले नव-युवक में लगा दिया है ।"

कभी-कभी श्रीकृष्ण को देखकर जरती कहने लगती, "अरे ओ ! युवतियों को लूटने वाले धूर्त ! मैं तेरे पास अपनी बहू के दुपट्टे को स्पष्ट देख रही हूँ। फिर भी तू झूठ बोल रहा है।" फिर वह चिल्ला-चिल्ला कर व्रजवासियों से कहने लगती, "हे वृन्दावनवासियो ! देखो इस नन्द महाराज के पुत्र ने मेरी बहू की गृहस्थी में आग लगा दी है।"

श्रीकृष्ण जिन अर्जुन वृक्षों से बँधे हुए थे, उनके गिरने की गर्जना को सुनकर रोहिणीदेवी ने भी कृष्ण के लिए इसी प्रकार प्रेम को अभिव्यक्त किया था। सारा अडौस-पड़ौस तुरन्त दुर्घटना के स्थान पर दौड़ पड़ा। रुक्मिणीदेवी ने उस अवसर पर यशोदा मैया को डाँटते हुए कहा, "हे व्रजेन्द्रगेहनी ! अपने पुत्र को रस्सी से बाँध कर तुम उसे शिक्षा देने में बड़ी कुशल हो; सो ठीक है। परन्तु क्या तुम यह भी नहीं देख सकतीं कि तुम्हारा पुत्र संकट में पड़ गया है। वृक्ष पृथ्वी पर गिर रहे हैं और वह फिर भी इधर-उधर घूम रहा है।" यशोदा पर रोहिणीदेवी का यह क्रोध श्रीकृष्ण के कारण हुए रौद्रभक्तिरस का प्रतीक है।

एक बार जब श्रीकृष्ण अपने गोप-सखाओं के साथ गोचारण भूमि में विचर रहे थे तो उनके मित्रों ने उनसे तालवन जाने का अनुरोध किया, जहाँ गर्धभासुर रहता था। श्रीकृष्ण के मित्र उस वन के वृक्षों के फल खाना चाहते थे; परन्तु उस असुर से भयवश वहाँ जाने में उनको संकोच था। अतएव उन्होंने श्रीकृष्ण से अनुरोध किया कि वे वहाँ जाकर गर्धभा-सुर का वध कर दें। जब श्रीकृष्ण ने ऐसा किया तो वे सब घर लौट आये और उनके इस समाचार से यशोदा मैया को बड़ी चिन्ता हुई, क्योंकि श्रीकृष्ण को अकेले ही तालवन जैसे भयंकर स्थान पर भेज दिया गया था। इस पर वे बालकों की ओर क्रोधभरी दृष्टि से देखने लगीं।

राधारानी की एक सखी के क्रोध का भी एक उदाहरण मिलता है। जब श्रीकृष्ण के व्यवहार से रुष्ट होकर राधारानी ने उनसे बोलना बन्द कर दिया तो श्रीमती राधारानी के असन्तोष से कृष्ण को बडा दुःख हुआ और क्षमा-विनती के लिये वे उनके चरणकमलों में गिर पड़े। परन्तु फिर भी राधारानी सन्तुष्ट नहीं हुईं; उन्होंने श्रीकृष्ण से बातचीत नहीं की। इस पर एक सखी ने उन्हें इन शब्दों में डाँटा, "तू

अतृप्ति की मथनी से अपने-आपको मथने दे रही है। तो फिर मैं क्या कह सकती हूँ ? जा मेरे पास से दूर चली जा। तेरे पास रहने से मेरे शरीर में आग सी लग जाती है। मैं तेरे इस निष्ठुर व्यवहार को नहीं देख सकती, क्योंकि अपने मोरपंख से तेरे चरणों को छूते हुए प्रियतम श्रीकृष्ण के प्रति भी तू क्रोध से ऐंठी रही।"

भक्तियोग में इस रूठने अथवा क्रोध के भाव को 'ईर्ष्या' कहते हैं।

जब अक्रूर वृन्दावन को छोड़कर जा रहे थे तो कुछ वृद्धा गोपियों ने उन्हें डाँटते हुए कहा, "हे गन्दिनीनन्दन! तेरी निष्ठुरता यदुवंश को अपयश दे रही है। तू श्रीकृष्ण को लिए जा रहा है। इससे उनकी विरह की आशंका के कारण हम अत्यन्त करुण अवस्था को पहुँच रहे हैं। अब तेरे जाने से भी पहले सब की सब गोपियों के प्राणपखेरू प्रायः उड़ से गये हैं।"

जब महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में शिशुपाल ने श्रीकृष्ण का अपमान किया तो पाण्डवों और कुरुओं में बड़ी हलचल हो गई। पितामह भीष्म भी इससे अछूते न रहे। उस समय नकुल ने बड़े क्रोध में भरकर कहा, "श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं। उनके चरणनख वेदरूपी ज्योति से देदीप्यमान हैं। यदि कोई उनका अपमान करता है तो मैं पाण्डव घोषणा करता हूँ कि मैं उसके मस्तक पर अपनी उल्टी लात का प्रहार करूँगा और यमदंड के समान भयंकर अपने बाणों का उसे निशाना बनाऊँगा।" यह भी श्रीकृष्ण के लिये रौद्रभक्तिरस का उदाहरण है।

इस प्रकार के दिव्य क्रोध में कभी-कभी हँसना, व्यंग्य वचन, कटु आक्षेप करना, अनादर करना आदि लक्षण होते हैं। कभी-कभी हाथों का मलना, दाँत किटकिटाना, आँखों का लाल हो जाना, होंठ चबाना, अत्यन्त भौंहे चढ़ाना, भुजाओं का फड़कना, भुजाओं का ठोंकना, चुप हो जाना, सिर झुका लेना, निःश्वास, टेढ़ी दृष्टि, धिक्कारना, सिर हिलाना, नेत्रों के किनारों पर लालिमा छा जाना, भौंहों का टेढ़ा होना, होंठों का फड़कना आदि अनुभाव होते हैं। कभी नेत्र लाल हो जाते हैं तो कभी म्लान पड़ जाते हैं। कभी क्रुद्ध पुरुष फटकारता है, तो कभी चुप पड़ जाता है। क्रोध के इन लक्षणों के दो भाग किये जा सकते हैं—सात्त्विक तथा व्यभिचारी। कभी-कभी आवेश, जड़ता, गर्व, निर्वेद, मोह, चपलता, असूया, उग्रता, अमर्ष एवं श्रम आदि व्यभिचारिभात्र भी होते हैं।

इन सब भावों में क्रोधरति स्थायिभाव मानी गई है।

मथुरा पर आक्रमण करते हुए क्रुद्ध जरासन्ध ने श्रीकृष्ण पर व्यंग्य-भरी दृष्टि डाली। उस समय बलरामजी ने अपना हल धारण कर लिया और जरासन्ध को लाल-लाल आँखों से देखने लगे।

'विदग्धमाधव' के एक श्लोक में श्रीमती राधारानी क्रोध की मुद्रा में अपनी माता से बोलीं। राधारानी पर श्रीकृष्ण के पास जाने का आरोप लगाया गया था। वे कहने लगीं, "हे माता! मैं तुमसे क्या कहूँ? कृष्ण ऐसा निर्दयी है कि अनेक बार मार्ग में मुझ पर आक्रमण करता है और यदि मैं रोना भी चाहूँ तो यह मोरमुकुटधारी धूर्त मेरे मुख को ढक लेता है, जिससे मैं रो भी नहीं पाती। यदि मैं उससे डरकर वहाँ से भागना चाहूँ तो वह तुरन्त मेरा मार्ग रोक लेता है। यदि मैं दीन भाव से उसके चरणों में गिर जाऊँ तो वह मधुसूदन क्रोध में भरकर मेरे मुख को काटता है। हे माता! मेरी परिस्थिति को समझने का प्रयत्न करो। मुझ पर अनावश्यक क्रोध न करो। मुझे डाँटने के स्थान पर बताओ कि मैं कृष्ण के इन भयंकर आक्रमणों से कैसे बचूँ?"

कभी-कभी बराबर वालों में श्रीकृष्ण के प्रेम को लेकर क्रोध के भाव प्रकट होते हैं। इसका एक उदाहरण जटिला और मुखरा की लड़ाई है। जटिला राधारानी की सास थी और मुखरा उसकी नानी थी। ये दोनों चर्चा कर रही थीं कि किस प्रकार मार्ग में जाती हुई राधारानी को कृष्ण व्यर्थ सताया करता है। मुखरा बोली, "हे दुर्मुखी जटिले! तेरी बातों को सुनकर मेरे हृदय और मस्तिष्क दोनों में आग लगी जा रही है। तेरा यह कहना किसी प्रमाण के बिना है कि कृष्ण मेरी दौहित्री (लड़की की पुत्री) राधारानी को छेड़ता है।"

एक बार जब राधारानी श्रीकृष्ण के दिए हुए रत्नहार को उतार कर रख रही थीं तो उनकी सास जटिला एक सखी से कहने लगी, "हे सखि! इस सुन्दर हार को देख जो कृष्ण ने राधारानी को भेंट किया है। वह अब उसे पकड़े हुए है और फिर भी हमें यह बतलाना चाहती है कि उसका कृष्ण से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस लड़की की क्रिया ने तो हमारे सारे कुल को कलंकित कर दिया है।"

शिशुपाल जैसे व्यक्तियों में श्रीकृष्ण के लिये प्राप्त होने वाली स्वाभाविक ईर्ष्या को श्रीकृष्ण के साथ रौद्रभक्तिरस नहीं माना जा सकता।

अध्याय ४८

भयानकभक्तिरस तथा बीभत्सभक्तिरस

भयानकभक्तिरस

श्रीकृष्ण के लिए भयानकभक्तिरस में श्रीकृष्ण स्वयं अथवा श्रीकृष्ण के लिए भयानक अन्य व्यक्ति आलम्बन विभाव होते हैं। जब भक्त अपने को श्रीकृष्ण के चरणकमलों का अपराधी अनुभव करता है तो श्रीकृष्ण स्वयं भयानकभक्तिरस के आलम्बन बन जाते हैं। जब प्रेमवश श्रीकृष्ण के सखा और सुहृद उनके लिए किसी भय की आशंका करते हैं तो वह अवस्था भी उनके भय का आलम्बन बन जाती है।

जब ऋक्षराज श्रीकृष्ण के सामने खड़ा हुआ उनसे लड़ रहा था, तब अकस्मात् उसे अनुभव हुआ कि वे साक्षात् भगवान् हैं। ऐसे अवसर पर श्रीकृष्ण ने उससे कहा, "हे ऋक्षराज! तुम्हारा मुख सूखा क्यों जा रहा है। मन से मेरे भय को निकाल दो। तुम्हारा हृदय इस प्रकार काँप क्यों रहा है। तनिक विश्राम करके स्वस्थ हो जाओ। मुझे तुम पर तनिक भी क्रोध नहीं है। परन्तु तुम जितना चाहो मुझ पर क्रोध कर सकते हो, क्योंकि इससे मेरे साथ लड़कर मुझे आनन्दित करके तुम अपनी सेवा का विस्तार करोगे।" कृष्णभक्तिरस की इस भयानक अवस्था में श्रीकृष्ण स्वयं भयानकरस के आलम्बन हैं।

एक ऐसी भयानक अवस्था, जिसमें श्रीकृष्ण विषय हों, इस प्रकार है—बालकृष्ण से यमुना जल में अच्छी प्रकार से पराजित होकर कालिय नाग उनसे कहने लगा, "हे मुरारि! मैंने अपने तप-त्याग से अनेक योग-सिद्धियों का अर्जन किया है। परन्तु फिर भी आपके सामने मैं कुछ भी नहीं हूँ। मैं परम तुच्छ हूँ। अतएव मुझ दीन जीव पर कृपा करें और मेरे प्रति अपने क्रोध को त्याग दें। मैं आपके यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता। इसी अज्ञानवश अनेक भयंकर अपराध कर बैठा हूँ। कृपया मुझे बचायें। मैं परम अधम मूर्ख जीव हूँ। मुझ पर कृपा करें।" यह भयानक भक्तिरस का एक अन्य उदाहरण है।

जिस समय केशी दानव बड़े भारी घोड़े का रूप धारण कर पेड़ों पर से कूद-कूद कर वृन्दावन में उत्पात कर रहा था, तो यशोमति मैया नन्द महाराज से कहने लगीं, "हमारा लाला बड़ा चंचल है। अतएव इसे बलपूर्वक घर में बन्द करके रखना चाहिये। मुझे घोड़े का रूप धारण कर उत्पात करते हुए केशी दैत्य से बड़ा भय लग रहा है।" जब यह पता चला कि वह असुर क्रुद्ध होकर गोकुल में प्रवेश कर रहा है तो यशोदा मैया अपने बालक की रक्षा के लिये इतनी आतुर हो गईं कि उनका मुख सूख गया और नेत्रों में आँसू भर आए। श्रीकृष्ण के लिये भयानक लगने वाली किसी वस्तु को देखने अथवा सुनने से होने वाले भयानकभक्तिरस के ये कुछ अनुभाव हैं।

पूतना राक्षसी के मारे जाने पर यशोदा मैया की कुछ सखियाँ उनसे घटना के विषय में पूछने लगीं। यशोदा मैया ने तुरन्त अपनी सखियों से निवेदन किया, "चुप हो जाओ, चुप हो जाओ। पूतना के बारे में कुछ न पूछो। उस घटना का स्मरण होते ही मैं दुःखी हो जाती हूँ। पूतना राक्षसी मेरे पुत्र को खाने आई थी और उसने मुझसे छल करके बालक को अपने अंक में भी ले लिया था। इसके बाद वह मर कर गिर पड़ी, जिस कारण उसके विशालकाय शरीर से भयानक शब्द हुआ।"

भयानकभक्तिरस में मुख का सूखना, निःश्वास, मुड़ कर देखना, अपने को छिपाना, घबराहट, शरण की खोज और जोर-जोर से रोना—ये सब अनुभाव हैं। कुछ अन्य व्यभिचारिभाव हैं—मोह, विस्मृति, भय की आशंका, इत्यादि। सब में भयरति स्थायिभाव है। किसी भी प्रकार का भय अपराधों अथवा भयानक परिस्थितियों के कारण होता है। अपराध नाना प्रकार से हो सकते हैं और भय का अनुभव अपराधी को होता है। जब भय किसी भयानक पदार्थ के कारण होता है तो उस पदार्थ की आकृति-प्रकृति तथा प्रभाव भयानक होते हैं। इसका एक उदाहरण पूतना राक्षसी है। भय राजा कंस जैसे आसुरी चरित्र के कारण भी हो सकता है और महान् शक्तिशाली इन्द्र, शंकर जैसे देवताओं के कारण भी हो सकता है।

कंस जैसे असुरों को श्रीकृष्ण से भय होता था। परन्तु उनके भावों को भयानकभक्तिरस के अन्तर्गत नहीं समझा जा सकता।

बीभत्सभक्तिरस

प्रामाणिक सूत्रों से जाना जाता है कि जुगुप्सा के कारण श्रीकृष्ण में

होने वाली आसक्ति कभी-कभी भक्ति के वीभत्सरस के रूप में प्रकट होती है। इस प्रकार के कृष्णभक्तिरस का अनुभव करने वाला प्रायः शान्तरस में स्थित रहता है। वीभत्सभक्तिरस का वर्णन निम्नलिखित है।

"यह व्यक्ति पहले केवल कामक्रिया और इन्द्रियतृप्ति में रुचि रखता था। अपने कामविकार की पूर्ति के लिये इसने रतिचौर्य में बड़ी निपुणता प्राप्त कर ली थी; परन्तु यह कैसा आश्चर्य है कि अब यह वही मनुष्य आँखों में आँसू भर कर श्रीकृष्ण के नाम का कीर्तन कर रहा है। अब जैसे ही किसी स्त्री के मुख को देखता है, तुरन्त मुँह सिकोड़ लेता है। इसकी मुखमुद्रा से प्रतोत होता है कि इसे अब मैथुन से घृणा हो गई है।"

भक्ति के इस वीभत्सरस के अनुभाव हैं—अपने पूर्व जीवन के विचार पर थूकना, मुँह सिकोड़ना, नाक वन्द कर लेना, हाथ धोना, भागना, काँपना, रोमांचित हो जाना, पसीना आ जाना इत्यादि। इसमें ग्लानि, श्रम, मोह, निर्वेद, विषाद, चपलता, आवेग, जाड्य आदि व्यभिचारिभाव भी रहते हैं।

जब कोई भक्त अपने पूर्व जीवन की जघन्य क्रियाओं पर शोक करता हुआ शरीर पर विशेष लक्षणों को प्रकट करता है तो उसके भाव को वीभत्सभक्तिरस कहा जाता है। यह कृष्णभावना के जाग्रत हो जाने के कारण होता है।

इस सन्दर्भ में यह कथन है, "भगवान् की भक्ति के लवलेश का भी उदय हो जाने पर फिर इस हाड़-माँस से बने, रुधिर से भरे, दुर्गन्ध से पूर्ण शरीर में कोई रति का आनन्द कैसे ले सकता है?" यह अनुभव उसी को हो सकता है जो कृष्णभावना को प्राप्त हो गया हो और जिसे इस बात का पूर्ण बोध हो गया हो कि यह प्राकृत देह परम अधम प्रकृति की है।

माता के गर्भ में कोई भाग्यवान बालक श्रीकृष्ण से प्रार्थना करता है, "हे कंस के शत्रु! मैं इस प्राकृत देह के कारण बड़ा दुःख पा रहा हूँ। इस समय मैं अपनी माता के गर्भ में रुधिर, मूत्र और मल के बीच पड़ा हुआ हूँ। ऐसी विगर्हित स्थिति में जीवन धारण करता हुआ मैं अत्यन्त दुःख पा रहा हूँ। इसलिये हे कृपा के सागर! मुझ पर प्रसन्न हों। मुझ में आपकी दिव्य प्रेममयी सेवा में संलग्न होने की कोई योग्यता नहीं है; परन्तु फिर भी कृपया मेरी रक्षा करें।" नरक में गिरा प्राणी भी इसी प्रकार प्रार्थना करता है। वह भगवान् से कहता है, "हे नाथ! यमराज ने मुझे गन्दे, कीडों से भरे और दुर्गन्धयुक्त स्थान में रखा है। मैं नाना प्रकार के

व्याधिग्रस्त लोगों के मल-मूत्र से घिरा हुआ हूँ। इस भयानक दृश्य को देखकर मेरी आँखों में घाव हो गये हैं और मैं प्रायः अन्धा हो चला हूँ। इसलिये हे नाथ ! आपसे प्रार्थना है कि इस नारकीय स्थिति से मेरी रक्षा करें। इस समय मैं नरक में गिरा पड़ा हूँ; परन्तु फिर भी निरन्तर आपके पावन नाम को स्मरण करने की चेष्टा करूँगा और इस प्रकार मेरे लिये प्राणधारण करना सम्भव होगा।" यह अधम स्थिति के कारण होने वाली कृष्णरति का उदाहरण है।

जो निरन्तर पावन भगवन्नाम—**हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** के कीर्तन में संलग्न रहता है, उसे श्रीकृष्ण के दिव्य प्रेम को प्राप्त हुआ समझा जाता है। ऐसी अवस्था में जीवन की किसी भी परिस्थिति में वह पूर्ण स्नेह और प्रेमभाव के साथ श्रीकृष्ण का स्मरण करता हुआ सन्तुष्ट रह सकता है।

सारांश में, कहा जा सकता है कि बीभत्स कृष्णभक्तिरस का प्रादुर्भाव सुप्त शान्तरस के उन्नत स्नेहभाव में विकसित होने की अवस्था में होता है।

अध्याय ४६

रसों की मैत्री-वैर स्थिति

पूर्ववर्णन के अनुसार, श्रीकृष्ण, के साथ बारह प्रकार के रस (सम्बन्ध) होते हैं। इनमें से पाँच रस मुख्य हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य। सात रस गौण हैं—हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक तथा बीभत्स। पाँचों मुख्य रस वैकुण्ठ-जगत् में नित्य-निरन्तर प्रकाशित रहते हैं, जबकि सातों गौण रस केवल गोकुल वृन्दावन में, जहाँ श्रीकृष्ण प्राकृतजगत् के अन्तर्गत अपने दिव्य लीलारस का परिवेषण करते हैं, निरन्तर प्रकट-अप्रकट हुआ करते हैं।

प्राय: मुख्य अंगीरस के साथ-साथ कुछ अन्य रस भी पाए जाते हैं और इन रसों के मिश्रणों की कभी मैत्री होती है तो कभी विरोधी स्थिति होती है। इन नाना रसों की मैत्री और विरोधी स्थिति का वैज्ञानिक विश्लेषण निम्नलिखित है।

शान्तरस के बीभत्स और अद्भुत—ये दोनों मित्र रस हैं। माधुर्य, वीर, रौद्र और भयानक—ये शान्तरस के विरोधी हैं।

दास्यरस में भयानक, शान्त, वीर (जैसे दानवीर, धर्मवीर आदि) मित्र रस हैं। युद्धवीर और रौद्ररस स्वयं श्रीकृष्ण से उत्पन्न होते हैं।

सख्यरस के साथ माधुर्य, हास्य अथवा वीर की मैत्री स्थिति है। परन्तु भयानक अथवा वात्सल्यरस इसके विरोधी हैं।

यद्यपि वात्सल्य, हास्य, करुण और भयानक में गम्भीर अन्तराल है; फिर भी इसका मिलना संगत है।

वात्सल्यरस के साथ माधुर्य, वीर अथवा रौद्र की विरुद्ध स्थिति है।

माधुर्यरस के साथ हास्य और सख्य मित्ररस हैं।

कतिपय विद्वानों के मत में माधुर्यरस में वीररस के केवल युद्धवीर और धर्मवीर नामक रसों की ही मित्र स्थिति है। इस दृष्टि के अनुसार इन

दोनों के अतिरिक्त अन्य सब अभिव्यक्तियों को माधुर्यरस के विपरीत समझा जाता है ।

हास्यरस के भयानक, मधुर तथा वात्सल्य—ये तीनों रस मित्र हैं तथा करुण और बीभत्स ये दोनों विरोधी हैं ।

वीर और शान्त—ये दोनों अद्‌भुतरस के मित्र हैं; परन्तु रौद्र और भयानक, दोनों विरोधी हैं ।

वीररस के मित्र अद्‌भुत, हास्य तथा दास्यरस हैं, जबकि भयानक और माधुर्य ये दोनों विरोधी हैं । कुछ विद्वानों के अनुसार शान्तरस सदा वीररस का मित्र है ।

करुणभक्तिरस के मित्र हैं रौद्र और वात्सल्य । हास्य, माधुर्य तथा अद्‌भुत विरोधी हैं ।

रौद्रभक्तिरस के साथ करुण अथवा वीररस के मिलने की मैत्री स्थिति है; जबकि हास्य, माधुर्य, अथवा भयानक वैरी हैं ।

भयानक भक्तिरस के साथ बीभत्स तथा करुणरस मित्र हैं ।

वीरभक्तिरस के साथ मधुर, हास्य और रौद्ररस का मिश्रण सदा मित्र स्थिति में होता है ।

बीभत्सभक्तिरस में शान्त, हास्य और दास्य मित्र रस हैं, जबकि सख्य और माधुर्य वैरी हैं ।

उपरोक्त विश्लेषण रसाभास के अध्ययन का सार संकलन है । रसाभास की यह दिव्य विद्या भक्ति के उन सभी रसों को पूर्ण रूप से समझा सकती है जो एक दूसरे के परस्पर मित्र और विरोधी हैं । जिस समय भगवान् चैतन्य महाप्रभु जगन्नाथपुरी में विराज रहे थे, उस समय अनेक कवि और भक्त उनके पास आकर अपने नाना प्रकार के काव्यों का समर्पण करते थे । परन्तु यह नियम था कि श्रीचैतन्यदेव के निजी सचिव स्वरूप दामोदर पहले इन सब रचनाओं का बड़ी गम्भीरता से विश्लेषण करते थे । जब वे पाते कि इनमें कोई रसाभास नहीं है, तभी श्रीचैतन्यदेव के निकट जाकर कोई अपने काव्य का पाठ कर सकता था ।

रसाभास का विषय बड़ा महत्त्वपूर्ण है । जो शुद्ध भक्त हैं वे भगवान् से नाना रसों (सम्बन्धों) के विवरण में सदा पूर्ण मैत्री देखने की आशा रखते हैं । रसों की मैत्री अथवा विरोध का अध्ययन कभी-कभी बड़ा जटिल हो जाता है । इसके कारण की ओर निम्नलिखित संकेत है । जब दो मित्र आपस में मिलते हैं तो इस मिलन से उत्पन्न रस को प्रायः अत्यन्त मित्र रस माना जाता है । परन्तु वास्तव में मित्रों के ऐसे मिलन में इतने प्रकार

के भाव मिले रहते हैं कि यह कहना बहुत कठिन है कि ये भाव कब वास्तव में मित्र स्थिति को प्राप्त हो रहे हैं और कब विरोध की स्थिति में पहुँच गये हैं।

एक दूसरे से रसों की मित्रता दिखाने के लिये विद्वानों ने किसी विशेष मिश्रण में पाए जाने वाले रसों के अंगीरस और अंगरस—इस प्रकार दो भेद किये हैं। इस विधि के अनुसार मुख्यरस को अंगीरस कहते हैं और गौणरस अंगरस कहलाता है।

अंगरस और अंगीरस का विवरण निम्नलिखित वाक्य से स्पष्ट हो जाता है, "सब जीव परब्रह्म रूपी अग्नि के स्फुलिंग जैसे हैं। अतः मुझ जीवरूप स्फुलिंग को अग्नि रूप भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य सेवा में नियुक्त होने का अवसर क्या मिलेगा।" इस वाक्य में शान्तरस अंगीरस है और भगवान् की सेवा का दास्यरस अंगरस है। वास्तव में तो ब्रह्मज्योति में भगवान् और भक्त में होने वाले प्रेमरस-विनिमय की कोई सम्भावना ही नहीं होती।

एक अन्य भक्त कहता है, "मैं त्वचा से ढके, कफ, वात, पित्त, शुक्र और शोणित के ढेररूप शरीर में नाना प्रकार से रमण कर रहा हूँ। मुझे धिक्कार है, क्योंकि इस देहात्मबुद्धि के कारण मैं भगवत्स्मरण रूप दिव्य आनन्द का आस्वादन नहीं कर सकता।" इस वाक्य में शान्त और बीभत्स—दोनों रस हैं। शान्तरस अंगीरस है, जबकि बीभत्सरस अंगरस है।

एक अन्य भक्त कहता है, "अब मैं चँवर की हवा डुलाते हुए सिंहासन पर विराजमान भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में प्रवृत्त हो सकूँगा। वे नील मेघ वर्ण श्यामल सच्चिदानन्द विग्रह परब्रह्म हैं। इसलिये अब मैं माँस और रुधिर से सने शरीर के स्नेह को छोड़ दूँगा।" इस वाक्य में भी दास्य और बीभत्स का मिश्रण है। दास्य अंगी है और बीभत्स अंगरस है।

एक अन्य वाक्य इस प्रकार है, "वह दिन कब होगा जब मैं अविद्या से मुक्त होकर शुद्ध हुआ निरन्तर कृष्णसेवा की अवस्था को प्राप्त हो सकूँगा। उनके सुन्दर मुखमण्डल और कमलनयनों को निहारता हुआ तब मैं निरन्तर उनकी सेवा करने के योग्य हो जाऊँगा।" इस वाक्य में शान्त-रस अंगी है और दास्यरस अंग है।

एक अन्य कथन है, "श्रीकृष्ण के चरणकमल का स्मरण करते हुए भावविह्वल हुए इस भगवद्भक्त के नृत्य को तो देखो। इसे देखने मात्र से

बड़ी से बड़ी सुन्दरी स्त्री में भी सारी रुचि जाती रहेगी।" इस वाक्य में शांतरस अंगी है और बीभत्सरस अंगरस है।

एक भक्त ने दृढ़तापूर्वक कहा, "प्रभो ! अब मेरा मुख इन युवतियों का संग प्राप्त होने पर युवतियों के संग के विचार से एकदम मुड़ जाता है। जहाँ तक ब्रह्मसाक्षात्कार का सम्बन्ध है, आपके चिन्तन में मग्न होने से मेरी उसमें कुछ भी रुचि नहीं रही है। इस दिव्य आनन्द में मेरे चित्त में कोई वासना भी शेष नहीं रही है। यहाँ तक कि मैं अब योगसिद्धि भी नहीं चाहता। मेरा मन तो केवल आपके चरणकमलों की आराधना की ओर आकृष्ट हो रहा है।" इस वाक्य में शान्तरस अंगी है और वीररस अंगरस है।

एक अन्य वाक्य में सुबल का इस प्रकार से सम्बोधन है, "हे सुबल ! जिन्हें मोरमुकुटधारी श्रीकृष्ण के अधरामृत के पान का अवसर मिला है वे ये व्रजांगनाऐं त्रिभुवन में परम धन्यातिधन्य हैं।" इस दृष्टान्त में सख्यरस अंगी है और माधुर्यरस अंग है।

श्रीकृष्ण गोपियों से कहते हैं, "हे ललनाओ ! इस प्रकार लालसाभरे नेत्रों से मेरी ओर न देखो। सन्तोष करके वृन्दावन में अपने-अपने घरों को लौट जाओ। तुम्हारे यहाँ खड़े रहने की कोई आवश्यकता नहीं है।" जिस समय श्रीकृष्ण गोपियों से इस प्रकार परिहास कर रहे थे, जो बड़ी उत्कंठा के साथ उनसे रासलीला का आनन्द लेने आई थीं, तो वहाँ उपस्थित सुबल श्रीकृष्ण की ओर हँसते हुए बड़ी-बड़ी आँखों से देखने लगा। सुबल की अनुभूति में सख्य और हास्यरस का मिश्रण था, यहाँ सख्य अंगी है और हास्य उसका अंग है।

निम्नलिखित उदाहरण में सख्यरस और हास्यरस क्रमशः अंगी और अंगरस हैं। जब श्रीकृष्ण ने सुबल को राधारानी की वेशभूषा में यमुना तट पर अशोक वृक्ष के नीचे चुपचाप छिपे हुए देखा तो वे एकदम आश्चर्य से अपने आसन को छोड़कर उठ बैठे। श्रीकृष्ण को देखकर सुबल ने अपने कपोलों को छुपाकर अपनी हँसी रोकने का प्रयास किया।

वत्सलरस और करुणरस के मिश्रण का भी उदाहरण है--जब यशोदा मैया को यह विचार हुआ कि उनका पुत्र वन में छाते के बिना नंगे पाँव विचर रहा होगा तो कृष्ण को कितना कष्ट हो रहा होगा, यह सोचकर अत्यन्त व्यथित हो उठीं। यह अंगी वत्सलरस और अंग करुण-रस के मिश्रण का उदाहरण है।

वत्सलरस और हास्य के मिश्रण का उदाहरण इस प्रकार है।

यशोदा मैया की एक सखी ने उनसे कहा, "हे यशोदारानी ! तुम्हारे पुत्र ने बड़ी चतुराई के साथ मेरे घर से माखन की चोरी की है। इतना ही नहीं, चोरी करके माखन का कुछ अंश इसने मेरे सोये बालक के मुख पर भी लगा दिया जिससे चोरी का दोष उस पर ही लगे।" यह सुनने पर यशोदा मैया की भौंहें कुछ तिरछी हो गईं। परन्तु फिर भी वे अपने पुत्र की ओर मुस्कराते हुए मुख से देख रही थीं। इस प्रकार की मुखमुद्रा वाली यशोदा मैया सबका कल्याण करें। इस उदाहरण में वत्सलरस अंगीरस है और हास्यरस अंगरस है।

भक्ति के अनेक रसों के मिश्रण का उदाहरण इस प्रकार है। जिस समय श्रीकृष्ण अपने बायें हाथ से गोवर्धन पर्वत को उठाये हुए थे तो उनके बाल कंधों पर सब ओर फैल गये और शरीर पर श्वेद कण प्रतीत हुए। जब यशोदा मैया ने यह देखा तो वे काँपने लगीं। जब उन्होंने चौड़ी-चौड़ी आँखों से देखा तो श्रीकृष्ण को नाना प्रकार की मुखमुद्रा अभिव्यक्त करते पाया, जिससे उनके गालों पर प्रसन्नता झलक आई और वे हँसने लगीं। तब फिर जब उन्हें यह विचार हुआ कि कृष्ण इतने दीर्घ-काल से पर्वत को अपने हाथ में उठाये हुए हैं, तो उनके वस्त्र पसीने से भीग गये। ऐसी व्रजेश्वरी यशोदा मैया अपनी असीम कृपा से सम्पूर्ण जगत की रक्षा करें। इस उदाहरण में वत्सलरस अंगी है और भयानक, अद्भुत, हास्य, करुण आदि अंगरस हैं।

मधुररस और सख्यरस का मिश्रण श्रीमती राधारानी के इस वाक्य में है, "हे सखि ! देखो युवती के समान वेशभूषा धारण किए हुए सुबल के कंधे पर कृष्ण ने अपना हाथ रखा हुआ है। प्रतीत होता है कि वे सुबल के द्वारा मेरे लिये कोई सन्देश भेजना चाहते हैं।" भाव यह है कि राधारानी के बड़े-बूढ़े नहीं चाहते कि श्रीकृष्ण अथवा उनके गोपसखा उनका संग करें। अतएव इन मित्रों को कभी-कभी राधारानी तक श्रीकृष्ण का सन्देश पहुँचाने के लिये युवती का सा वेश बनाना पड़ता है। इस उदाहरण में मधुररस अंगी है और सख्यरस अंग है।

मधुररस और हास्यरस के मिश्रण का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए युवती वेशधारी श्रीकृष्ण ने राधारानी से कहा, "हे निष्ठुरे ! क्या तू इतना भी नहीं जानती कि मैं तेरी बहन हूँ। तू मुझे पहचानती क्यों नहीं ? हे कृष्णांगी ! मेरे कन्धे को पकड़कर प्रेमपूर्वक प्रगाढ़ आलिंगन प्रदान कर।" जिस समय श्रीकृष्ण युवती के वेश में इस प्रकार सुन्दर-सुन्दर वचन बोल रहे थे, श्रीमती राधारानी उन्हें पहचान गईं; परन्तु गुरुजनों के सामने

दोनों के अतिरिक्त अन्य सब अभिव्यक्तियों को माधुर्यरस के विपरीत समझा जाता है ।

हास्यरस के भयानक, मधुर तथा वात्सल्य—ये तीनों रस मित्र हैं तथा करुण और बीभत्स ये दोनों विरोधी हैं ।

वीर और शान्त—ये दोनों अद्‌भुतरस के मित्र हैं; परन्तु रौद्र और भयानक, दोनों विरोधी हैं ।

वीररस के मित्र अद्‌भुत, हास्थ तथा दास्यरस हैं, जबकि भयानक और माधुर्य ये दोनों विरोधी हैं । कुछ विद्वानों के अनुसार शान्तरस सदा वीररस का मित्र है ।

करुणभक्तिरस के मित्र हैं रौद्र और वात्सल्य । हास्य, माधुर्य तथा अद्‌भुत विरोधी हैं ।

रौद्रभक्तिरस के साथ करुण अथवा वीररस के मिलने की मैत्री स्थिति है; जबकि हास्य, माधुर्य, अथवा भयानक वैरी हैं ।

भयानक भक्तिरस के साथ बीभत्स तथा करुणरस मित्र हैं ।

वीरभक्तिरस के साथ मधुर, हास्य और रौद्ररस का मिश्रण सदा मित्र स्थिति में होता है ।

बीभत्सभक्तिरस में शान्त, हास्य और दास्य मित्र रस हैं, जबकि सख्य और माधुर्य वैरी हैं ।

उपरोक्त विश्लेषण रसाभास के अध्ययन का सार संकलन है । रसाभास की यह दिव्य विद्या भक्ति के उन सभी रसों को पूर्ण रूप से समझा सकती है जो एक दूसरे के परस्पर मित्र और विरोधी हैं । जिस समय भगवान् चैतन्य महाप्रभु जगन्नाथपुरी में विराज रहे थे, उस समय अनेक कवि और भक्त उनके पास आकर अपने नाना प्रकार के काव्यों का समर्पण करते थे । परन्तु यह नियम था कि श्रीचैतन्यदेव के निजी सचिव स्वरूप दामोदर पहले इन सब रचनाओं का बड़ी गम्भीरता से विश्लेषण करते थे । जब वे पाते कि इनमें कोई रसाभास नहीं है, तभी श्रीचैतन्यदेव के निकट जाकर कोई अपने काव्य का पाठ कर सकता था ।

रसाभास का विषय बड़ा महत्त्वपूर्ण है । जो शुद्ध भक्त हैं वे भगवान् से नाना रसों (सम्बन्धों) के विवरण में सदा पूर्ण मैत्री देखने की आशा रखते हैं । रसों की मैत्री अथवा विरोध का अध्ययन कभी-कभी बड़ा जटिल हो जाता है । इसके कारण की ओर निम्नलिखित संकेत है । जब दो मित्र आपस में मिलते हैं तो इस मिलन से उत्पन्न रस को प्रायः अत्यन्त मित्र रस माना जाता है । परन्तु वास्तव में मित्रों के ऐसे मिलन में इतने प्रकार

के भाव मिले रहते हैं कि यह कहना बहुत कठिन है कि ये भाव कब वास्तव में मित्र स्थिति को प्राप्त हो रहे हैं और कब विरोध की स्थिति में पहुँच गये हैं।

एक दूसरे से रसों की मित्रता दिखाने के लिये विद्वानों ने किसी विशेष मिश्रण में पाए जाने वाले रसों के अंगीरस और अंगरस—इस प्रकार दो भेद किये हैं। इस विधि के अनुसार मुख्यरस को अंगीरस कहते हैं और गौणरस अंगरस कहलाता है।

अंगरस और अंगीरस का विवरण निम्नलिखित वाक्य से स्पष्ट हो जाता है, "सब जीव परब्रह्म रूपी अग्नि के स्फुलिंग जैसे हैं। अतः मुझ जीवरूप स्फुलिंग को अग्नि रूप भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य सेवा में नियुक्त होने का अवसर क्या मिलेगा।" इस वाक्य में शान्तरस अंगीरस है और भगवान् की सेवा का दास्यरस अंगरस है। वास्तव में तो ब्रह्मज्योति में भगवान् और भक्त में होने वाले प्रेमरस-विनिमय की कोई सम्भावना ही नहीं होती।

एक अन्य भक्त कहता है, "मैं त्वचा से ढके, कफ, वात, पित्त, शुक्र और शोणित के ढेररूप शरीर में नाना प्रकार से रमण कर रहा हूँ। मुझे धिक्कार है, क्योंकि इस देहात्मबुद्धि के कारण मैं भगवत्स्मरण रूप दिव्य आनन्द का आस्वादन नहीं कर सकता।" इस वाक्य में शान्त और बीभत्स—दोनों रस हैं। शान्तरस अंगीरस है, जबकि बीभत्सरस अंगरस है।

एक अन्य भक्त कहता है, "अब मैं चँवर की हवा डुलाते हुए सिंहासन पर विराजमान भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में प्रवृत्त हो सकूँगा। वे नील मेघ वर्ण श्यामल सच्चिदानन्द विग्रह परब्रह्म हैं। इसलिये अब मैं माँस और रुधिर से सने शरीर के स्नेह को छोड़ दूँगा।" इस वाक्य में भी दास्य और बीभत्स का मिश्रण है। दास्य अंगी है और बीभत्स अंगरस है।

एक अन्य वाक्य इस प्रकार है, "वह दिन कब होगा जब मैं अविद्या से मुक्त होकर शुद्ध हुआ निरन्तर कृष्णसेवा की अवस्था को प्राप्त हो सकूँगा। उनके सुन्दर मुखमण्डल और कमलनयनों को निहारता हुआ तब मैं निरन्तर उनकी सेवा करने के योग्य हो जाऊँगा।" इस वाक्य में शान्तरस अंगी है और दास्यरस अंग है।

एक अन्य कथन है, "श्रीकृष्ण के चरणकमल का स्मरण करते हुए भावविह्वल हुए इस भगवद्भक्त के नृत्य को तो देखो। इसे देखने मात्र से

बड़ी से बड़ी सुन्दरी स्त्री में भी सारी रुचि जाती रहेगी।" इस वाक्य में शांतरस अंगी है और बीभत्सरस अंगरस है।

एक भक्त ने दृढ़तापूर्वक कहा, "प्रभो! अब मेरा मुख इन युवतियों का संग प्राप्त होने पर युवतियों के संग के विचार से एकदम मुड़ जाता है। जहाँ तक ब्रह्मसाक्षात्कार का सम्बन्ध है, आपके चिन्तन में मग्न होने से मेरी उसमें कुछ भी रुचि नहीं रही है। इस दिव्य आनन्द में मेरे चित्त में कोई वासना भी शेष नहीं रही है। यहाँ तक कि मैं अब योगसिद्धि भी नहीं चाहता। मेरा मन तो केवल आपके चरणकमलों की आराधना की ओर आकृष्ट हो रहा है।" इस वाक्य में शान्तरस अंगी है और वीररस अंगरस है।

एक अन्य वाक्य में सुबल का इस प्रकार से सम्बोधन है, "हे सुबल! जिन्हें मोरमुकुटधारी श्रीकृष्ण के अधरामृत के पान का अवसर मिला है वे ये व्रजांगनाएें त्रिभुवन में परम धन्यातिधन्य हैं।" इस दृष्टान्त में सख्यरस अंगी है और माधुर्यरस अंग है।

श्रीकृष्ण गोपियों से कहते हैं, "हे ललनाओ! इस प्रकार लालसाभरे नेत्रों से मेरी ओर न देखो। सन्तोष करके वृन्दावन में अपने-अपने घरों को लौट जाओ। तुम्हारे यहाँ खड़े रहने की कोई आवश्यकता नहीं है।" जिस समय श्रीकृष्ण गोपियों से इस प्रकार परिहास कर रहे थे, जो बड़ी उत्कंठा के साथ उनसे रासलीला का आनन्द लेने आई थीं, तो वहाँ उपस्थित सुबल श्रीकृष्ण की ओर हँसते हुए बड़ी-बड़ी आँखों से देखने लगा। सुबल की अनुभूति में सख्य और हास्यरस का मिश्रण था, यहाँ सख्य अंगी है और हास्य उसका अंग है।

निम्नलिखित उदाहरण में सख्यरस और हास्यरस क्रमशः अंगी और अंगरस हैं। जब श्रीकृष्ण ने सुबल को राधारानी की वेशभूषा में यमुना तट पर अशोक वृक्ष के नीचे चुपचाप छिपे हुए देखा तो वे एकदम आश्चर्य से अपने आसन को छोड़कर उठ बैठे। श्रीकृष्ण को देखकर सुबल ने अपने कपोलों को छुपाकर अपनी हँसी रोकने का प्रयास किया।

वत्सलरस और करुणरस के मिश्रण का भी उदाहरण है--जब यशोदा मैया को यह विचार हुआ कि उनका पुत्र वन में छाते के बिना नंगे पाँव विचर रहा होगा तो कृष्ण को कितना कष्ट हो रहा होगा, यह सोचकर अत्यन्त व्यथित हो उठीं। यह अंगी वत्सलरस और अंग करुणरस के मिश्रण का उदाहरण है।

वत्सलरस और हास्य के मिश्रण का उदाहरण इस प्रकार है।

यशोदा मैया की एक सखी ने उनसे कहा, "हे यशोदारानी ! तुम्हारे पुत्र ने बड़ी चतुराई के साथ मेरे घर से माखन की चोरी की है। इतना ही नहीं, चोरी करके माखन का कुछ अंश इसने मेरे सोये बालक के मुख पर भी लगा दिया जिससे चोरी का दोष उस पर ही लगे।" यह सुनने पर यशोदा मैया की भौंहें कुछ तिरछी हो गईं। परन्तु फिर भी वे अपने पुत्र की ओर मुस्कराते हुए मुख से देख रही थीं। इस प्रकार की मुखमुद्रा वाली यशोदा मैया सबका कल्याण करें। इस उदाहरण में वत्सलरस अंगीरस है और हास्यरस अंगरस है।

भक्ति के अनेक रसों के मिश्रण का उदाहरण इस प्रकार है। जिस समय श्रीकृष्ण अपने बायें हाथ से गोवर्धन पर्वत को उठाये हुए थे तो उनके बाल कंधों पर सब ओर फैल गये और शरीर पर श्वेद कण प्रतीत हुए। जब यशोदा मैया ने यह देखा तो वे काँपने लगीं। जब उन्होंने चौड़ी-चौड़ी आँखों से देखा तो श्रीकृष्ण को नाना प्रकार की मुखमुद्रा अभिव्यक्त करते पाया, जिससे उनके गालों पर प्रसन्नता झलक आई और वे हँसने लगीं। तब फिर जब उन्हें यह विचार हुआ कि कृष्ण इतने दीर्घ-काल से पर्वत को अपने हाथ में उठाये हुए हैं, तो उनके वस्त्र पसीने से भीग गये। ऐसी व्रजेश्वरी यशोदा मैया अपनी असीम कृपा से सम्पूर्ण जगत की रक्षा करें। इस उदाहरण में वत्सलरस अंगी है और भयानक, अद्‌भुत, हास्य, करुण आदि अंगरस हैं।

मधुररस और सख्यरस का मिश्रण श्रीमती राधारानी के इस वाक्य में है, "हे सखि ! देखो युवती के समान वेशभूषा धारण किए हुए सुबल के कंधे पर कृष्ण ने अपना हाथ रखा हुआ है। प्रतीत होता है कि वे सुबल के द्वारा मेरे लिये कोई सन्देश भेजना चाहते हैं।" भाव यह है कि राधारानी के बड़े-बूढ़े नहीं चाहते कि श्रीकृष्ण अथवा उनके गोपसखा उनका संग करें। अतएव इन मित्रों को कभी-कभी राधारानी तक श्रीकृष्ण का सन्देश पहुँचाने के लिये युवती का सा वेश बनाना पड़ता है। इस उदाहरण में मधुररस अंगी है और सख्यरस अंग है।

मधुररस और हास्यरस के मिश्रण का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए युवती वेशधारी श्रीकृष्ण ने राधारानी से कहा, "हे निष्ठुरे ! क्या तू इतना भी नहीं जानती कि मैं तेरी बहन हूँ। तू मुझे पहचानती क्यों नहीं ? हे कृष्णांगी ! मेरे कन्धे को पकड़कर प्रेमपूर्वक प्रगाढ़ आलिंगन प्रदान कर।" जिस समय श्रीकृष्ण युवती के वेश में इस प्रकार सुन्दर-सुन्दर वचन बोल रहे थे, श्रीमती राधारानी उन्हें पहचान गईं; परन्तु गुरुजनों के सामने

वे कुछ न कह सकीं, केवल मुस्कराने लगीं। इसमें माधुर्यरस को अंगीरस और हास्यरस अंगरस समझा जायगा।

अनेक रसों के मिश्रण का दृष्टान्त इस प्रकार है। जब श्रीकृष्ण की एक मित्र सहचरी ने देखा कि श्रीकृष्ण वृषभासुर से लडने को कमर कस रहे हैं तो वह सोचने लगी कि श्रीकृष्ण कैसे अद्भुत हैं, उनका मुख हँसती हुई चन्द्रवली की भौंहों पर मुग्ध है। उन्होंने अपने सर्प जैसे भुज-दण्ड को अपने सखा के कन्धे पर नियत कर रखा है और साथ ही युद्ध के लिए वृषभासुर को ललकारने के लिये वे सिंहनाद कर रहे हैं।" इस उदाहरण में मधुररस, सख्यरस और वीररस हैं। यहाँ मधुररस अंगी हैं और अन्य दोनों अंगरस हैं।

जब कुब्जा ने श्रीकृष्ण के पीताम्बर को पकड़ लिया तो श्रीकृष्ण ने हँसते हुए लोगों के सामने ही अपने चमकते कपोलों वाले मुख को नीचे झुका लिया। यह मधुररस और हास्यरस के मिश्रण का उदाहरण है। यहाँ हास्यरस अंगी है और मधुररस अंग है।

भद्रसेन से लड़ने के लिये कटिबद्ध होते विशाल नामक ग्वाले को किसी दूसरे ने कहा, "हे विशाल ! तुम मेरे सामने अपनी वीरता क्यों प्रकट करना चाहते हो। सैकडों श्रीदामा और बलरामों को भी मैं कुछ नहीं गिनता। फिर तुम कौन हो ?" यह सख्यभक्तिरस और वीररस का मिश्रण है। यहाँ वीररस अंगी है और सख्य अंगरस है।

शिशुपाल का श्रीकृष्ण को अपशब्द कहने का स्वभाव सा था। परन्तु अपने अपमानजनक शब्दों से उसने श्रीकृष्ण की अपेक्षा पाण्डवों को ही अधिक उत्तेजित किया। अतएव पाण्डवों ने शिशुपाल-वध के लिये शस्त्र-अस्त्र धारण कर लिये। उस समय उनके भावों में रौद्र और सख्यरस का मिश्रण था। रौद्र अंगीरस था और सख्यरस अंगरस था।

एक बार श्रीकृष्ण ने देखा कि श्रीदामा अपनी लाठी को बड़ी कुशलता के साथ चलाता हुआ बलरामजी से लड़ रहा है, जो गदायुद्ध में बड़े दक्ष थे और अपनी गदा से जिन्होंने सुर जैसे असुरों तक को मार डाला था। अन्त में जब बलरामजी को केवल एक लाठी से लड़ रहे श्रीदामा ने हरा दिया तो श्रीकृष्ण बडे आनन्दित हुए और श्रीदामा की ओर महान् आश्चर्य से देखने लगे। इस उदाहरण में अद्भुत, सख्य तथा वीररस का मिश्रण है। सख्य तथा वीररस अंग हैं और अद्भुत अंगीरस समझा जाता है।

इन नाना प्रकार के रसों के कुशल विश्लेषणकर्ता निर्देश करते हैं

कि जब कोई रसाभास होता है तो जो रस अंगी, अर्थात् प्रधान हो ता है उसी को संचारी अथवा स्थायी समझा जाता है। 'विष्णुधर्मोत्तर' में प्रमाण है कि जब भक्ति के बहुत से रसों का आपस में मिलना हो तो मुख्यरस अथवा अंगीरस को ही भक्ति का स्थायिभाव कहते हैं। गौणरस का प्रकाश कुछ समय के लिये होता है, परन्तु अन्त में यह मुख्य रस में लीन हो जाता है। ये भक्तिरस के व्यभिचारिभाव माने जाते हैं।

इस सन्दर्भ में एक बड़ी सुन्दर उपमा दी गई है, जिससे अंगी और अंग का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। भगवान् वामन देव वास्तव में आदिपुरुष हैं; परन्तु वे इन्द्र के एक भाई के रूप में 'जन्मे'। यद्यपि वामन देव को कभी-कभी उप-देवता समझ लिया जाता है; परन्तु उनकी यथार्थ स्थिति यह है कि वे सम्पूर्ण देववृन्द के परम स्रोत हैं, देवाधिदेव इन्द्र के भी भर्ता हैं। इसी प्रकार कोई मुख्यरस भी कभी-कभी गौण रूप में प्रकट होता है।

किसी कार्य में प्रमुख रूप से व्यक्त होने पर भी व्यभिचारिभाव को अंगरस ही माना जाता है। जब उसकी बहुत अधिक प्रधानता नहीं रहती तब वह अल्प रूप में ही प्रकट होता है और शीघ्र अंगीरस में फिर से लीन हो जाता है। किसी अल्प अभिव्यक्ति के अवसर पर उसे कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। जैसे कोई व्यंजन खाते हुए किसी के मुख में एक तिनका चला जाये तो वह उसका स्वाद नहीं लेगा और न ही उसके स्वाद को जानने का प्रयत्न करेगा।

अध्याय ५०

रसों की मैत्री-वैर स्थिति (२)

जैसा कहा जा चुका है, विरोधी रसों के मिश्रण को रसाभास कहते हैं। जैसे जब कोई मीठे चावल खा रहा हो तो उसमें नमकीन एवं कड़वे पदार्थों का मिश्रण विरोधी समझा जायगा।

रसाभास का एक उत्तम उदाहरण किसी शोक में डूबे हुए निर्विशेषवादी के इस वाक्य में है, "हाय! निर्विशेष ब्रह्मज्ञान में आसक्त होने के कारण मैंने अपने दिन व्यर्थ समाधि के अभ्यास में व्यतीत किये हैं। मैंने निर्विशेष ब्रह्म के स्रोत और अखिलरसामृतमूर्ति भगवान् श्रीकृष्ण की ओर कभी ध्यान नहीं दिया।"

इस वाक्य में शान्तरस और मधुररस, दोनों के मिश्रण से रसाभास है। कभी बृन्दावन जैसे स्थानों पर देखने में आता है कि श्रीकृष्ण के लिये किंचित् शान्तरस वाला व्यक्ति तुरन्त कृत्रिम रूप से मधुररस के स्तर पर पहुँच जाना चाहता है। परन्तु शान्तरस और मधुररस के परस्पर विरोध के कारण वह भक्ति से पतित हो जाता है, भक्ति से गिर जाता है।

शान्तरस के स्तर पर एक महान् भक्त की इस व्यंग्योक्ति में भिन्न-भिन्न रसों का मिश्रण है, "जो पितृलोक के निवासियों से करोड़ों गुणा अधिक वत्सल हैं और जो निरन्तर देवताओं और ऋषियों द्वारा आह्लादित हैं, उन भगवान् श्रीकृष्ण को क्षणभर के लिये देखने को भी मैं आतुर हूँ। परन्तु बड़ा आश्चर्य है कि श्री के पति होने पर भी श्रीकृष्ण के शरीर पर साधारण युवतियों के नखक्षत रहते हैं।" यह रसाभास शान्तरस और उच्च मधुरस के मिश्रण का उदाहरण है।

एक गोपी कहने लगी, "हे कृष्ण! सबसे पहले अपनी लम्बी-लम्बी भुजाओं से मेरा आलिंगन करो। हे सखे! मेरा सिर सूंघो और तब मैं तुम्हारे साथ रसास्वादन करूँगी।" रसों के इस विरोधी मिश्रण (रसाभास) में मधुर अंगीरस है और दास्य अंगरस है।

एक भक्त बोला, "हे कृष्ण! तुम्हें महान् वेदान्ती परम सत्य और

नारदपंचरात्र के अनुगामी वैष्णव भगवान् कहते हैं। फिर ऐसे में मैं तुम्हें अपना पुत्र कैसे कहूँ ? तुम वही परम पुरुष हो फिर मेरी जिह्वा को तुम्हें अपना सामान्य पुत्र कहने का साहस क्यों कर हो ?" इस वाक्य में शान्त और वत्सलरस का मिश्रण है, इसलिए यह रसाभास है।

एक अन्य भक्त कहने लगा, "हे मित्र ! आकाश में विद्युत् के विलास के समान ही मेरे नवयौवन की सम्पदा चपल है। अतएव मेरे रूप का कोई महत्त्व नहीं। मेरा आजतक श्रीकृष्ण से मिलन नहीं हुआ। अतएव कृपया तुरन्त ऐसी व्यवस्था करो कि मैं उनसे मिल सकूँ।" इस रसाभास में शान्तरस और मधुररस मिश्रित हैं।

कैलास स्थित एक कामिनी ने एक बार श्रीकृष्ण से कहा, "हे कृष्ण ! तुम चिरंजीवी हो।" इस प्रकार कहकर उसने श्रीकृष्ण का प्रगाढ़ आलिंगन किया। वह वत्सल और मधुररस के मिश्रण के रसाभास का दृष्टान्त है।

उपरोक्त विवरण का उद्देश्य यह दिखाना है कि यदि श्रीकृष्ण और उनके भक्तों में होने वाले प्रेमविनिमय का परिणाम शुद्ध नहीं होगा तो रसाभास हो जायगा। रूप गोस्वामी जैसे अग्रगण्य भक्तों के मत में भावों में विरोध होते ही रसाभास हो जाता है।

एक सामान्य भक्त युवती श्रीकृष्ण का सम्बोधन करते हुए कहती है, "हे श्यामांग ! यह सत्य है कि माँस और शोणितमयी मैं तेरे रमण के योग्य नहीं हूँ। फिर भी अपने कटाक्षों से भेदी हुई मुझको कृपया स्वीकार कर ले।" इस वाक्य में बीभत्स और मधुररस के मिश्रण से रसाभास बन पड़ा है।

श्रील रूपगोस्वामी की भक्तों को चेतावनी है कि वे अपनी रचनाओं अथवा व्यवहार में इस प्रकार के रसाभास न करें। विरोधी भावों का होना ही रसाभास कहलाता है। 'कृष्णभावनामृत' के जिस ग्रन्थ में रसाभास हो, विद्वान् अथवा भक्त उसे स्वीकार नहीं करते।

'विदग्धमाधव' (२.१७) में पौर्णमासी नान्दीमुखी से कहती है, "देखो, कैसा आश्चर्य है ! मुनिजन सब पाप-संताप की शान्ति के लिए विषयों से मन को हटाकर जिसमें क्षणभर को लगाने का भी प्रयास करते हैं यह बाला (राधा) उसी श्रीकृष्ण से अपने मन को हटाकर विषयों में लगाना चाहती है। बड़े-बड़े मुनिजन तुच्छ तप-त्याग के द्वारा हृदय में जिसकी लवमात्र स्फूर्ति के लिये उत्कंठित रहते हैं, उसी कृष्ण के स्मरण को यह मुग्धा अपने हृदय से निकालना चाहती है।" यद्यपि इस वाक्य में विरोधी रसों का संचार है; परन्तु परिणाम में कोई विरोध नहीं हैं, क्योंकि इसमें

माधुर्य का ऐसा उत्कर्ष है कि वह अन्य सभी रसों को परास्त कर देता है। श्रील रूपगोस्वामी ने इस सन्दर्भ में टिप्पणी की है कि ऐसा प्रेममय भाव सबके लिये सम्भव नहीं है। यह तो केवल वृन्दावन की गोपियों में ही पाया जाता है। इसी प्रकार के विरोधी रसों के अन्य अनेक उदाहरण हैं, जहाँ कोई रसाभास नहीं बनता।

स्वर्ग में कोई उपदेवता कहने लगा, "जिनके व्यंग्य वचन कभी व्रजवासियों के लिये हास्य के स्रोत थे वे ही श्रीकृष्ण आज कालिय नाग के फनों में फँस कर सबके अतिशय शोक के पात्र बन गये हैं।" इस उदाहरण में हास्य और करुणरस का मिश्रण है। परन्तु कोई विरोध नहीं है, क्योंकि इन दोनों ही रसों से श्रीकृष्ण के लिये दिव्य प्रीति का वर्धन हुआ है।

श्रीमती राधारानी से एक बार किसी ने कहा कि यद्यपि उन्होंने सब क्रियाएँ रोक दी हैं, परन्तु फिर भी वे सब प्रकार की भक्ति के लिये प्रेरणा की परम स्रोत हैं। वह वाक्य इस प्रकार है, "हे राधिके! श्रीकृष्ण के विरह में तुम अब ठीक उसी वृक्ष के समान सुन्दर लग रही हो जिसकी शोभा पत्तों के आवरण से ढकी हुई न हो। तुम्हारे शान्तभाव से लगता है मानो तुम ब्रह्मसाक्षात्कार में पूर्ण रूप से लीन हो चुकी हो।" इस उदाहरण में मधुररस और शान्तरस का मिश्रण है। परन्तु मधुरता का सब प्रकार से उत्कर्ष है। ब्रह्मसाक्षात्कार वास्तव में एक रुद्ध अस्तित्व है। कृष्ण स्वयं कहते हैं, "श्रीमती राधारानी मेरे लिये मूर्तिमती शान्ति बन गई हैं। उनके कारण मैं अब अपलक रहता हूँ—उनकी ओर देखता हुआ निरन्तर ध्यानमग्न रहता हूँ। उनके कारण मैंने अपना घर भी पर्वत की कन्दरा में बना लिया है।" यह मधुर और शान्तरस के मिश्रण का उदाहरण है; परन्तु इनमें कोई अन्तर्विरोध नहीं है।

"हे रम्भे तुम कौन हो? मूर्तिमती शान्ति हूँ। फिर इस आकाश में क्या कर रही हो? परब्रह्म का साक्षात्कार। तुमने नेत्रों को क्यों फैला रखा है? परतत्त्व श्रीकृष्ण की अपूर्व रूपमाधुरी के दर्शन के लिये। ऐसे में तुम व्याकुल क्यों लग रही हो? क्योंकि कामदेव क्रियाशील है।" इस उदाहरण में विरोधी रसों के रहते भी कहीं भी रसाभास नहीं है, क्योंकि मधुररस ने शान्तरस को अभिभूत कर दिया है।

श्रीमद्‌भागवत् (१०.६०.४५) में रुक्मिणीदेवी कहती हैं, "हे पतिदेव! जो आपके चरणकमलों के मकरन्द को न सूंघती हो वह मूढ़ स्त्री ही त्वचा, लोम, नख, एवं केशों से ढके माँस, अस्थि, रक्त, कृमि, विष्टा, कफ, वात

और पित्त से परिपूर्ण जीवित शव को कान्ताभाव से भजती है।" इस वाक्य में उन तत्त्वों का वर्णन है जिनसे प्राकृत शरीर बना है। परन्तु इसमें कोई रसाभास नहीं है क्योंकि इससे जड़ और चेतन का यथार्थ विवेक प्रकट होता है।

विदग्धमाधव (२.३१) में श्रीकृष्ण अपने सखा से कहते हैं, "हे सखे! कैसा आश्चर्य है कि जबसे मैंने राधारानी के सुन्दर नयनकमलों को देखा है तब से चन्द्रमा और कमल को देखकर उद्वमन करने लगा हूँ।" यह बीभत्स मिश्रित मधुररस का वर्णन है; परन्तु यहाँ कोई रसाभास नहीं है।

निम्नलिखित वाक्य में नाना प्रकार के भक्तिरसों का उल्लेख है—"रंगभूमि में युद्ध की सज्जा से विभूषित अजित श्रीकृष्ण को विजयी देख कर उनके सखा ग्वालों के शरीर रोमांच को और शत्रुओं के शरीर कालिमा को प्राप्त हो गये।" इस वाक्य में यद्यपि वीररस और भयानकरस का मिश्रण है; परन्तु कोई रसाभास प्रतीत नहीं होता।

एक मथुरानिवासिनी ने अपने पिता से द्वार खोलकर उसके साथ सांदीपनी मुनि के यहाँ श्रीकृष्ण को खोजने जाने का निवेदन किया। उसका उपालम्भ था कि श्रीकृष्ण ने उसके चित्त को हर लिया है। इस घटना में मधुर और वत्सलरस का मिश्रण होते हुए भी रसाभास नहीं है।

एक ब्रह्मानन्दी का उद्‌गार इस प्रकार है, "उन परब्रह्म सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण को मैं कब देख सकूँगा जिनका वक्षःस्थल रुक्मिणी के स्तनों का स्पर्श करने से उस पर लगे लाल कुंकुम से उपलिप्त हो गया है।" इस भाव में मधुर और शान्तरस का मिश्रण है। यद्यपि ये दोनों विरोधी रस हैं, परन्तु यहाँ कोई रसाभास नहीं है, क्योंकि एक ब्रह्मानन्दी भी श्रीकृष्ण की ओर आकृष्ट हो सकता है।

नन्द महाराज ने अपनी गृहिणी से कहा, "हे प्रिये! तुम्हारा मल्लिका के समान कोमल और मृदु पुत्र कृष्ण आज पर्वत जैसे बलिष्ठ केशी दानव को मारने गया है। अतएव मुझे चिन्ता हो रही है। परन्तु भय की कोई बात नहीं, तुम्हारे पुत्र का सब प्रकार से कल्याण हो। अपने स्तम्भ जैसे भुजदण्ड को उठाकर केशी दानव को मारकर सारे व्रजमण्डल के निवासियों को चिन्ता से मुक्त कर देगा।" इस वाक्य में वीररस और भयानकरस दोनों हैं। परन्तु दोनों से वत्सलरस बढ़ता है। अतएव दोनों में विरोध नहीं है।

'ललितमाधव' में श्रील रूपगोस्वामी का उल्लेख है, "कंस की रंग-भूमि में श्रीकृष्ण को आया देखकर कंस के आचार्य का मुख विकार को, मल्ल लालिमा को, मित्र गण्डस्थल की उन्नति को, दुष्ट लोग प्रलय को, ऋषि ध्यान को, देवकी मताएँ आदि गरम-गरम आँसुओं को, योद्धा रोमांच को, इन्द्र आदि देवता विस्मय को, दास लास्य को और वनितामण्डली कटाक्ष को प्राप्त हुई।" इस वाक्य में नाना प्रकार के रसों के मिश्रण का वर्णन है; परन्तु रसाभास नहीं है।

इसी प्रकार का एक वाक्य जिसमें रसाभास नहीं है, 'ललितमाधव' में पाया जाता है। ग्रन्थकार सब पाठकों को आशीर्वचन देते हुए कहते हैं, "यद्यपि श्रीभगवान् अपने बाँयें हाथ की एक उँगली पर पर्वत को उठा सकते हैं; फिर भी वे सदा दीन और विनम्र बने रहते हैं। अपने प्रिय भक्तों पर उनकी कृपा निरन्तर रहती है। इन्द्रयज्ञ को बन्द कराकर उन्होंने इन्द्र के द्वेष को परास्त कर दिया। वे सब युवतियों के लिये सम्पूर्ण आनन्द का विधान करने वाले हैं। वे विभो तुम्हारी सदा रक्षा करें!"

अध्याय ५१

रसाभास

रसाभास अर्थात् विरोधी रसों के मिश्रण तीन प्रकार के होते हैं—उपरस, अनुरस तथा अपरस ।

श्रीकृष्ण का साक्षात्कार करके एक निर्विशेषवादी कह उठा, "जब कोई संसार के सम्पूर्ण दोषों से मुक्त हो जाता है तो समाधि में दिव्यानन्द की अनुभूति होती है । परन्तु हे आदिदेव ! हे आदिपुरुष ! आपके दर्शन से मुझे उसी सुख की प्राप्ति हो रही है ।" इस रसाभास का नाम शान्त उपरस है, क्योंकि यह निर्विशेषवाद और सविशेषवाद के मिश्रण से हुआ है ।

एक अन्य वाक्य इस प्रकार है, "जहाँ भी मेरी दृष्टि जाती है वहीं-वहीं आपका स्वरूप देखता हूँ । अतएव मैं जान गया हूँ कि आप निर्विकार ब्रह्मज्योति और सब कारणों के परम कारण हैं । इस प्रकट सृष्टि में आपके बिना और कुछ भी नहीं है ।" यह उपरस का द्वितीय उदाहरण है ।

जिस समय श्रीकृष्ण का अन्तरंग सखा मधुमंगल व्यंग्य मुद्रा में उनके सामने नाच रहा था तो उसकी ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया और वह परिहास में कहने लगा, "हे नाथ ! मैं आपसे कृपा की याचना करता हूँ ।" यह सख्यप्रीति और शान्तरस के उपरस का दृष्टान्त है ।

कंस अपनी बहन देवकी से बोला, "हे बहन ! जबसे मैंने तेरे पुत्र कृष्ण को देखा है तब से मुझे लगता है कि वह पर्वतों के समान बलशाली मल्लों को भी मार सकता है । अतएव अब मैं निश्चिन्त हो गया हूँ कि बड़े भयंकर युद्ध से भी उसको कोई भय नहीं हो सकता ।" यह वत्सल उपरस का उदाहरण है ।

'ललितमाधव' में श्रील रूपगोस्वामी ने कहा है, "याज्ञिक ब्राह्मणों की सब स्त्रियाँ युवती थीं । वे श्रीकृष्ण की ओर वृन्दावन की गोपियों के समान ही आकृष्ट हो गईं । इस आकर्षणवश उन्होंने श्रीकृष्ण को भोजन कराया ।" यहाँ दो भक्तिरस हैं—मधुर और वत्सल और इनका प्ररिणाम है शृंगार उपरस ।

श्रीमती राधारानी की एक सखी उनसे कहने लगी, "हे गान्धारविके! तू हमारे ग्राम की सबसे साध्वी युवती थी; परन्तु अब पूर्ण रूप से साध्वी नहीं रही। ऐसा कृष्ण को देखने और उसकी वंशी ध्वनि को सुनने से तुझ पर कामदेव के प्रभाव का ही परिणाम है।" यह एक के अनेकों में रति से होने वाले उपरस का दृष्टान्त है।

कतिपय विद्वानों के मतानुसार नायक-नायिका के भाव नाना प्रकार के रसाभासों को उत्पन्न करते हैं।

"श्रीकृष्ण की दृष्टि पड़ने से गोपियाँ पवित्र हो गई हैं। ऐसी अवस्था में उनके शरीर पर कन्दर्प का प्रभाव स्पष्ट दीख रहा है।" यद्यपि लौकिक दृष्टि से किसी युवक का किसी युवतो को देखना दूषित समझा जाता है; परन्तु जब श्रीकृष्ण गोपियों पर अपनी दिव्य दृष्टि डालते तो वे पवित्र हो जातीं। भाव यह है कि श्रीकृष्ण परतत्त्व हैं और उनका प्रत्येक कार्य दिव्य और परम शुद्ध है।

यमुनाजल में जिस समय श्रीकृष्ण कालिय नाग का शासन करने के लिये उसके सिरों पर नाच रहे थे तो कालिय की स्त्रियों ने श्रीकृष्ण से कहा, "अपनी मुरली ध्वनि से तुम क्यों हम नागकिशोरियों के चित्त का मन्थन कर रहे हो।" कालिय की पत्नियाँ श्रीकृष्ण से ग्राम्यवार्ता कर रही थीं जिससे वे उनके पति को छोड़ दें। अतएव यह भी उपरस का लक्षण है।

एक भक्त बोला, "हे गोविन्द! यह रमणीय कैलास कुज है। मैं सुन्दर रमणी हूँ और हे माधव! तुम विदग्ध हो। फिर इससे आगे और क्या कहना है, यह तुम ही सोचो।" यह मधुररस में धृष्टताजनित उपरस का उदाहरण है।

वृन्दावन से गुजरते हुए नारद मुनि ने भाण्डीर वन में एक वृक्ष के ऊपर उस तोते-तोती के जोड़े को देखा जो निरन्तर श्रीकृष्ण के साथ रहता था। वे दोनों वेदान्त दर्शन पर सुनी किसी वार्ता का अनुकरण करते हुए नाना प्रकार से वितण्डा कर रहे थे। यह देखकर नारद को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे अपलक दृष्टि से देखने लगे। यह अनुरस का उदाहरण है।

श्रीकृष्ण को युद्धभूमि से भागता देखकर दूर खड़ा चंचल नयनों वाला जरासन्ध बड़े गर्व का अनुभव कर रहा था। इस प्रकार विजय के अभिमानवश जोर-जोर से हँसने लगा। यह अपरस का उदाहरण है।

श्रीकृष्ण से सम्बन्धित सम्पूर्ण भाव, भावाभास तथा रसाभास रस ही माने गये हैं। सारे कुशल भक्तों के मत में जो कुछ भी श्रीकृष्ण के प्रेम को उद्दीप्त करे वह दिव्यरस है।

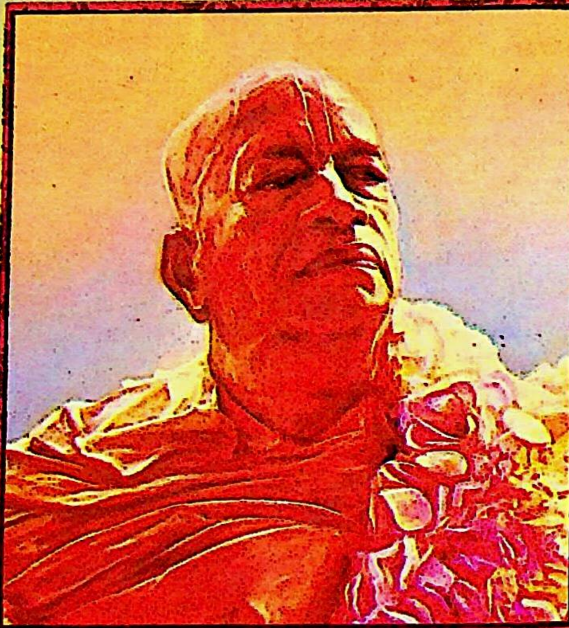
विज्ञप्ति

श्रील रूपगोस्वामी अपने ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि 'भक्तिरसामृतसिन्धु' साधारण मनुष्यों के लिये समझने को अति दुरूह है। परन्तु उनकी अभिकांक्षा है कि सनातनस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण उनकी इस रचना से सन्तुष्ट हों।

श्रील रूपगोस्वामी ने 'श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु' को गोकुल वृन्दावन में अनुमानतः १५५२ में समाप्त किया। संसार में अवस्थिति के काल में श्रील रूपगोस्वामी वृन्दावन के नाना भागों में रहा करते थे और उनका मुख्यालय वृन्दावन धाम के राधादामोदर मन्दिर में था। श्रील रूपगोस्वामी की भजनस्थली आज भी विद्यमान है। राधादामोदर में दो अलग-अलग स्तूप हैं। उनमें से एक को उनकी भजनकुटि कहा जाता है और दूसरी में उनकी समाधि है। इस समाधि के ठीक पीछे मेरी अपनी भजनस्थली है। परन्तु १९६५ से मैं वहाँ नहीं हूँ। अब मेरे शिष्य उस स्थान की देखभाल कर रहे हैं। श्रीकृष्ण की इच्छा से अब मैं अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ के लॉस एंजिल्स मन्दिर में निवास कर रहा हूँ। यह तात्पर्यप्रकाश आज ३० जून, १९६९ को समाप्त हुआ।

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ गौणभक्तिरसादिनिरूपणनामा उत्तर विभागः॥
इति भक्तिवेदान्त भाष्ये उत्तर विभागः॥४॥

॥इति श्रीभक्तिरसामृत सिन्धुः॥



कृष्णकृपाश्रीमूर्ति

श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

संस्थापकाचार्य अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ